



## समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

प्रस्तुत घोष प्रबन्ध में विद्वत् समीक्षा शास्त्र का ऐदाम्बिक इतिहास तथा विविध देशों की प्रमुख भाषाओं तथा परम्पराओं विद्यप रूप से संस्कृत, हिन्दी, यूनानी, रोमीय, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी, जर्मन, रूसी, तथा अमरीकी आदि का वैज्ञानिक एवं पक्षेपणापूर्ण अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्रमुख समीक्षारथक परम्पराओं, विचार प्रणालियों तथा चिंतन आदर्शों का विनाशरथक इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही साथ इसमें पीररथ्य और पारंपरथ्य वैचारिक दृष्टियों का तुलनारथक अध्ययन तथा सम्यक मूल्यांकन भी उपस्थित किया गया है जिसके कारण यह प्रबन्ध हिन्दी घोष के इतिहास की गौरवशालिनी परम्परा में एक ऐतिहासिक उपसथि विन्दु के रूप में मान्य होपा।

डॉ० प्रतापनारायण टंडन—अध्यक्ष : सखनऊ, प्रिन्सा पी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए (स्नेहम) सखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा, मध्यमा विद्यारय तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् १९५८ में सखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास शीर्षक प्रबन्ध पत्र पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। सखनऊ विश्व विद्यालय से ही १९६३ में समीक्षा के मात और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रशंसित शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रबन्ध पर सखनऊ विश्व विद्यालय द्वारा सन् १९६३ का बोधर्मी रिसर्च ग्राइड भी प्रकाश किया गया। प्रकाशित कृतियाँ : आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) सन् १९२६ (प्रकाशक—विद्यामंदिर, सखनऊ) हिन्दी उपन्यास में बर्ष साजना प्रेमसन्ध पुत्र (सोच-रचना) सन् १९३६ (प्रकाशक—हिन्दी विभाग सखनऊ विश्वविद्यालय) कँडिडे (अनुवाद) सन् १९५६ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली), रीता की बात (उपन्यास) सन् १९३७ (प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन सखनऊ) हिन्दी साहित्य : पिछला बराक (आलोचना) सन् १९३७ (प्रकाशक हिन्दी साहित्य मंडार, सखनऊ) हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (सोच-प्रबन्ध) सन् १९३९, (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मंडार, सखनऊ) अग्नी बुद्धि (उपन्यास) सन् १९६० (प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) ब्रह्मते इरावे (कहानी-संग्रह) सन् १९६० (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मंडार, सखनऊ), हिन्दी उपन्यास का चर्चमय और विकास (संक्षिप्त प्रबन्ध) सन् १९६० (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मंडार, सखनऊ) रीता (पाकेट-संस्करण) सन् १९६२ (हिंद पाकेट बुक्स नई दिल्ली) स्वर्ग यात्रा (नाटक) सन् १९६२ (प्रकाशक—भारती साहित्य मंदिर दिल्ली) अहमे पत्नी की बूँदें (उपन्यास) सन् १९६४ (प्रकाशक—विशेष प्रकाशन सखनऊ) सुगम की प्रति (कहानी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विशेष प्रकाशन सखनऊ) मनाब कनठोमा (एक शी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विशेष प्रकाशन सखनऊ) तथा हिन्दी उपन्यास कला सन् १९६३ (प्रकाशक—हिन्दी समिति, उ प्र यामन सखनऊ) आदि। उपर्युक्त में से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास तथा अग्नी बुद्धि नामक रचनाएँ उत्तर प्रदेशीय सासन द्वारा पुरस्कृत की गयीं। संपादन कार्य सखनऊ से प्रकाशित नई कहानी संकलन (१९३६) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९३३ से १९३९ तक पुत्र सेजता (सखनऊ) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक बर्ष से अधिक कहानियाँ बार्ताएँ तथा नाटक आदि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९६४ में इबती (योरप) की यात्रा की तथा रोम पिस्टोइया पीता तथा फ्लोरेंस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। सम्पादन जनवरी-अक्टूबर १९३९ में राजकीय रजा डिडी कासेज, रामपुर में हिन्दी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९३९ से सखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

# समीक्षा के मान और हिन्दो समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[सत्यनन्द विश्वविद्यालय की डी० लिट० (हिंदी) की जपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

द्वितीय खंड

लेखक

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

डी० ए० (बॉलस) एम० ए०, पी०एच० डी०, डी० लिट्

प्राध्यापक हिन्दो विभाग

सत्यनन्द विश्वविद्यालय सत्यनन्द



विवेक प्रकाशन

डॉ० प्रतापनारायण टंडन—अध्यक्ष : सदनः, शिक्षा बी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए० (स्पेशल) सदनः विश्वविद्यालय में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा, मध्यमा विद्यारण्य तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ चर्चित की। सन् १९४८ में सदनः विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास शीर्षक प्रबन्ध पर पी०-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। सदनः विश्व विद्यालय से ही १९६६ में समीक्षा के मात और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ शीर्षक प्रबन्ध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रबन्ध पर सदनः विश्व विद्यालय द्वारा सन् १९६६ का बोर्डों रिजर्ब प्राइज भी प्रदान किया गया। प्रकाशित कृतियाँ : आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) सन् १९३६ (प्रकाशक—विद्यार्थि, सदनः) हिन्दी उपन्यास में वर्ष भान्सा प्रेमचन्द युग (सोच रचना) सन् १९३६ (प्रकाशक—हिन्दी विभाग सदनः विश्वविद्यालय), कैडिडे (अनुवाद) सन् १९३९ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन दिल्ली), रीता की बात (उपन्यास) सन् १९३७ (प्रकाशक—प्रम प्रकाशन सदनः) हिन्दी साहित्य : पिछला बहाक (आलोचना) सन् १९३७ (प्रकाशक हिन्दी साहित्य मञ्चार, सदनः) हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (सोच-प्रबन्ध) सन् १९३९, (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मञ्चार, सदनः), अग्नी बृष्टि (उपन्यास) सन् १९६० (प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली) बदलते इलाके (कहानी-संग्रह) सन् १९६० (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मञ्चार, सदनः) हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास (संक्षिप्त प्रबन्ध) सन् १९६० (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मञ्चार, सदनः) रीता (पाकेट-संस्करण) सन् १९६२ (हिन्दी पाकेट बुक्स नई दिल्ली) स्वर्ण यात्रा (नाटक) सन् १९६२ (प्रकाशक—माछी साहित्य मन्दिर दिल्ली) बपहूने प की की बूँदें (उपन्यास) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन सदनः) छूम की प्रति (कहानी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन सदनः) सवाब कनकोरा (एकांकी-संग्रह) सन् १९६४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन सदनः) तथा हिन्दी उपन्यास कला सन् १९६२ (प्रकाशक—हिन्दी समिति उ प्र सागत सदनः) आदि। उपर्युक्त में से हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास तथा अग्नी बृष्टि नामक रचनाएँ उत्तर प्रदेशीय साहित्य द्वारा पुरस्कृत की गयीं। संपादन कार्य सदनः से प्रकाशित नई कहानी संकलन (१९३९) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९६३ से १९२९ तक युग जे०ना (सदनः) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक दर्जन से अधिक कहानियाँ बाँटीएँ तथा नाटक भावि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९६४ में इटली (रोम) की यात्रा की तथा रोम विस्टोइया, कीछा तथा क्लोरेस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। सम्पादन सनवरी-अक्टूबर १९६९ में राजकीय राजा द्विपी कामेज, रामपुर में हिन्दी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९३९ से सदनः विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

# समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[सत्यनन्द विश्वविद्यालय की डी० सिद्० (हिन्दी) की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

द्वितीय खण्ड

लेखक

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

बी० ए० (बॉनर्स) एन० ए०, पी-एच० डी० डी० सिद्०

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग

सत्यनन्द विश्वविद्यालय सत्यनन्द



विवेक प्रकाशन

मृत्यु  
पञ्चीस रुपये (द्वितीय भाग)  
संस्करण  
प्रथम, १९६२  
सर्वाधिकार  
लेखक के अधीन  
प्रकाशक  
विश्व प्रकाशन  
फिरोज बुक डिपो अमीनाबाद लखनऊ  
मुद्रक  
बंरना प्रेस  
नबीरनंज, डालीपंज, लखनऊ

२६४३

## विषय सूची

२६४३  
१२९

### अध्याय ६

पाश्चात्य वैचारिक अभिमतों का स्वरूप और सैद्धांतिक आधार ५० १४९—  
१९० पाश्चात्य वैचारिक अभिमतों का स्वरूप और विस्तार—१२१ ।

आश्चर्यवाद—१२१, स्वरूप—१२१, उत्पत्ति—१२२, आध्यात्मिकता—१२२,  
उदात्त बृत्ति—१२३, जीवन दृश्य—१२३, क्षेत्र विस्तार—१२४, व्यापकता—१२५,  
धीमाएँ—१२५, महत्त्व—१२६ ।

प्रभाववाद—१२६, स्वरूप आरंभ और सोच—१२६ ।

प्रतीकवाद—१२७ स्वरूप—१२७, आरंभ—१२८, आधार और प्रक्रिया—१२८,  
प्रतीक भेद—साहित्यिक प्रतीक तथा वैज्ञानिक प्रतीक—१२९, क्षेत्र-विस्तार—१२९,  
काम और आश्चर्यवाद—१३१ साहित्य क्षेत्रीय मायता—१३२, प्रभाव—१३२,  
महत्त्व—१३२ ।

अज्ञेयवाद—१३३, स्वरूप और विस्तार—१३३ ।

अधिर्घ्यंजनावाद—१३४ स्वरूप—१३४, आरंभ—१३४, क्षेत्र—१३४, विस्तार  
—१३५, प्रमुख तत्व १३५, कला—१३६, महत्त्व—१३६ ।

रूपवाद—१३७, स्वरूप—१३७ आरंभ—१३७ प्राचीनता—१३७, पूर्व मायताएँ  
—१३८ व्याख्या—१३८ महत्त्व—१३९ ।

अस्तित्ववाद—१३९, स्वरूप और आरंभ—१३९, दार्शनिक रूप—१३९ आध्या-  
त्मिक संकट—१४१, विकास—१४१, क्षेत्र विविध—१४३ प्रतिबिम्बितता—१४४,



५३८ ] समीक्षा के माग और द्वितीय समीक्षा के विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

साहित्यिक स्वरूप—१७४ जहाँ पाम सार्थ—१७५, सीमाएँ—१७६ कीर्कपाई—१७७  
प्राचीनता—१७९, आम्पारम प्राधान्य—१८० अस्वर्त कामू—१८१ महत्त्व—१८१ ।

यथार्थवाद—१८२, स्वरूप और आरंभ—१८२ प्रभाव तथा महत्त्व—१८३ ।

अध्यात्मवाद—१८४ आरंभ—१८४ क्षेत्र विस्तार—१८५, प्रसार—१८५  
स्वरूप—१८६ प्रभाव—१८६ उद्देश्य—१८६ हर्बर्ट रीड—१८७ वावाइज्म—१८९  
महत्त्व—१८९, निष्कर्ष—१९० ।

### अध्याय ७

भारतीय वैचारिक मंतीयनों का स्वरूप और ऐतिहासिक आचार पु० १९१—७२७

समीक्षा के संस्कृत साहित्य छात्रापीय मानवेंड—१९३ ।

रस सिद्धांत—१९३ रस के अंग—स्वामी भाव, विभाव अनुभाव तथा संघाटी  
भाव—१९३ विभाव के भेद—आत्मजन विभाव तथा उद्दीपन विभाव—१९३, प्रमुख  
रस—शृंगार, वीर, कथन, अद्भुत हास्य अयानक भीमस्त रौद्र तथा अति—१९३ ।

शृंगार रस—१९६, शृंगार के भेद—संयोग शृंगार—१९६ विभोज शृंगार—  
१९८ विभोज शृंगार की स्थितियाँ—पूर्व राग—१९८, मान—१९८ प्रभाव—१९९,  
कथन—१९९, विभोज शृंगार की बसाएँ—अधिभाषा—६०० निम्ता—६०० स्मरण—  
६०१, गुण कथन—६०१, उद्देश्य—६०१ प्रभाव—६०२, उगमाद—६०२, व्याधि—६०२,  
अकृता—६०३, परल—६०३ ।

वीर रस—६०३ वीर रस के भेद—युद्ध वीर—६०४, दानवीर—६०४ बयावीर  
—६०४ धर्मवीर—६०३ ।

कथन रस—६०३, कथन रस के भेद—साधारण कथन, अति कथन महा कथन  
लघु कथन तथा सुक कथन—६०३, कथन रस के अग्य प्रकार—प्रिय विनास अनित प्रिय  
वियोग अनित अल माद्य अनित, पराभव अनित—६०६ ।

अद्भुत रस—६०६, अद्भुत रस के प्रकार—दृष्ट्य सृष्टि, संकीर्तित तथा  
अनुमित—६०७ ।

हास्य रस—६०८ हास्य के प्रकार—हास्य, वाक्य वागुत्ते व्यंग्य तथा वक्रोक्ति  
—६०८ वक्रोक्ति के भेद—काकु तथा स्तेय—६०८ हृन्त्र के अग्य भेद—आत्मस्य तथा  
परस्य—६०८, हास्य के प्रत्य मुख्य भेद—स्मिन्न हसित विहसित लक्षहसित अपहसित  
तथा अतिहसित—६०८ ।

भयानक रस—६०९ व्याख्या और उदाहरण—६०९ ।

बीभ्रस्य रस—६१० व्याख्या और उदाहरण—६१० ।

रौड रस—६११ व्याख्या और उदाहरण—६११ ।

घाम्ठ रस—६१२, व्याख्या और उदाहरण—६१२ ।

वात्सल्य रस—६१३ व्याख्या और उदाहरण—६१४ ।

असंकार सिद्धांत—६१६ परिचय और स्वरूप—६१६,

असंकार विभाजन—६१८ पदार्थसंकार—२१९ अनुप्रास—६१९, श्लोकानुप्रास—

६१९, वृत्तानुप्रास—६२० वृत्तियों के प्रकार—उपनागरिका वृत्ति—६२०, पक्ष्या वृत्ति—

६२०, कोमला वृत्ति—६२१ श्लेषानुप्रास—६२१ साटानुप्रास—६२१ अंत्यानुप्रास—६२२

सर्कार्य—६२२, समांत्य वियर्मात्य—६२२ समांत्य—६२३ वियर्मात्य—६२३, सम

वियर्मात्य—६२३ निप्रोत्य—६२४ समक—६२४ वक्रोक्ति के भेद—वक्रोक्ति छिन्नपट्ट—

६२५, दिन-वक्रोक्ति—६२५, काकु वक्रोक्ति—६२५, स्तेय—६२६, स्तेय के भेद—वर्णन

स्तेय—६२६ वर्णन स्तेय—६२६ शिव—६२६ पुनरक्तिप्रकाश—६२७ पुनरक्तिप्रका

शिव—६२७ प्रहसितिका—६२८ प्रहसितिका के भेद—दाह्यपठ प्रहसितिका—६२८, अर्धपठ

प्रहसितिका—६२८ बीप्सा—६२९, भाषा समक—६२९ ।

अर्धसंकार—६२९, साम्यमूलक अर्धकार—६३० विरोधमूलक अर्धकार—६३०,

विरोध मूलक अर्धकार—६३०, अममूलक अर्धकार—६३० व्यायममूलक अर्धकार—६३१

निर्बन्धमूलक अर्धकार—६३१ पूडार्थ प्रतीतिमूलक अर्धकार—६३१, उपमा—६३१

पूषोत्तमा—६३२, मुत्तोपमा—६३२ उपमेयत्वपत्ता—६३२ उपमानमुत्ता—६३३ वाचक

मुत्ता—६३३, धर्ममुत्ता—६३३ वाचकधर्ममुत्ता—६३३, धर्मोपमानमुत्ता—६३३

धर्मोपमेयमुत्ता—६३३ वाचकोपमेयमुत्ता—६३४ वाचकोपमान मुत्ता—६३४ वाचक-

धर्म उपमान मुत्ता—६३४ मानोपमा—६३४ निप्रधर्म एवधर्म—६३४ मुत्त

धर्म—६३५ रमनोपमा—६३५, अमगवयोपमा—६३५, लतिवोपमा—६३५, उपपक्षयो-

पमा—६३६ उरमेयीरमा—६३६ तिक्तवोपमा—६३७ प्रतीर—६३७ प्रथम प्रतीर—

२३० द्वितीय प्रतीप—६३०, तृतीय प्रतीप चतुर्थ प्रतीप—६३०, पंचम प्रतीप—६३१,  
 स्मरण—६३१, प्रतिमान—६४०, सन्नेह—६४०, रूपक—६४१ अमेव रूपक—६४१,  
 अधिक अमेव रूपक—६४१, न्यून अमेव रूपक—६४१, सम अमेव रूपक—६४२,  
 तद्रूप रूपक—६४२, अधिक तद्रूप रूपक—६४२, न्यून तद्रूप रूपक—६४२,  
 सम तद्रूप रूपक—६४३ सावयव अथवा भाग्यरूपक—६४३ निरवयव अथवा निरंगरूपक—  
 ६४४ परंपरित रूपक—६४४, उत्प्रेक्षा—६४४, वस्तुप्रेक्षा—६४४, हेतुप्रेक्षा—६४४  
 फलोप्रेक्षा—६४५ गन्त्योप्रेक्षा-मुच्योप्रेक्षा या प्रतीपमाना उत्प्रेक्षा—६४५ सापग्न्योप्रेक्षा—  
 ६४७ अपन्युति—६४७ पुरुषापन्युति—६४७, हेत्वापन्युति—६४८ पर्व्यास्तापन्युति—६४८  
 प्रारणापन्युति—६४८ क्षेत्रापन्युति—६४९, कौत्वापन्युति—६४९, विशेषापन्युति—६४९,  
 मतिशयोक्ति—६४०, भेदकातिशयोक्ति—६४०, संवत्कातिशयोक्ति—६४०, योग्य में अयो-  
 ग्यता—६४१ अयोग्य में योग्यता—६४१ अयमातिशयोक्ति—६४१, अकामातिशयोक्ति—  
 ६४१ रूपकातिशयोक्ति—६४२, अयंतातिशयोक्ति—६४२ सापग्न्यकातिशयोक्ति—६४३,  
 तुल्ययोगिता—६४३ वक्ष्यों में समान धर्म का आरोप—६४४, अवक्ष्यों में समान धर्म का  
 आरोप—६४४ वक्ष्यों की एकता में उत्कृष्ट गुणों का योग—६४४ हित् तथा अहित् में  
 समान धर्म का आरोप—६४५, वीपक—६४५, वीपक के भेद—आवृत्ति वीपक—६४५,  
 पदावृत्ति वीपक—६४६, अर्थावृत्ति वीपक—६४६, पदार्थावृत्ति वीपक—६४७, कारक  
 वीपक—६४७, मासा वीपक—६४७, देहरी वीपक—६४८ प्रतिवस्तूपमा—६४८ वृष्टान्त  
 —६४८, निवर्धना—६४९, निवर्धना के भेद—पहली निवर्धना—सूखी निवर्धना—६४९,  
 तीसरी निवर्धना—६४९ चौथी निवर्धना—पौषधी निवर्धना—६४९ अर्थात्तरणाय—६४९,  
 सामान्य की दृष्टि से—६४९, विशेष की दृष्टि सामान्य से—६४९ व्यतिरेक—६४९,  
 उपमेय की उत्कृष्टता—६४९ उपमान की हीनता—६४९, सहोक्ति—६४९, विनोक्ति—  
 ६४९ समासोक्ति—६४९ पर्व्यासोक्ति—६४९, परिकर—६४९, परिचक्र—६४९, व्याज  
 स्तुति—६४९, आशेष—६४९, आशेष के भेद—उक्तशेष—६४९, निवेशशेष—६४९ व्याख्या  
 शेष—६४९ विशेष निबन्धना—६४९, शाब्दिक निबन्धना—६४९, विभावना—६४९, विभा-  
 दना के भेद—प्रथम विभावना—६४९ द्वितीय विभावना—६४९, तृतीय विभावना—६४९,  
 चतुर्थ विभावना—६४९, पंचम विभावना—६४९, षष्ठ विभावना—६५० विशेषोक्ति  
 —६५० व्यापाद—६५०, अर्चगति के भेद—प्रथम अर्चगति—६५१ द्वितीय अर्चगति  
 —६५१ तृतीय अर्चगति—६५१, विरोधाभास—६५२, कारणमाता—६५२, कारणमाता  
 के भेद—प्रथम कारणमाता—६५२ द्वितीय कारणमाता—६५२ एकावसी—६५२ विषम  
 —६५२ विषम के भेद—प्रथम विषम—६५२ द्वितीय विषम—६५४ तृतीय विषम

६७४ सम—६७४ सम के भेद—प्रथम सम—६७५, द्वितीय सम ६७५ तृतीय सम—  
६७५, सार—६७६, यथाक्रम—६७६, परिसंख्या—६७६, मुद्रा—६७७ काव्यनिर्णय—त्रय-  
सधिक—६७८ सूत्रम—६७८ तत्सुम—६७८ अतद्गुण—६७९, पूर्व रूप—६७९ पूर्व रूप  
के भेद—प्रथम पूर्व रूप—६७९, द्वितीय पूर्व रूप—६७९, मीनित—६८० उन्मीनित ६८०  
सामान्य—६८० विशेषक—६८१, विशेषकोन्मीनित—६८१ प्रस्तोत्तर—६८१ ।

रीति सिद्धान्त—६८२ 'रीति' की व्याख्या—६८३ रीति-विभाजन के आधार—  
६८३, रीति तत्त्व—६८४ रीति नियामक हेतु—६८४, रीति का अर्थ धर्मियों से भेद—  
६८५, रीति और प्रकृति—६८५, रीति और कृति—६८६ रीति और धर्म—६८६, रीति  
के भेद—वैदर्भी रीति—६८६, वैदर्भी रीति के मूल तत्त्व—माधुर्य व्यञ्जक वर्ण ललित पर  
रचना तथा मत्स्य समास—६८७ मौढ़ीया रीति—६८७ मौढ़ीया रीति के मूल तत्त्व—  
ओज, प्रकाशक वर्ण, आहम्बर पूर्व अर्थ समासों की बहुलता—६८७, पांशानी रीति—  
६८७ मुकुमार मार्ग—६८८, विचित्र मार्ग—६८८, मध्यम मार्ग—६८८ ।

धैरी—६८९, धैरी के भेद—सरस धैरी—६८९, मपुर धैरी—६९० ललित  
धैरी—६९०, कितल धैरी—६९१ उदार धैरी—६९१, व्यर्थ धैरी—६९१ ।

गुण—६९२ गुण के भेद—इसेय प्रसार समता समाधि माधुर्य ओज पर  
मुकुमारता अर्थ व्यक्ति, उदारता तथा कान्ति—६९२ गुणों के आधार—६९४, गुण और  
रीति—६९४ गुण और अस्कार—६९४ ।

दोष—६९५, दोष के बग—सामान्य दोष बाधी के दोष तथा बाध के मुख्य  
साधन—६९५, दोष के भेद—गूढ़ार्थ दोष अर्थात्तर दोष अर्थहीन दोष भिन्नाय दोष एकार्थ  
दोष अभिमुच्छार्थ दोष ग्यायादयेत दोष विषम दोष, विमग्न दोष तथा शब्दहीन दोष—  
६९५, नामह का दोष बर्णिकरम—सामान्य दोष—नयार्थ दोष विमल दोष अर्थार्थ दोष  
अनुक्तिमत् बाध तथा गूढ़ शब्द दोष—६९५, बाधी दोष—गुंठि दुष् दोष अकट्ट दोष  
नरुता कुट्ट दोष तथा धुनि कष् दोष—६९६, अर्थ दोष—त्रयार्थ दोष अर्थ दोष  
सर्वार्थ दोष अर्थार्थ दोष शब्दहीन दोष यतिभ्रष्ट दोष विम्र बल दोष विमग्न दोष  
वेद्य नाम बना सोक अज्ञान विरोधी दोष तथा प्रतिज्ञा हेतु दुष्टान्त हीन दोष—६९६  
बंधी का दोष बर्णिकरम—त्रयार्थ दोष, अर्थ दोष एकार्थ दोष सर्वार्थ दोष अनर्थ दोष  
शब्दहीन दोष, यतिभ्रष्ट दोष विम्र बल दोष विमग्न दोष तथा वेद्य नाम बना सोक  
अज्ञान विरोधी दोष—६९६, नामन वा दोष बर्णिकरम—पर दोष पदार्थ दोष, बाध  
दोष तथा बाधार्थ दोष—६९६ ।

बक्रीति सिद्धान्त—६९६ स्रष्ट का बक्रीति भेद—काहु बक्रीति तथा भंग स्तेप बक्रीति—६९७ भंग स्तेप बक्रीति—६९७ सम्मट का बक्रीति बर्नीकरण काहु बक्रीति—६९७ भंग स्तेप बक्रीति—६९७ अर्धग स्तेप बक्रीति—६९७, बक्रीति के प्रकार—६९७ कृतक का बक्रीति बर्नीकरण—बर्न विम्यास बक्रीता—६९८, परपूर्वार्ध बक्रीता—६९९, परपरार्ध बक्रीता के रूप—कड़ि वैचिभ्य बक्रीता—६९९, पर्याय बक्रीता—६९९, उपचार बक्रीता—७०० विसेषय बक्रीता—७०० संवृति बक्रीता—७००, प्रत्यय बक्रीता—७०१ सिंद्यवैचिभ्य बक्रीता—७०१ क्रिया वैचिभ्य बक्रीता—७०१ ।

पर परार्ध बक्रीता—७०२ पर परार्ध बक्रीता के भेद—कालवैचिभ्य बक्रीता—७०२, कारक बक्रीता—७०२, सख्या बक्रीता—७०२, पुरुष बक्रीता—७०३, उपग्रह बक्रीता—७०३ प्रत्यय बक्रीता—७०३ ।

वाच्य बक्रीता—७०३ वाच्य बक्रीता के भेद—सहजा—७०३ आह्वार्या—७०३ अन्य भेद—चेतन तथा अचेतन—७०४ प्रधान तथा अप्रधान—७०४ ।

प्रकरण बक्रीता—७०४ प्रकरण बक्रीता के भेद—७०५ ।

प्रबन्धक बक्रीता—७०५, स्वरूप और व्याख्या—७०५ ।

ध्वनि सिद्धान्त—७०६ स्वरूप और व्याख्या—७०६ ।

शब्द—७०७ शब्द के प्रकार—प्रकृति, प्रत्यय नियत तथा उपसर्ग—७०७ अन्य भेद—सप्त, तिहु, कंठ तथा तथित्—७०७ ।

शब्द सक्तियाँ—७०८ स्वरूप और व्याख्या—७०८ शब्द सक्तियों के भेद—अनिधा लक्षणा तथा व्यंजना—७०८ शब्द प्रकार—वाचक लक्षक तथा व्यंजक—७०८, अर्थ प्रकार—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंज्यार्थ—७०८ ।

अनिधा—७०८ व्याख्या और स्वरूप—७०८ ।

लक्षणा—७०९ लक्षणा के प्रमुख तत्व—मुख्य अर्थ की बाधा—७०९ वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्धित होना—७०९ कड़ि एवं प्रयोजन—७०९ । लक्षणा के भेद—कड़ि लक्षणा—७१ प्रयोजन बती लक्षणा—७१०, प्रयोजन बती लक्षणा के भेद—बीड़ी लक्षणा—७१ गीड़ी लक्षणा के भेद—सारोपा बीड़ी लक्षणा—७११ साम्यबाधना बीड़ी लक्षणा—७११ मुड़ा लक्षणा—७१२, मुड़ा लक्षणा के भेद—उपादान लक्षणा—७१२, लक्षण लक्षणा—७१२ सारोपा मुड़ा उपादान लक्षणा—७१३, सारोपा मुड़ा लक्षण लक्षणा—७१३, साम्यबाधना मुड़ा उपादान लक्षणा—७१३, साम्यबाधना मुड़ा लक्षण लक्षणा—७१३ ।

व्यंजना-७१४ व्यंजना के भेद-शास्त्री व्यंजना-७१४, भार्गी व्यंजना-७१४ ।  
 शास्त्री व्यंजना के भेद-अभिधामूला शास्त्री व्यंजना-७१५, सखनामूला शास्त्री व्यंजना-  
 ७१५ । भार्गी व्यंजना के भेद-भाष्य संप्रदा भार्गी व्यंजना-७१६, सख्य संप्रदा भार्गी  
 व्यंजना-७१६ व्यंग्य संप्रदा भार्गी व्यंजना-७१७ ।

वक्तु वैशिष्ट्य-७१७, बोद्धव्य वैशिष्ट्य-७१७, काकु वैशिष्ट्य-७१८  
 वाच्य वैशिष्ट्य-७१६, नाच्य वैशिष्ट्य-७१८ अग्यसमिधि वैशिष्ट्य-७१८ प्रस्ताव  
 वैशिष्ट्य-७१९, वेद्य वैशिष्ट्य-७१९, कास वैशिष्ट्य-७१९, वेष्टा वैशिष्ट्य-  
 ७१९ ।

ध्वनि विवेचन-७२० ध्वनि काव्य, पुत्रीभूत व्यंग्य काव्य तथा अवर काव्य-  
 ७२०, ध्वनि के भेद-सप्तनामूला ध्वनि-७२०, सप्तनामूला ध्वनि के भेद-अर्थतर्रर्र  
 कर्मित सप्तनामूलाध्वनि-७२०, अत्यन्त विरस्कृत सप्तनामूला ध्वनि-७२० । अनिधा-  
 मूला ध्वनि के भेद-संतदयक्रम व्यंग्य ध्वनि-७२०, संतदयक्रम व्यंग्य ध्वनि के भेद-  
 शाब्द ध्वनि उद्भव संतदयक्रम व्यंग्य ध्वनि-७२१, अर्थ ध्वनि उद्भव संतदयक्रम व्यंग्य  
 ध्वनि-७२१ । अवसंतदयक्रम व्यंग्य ध्वनि के भेद-रस ध्वनि-७२२ भाव ध्वनि-७२२  
 रसाभास-७२२, भावाभास-७२२, भावोद्यम-७२३, भावसमिधि-७२३ भावधार्ति-  
 ७२३, भावसम्बन्धता-७२३ ।

पुत्रीभूत व्यंग्य-७२४, पुत्रीभूत व्यंग्य के भेद-अपुद्ग व्यंग्य-७२४ अचरान्त  
 व्यंग्य-७२४, नाच्य सिध्वंग्य व्यंग्य-७२४, अस्फुट व्यंग्य-७२५, संदिग्ध प्राधाय्य  
 व्यंग्य-७२५, असुन्दर व्यंग्य-७२५, तुल्य प्राधाय्य व्यंग्य-७२५, काकवाहित्य व्यंग्य-  
 ७२६ ।

अवर काव्य अथवा ताचारक काव्य का स्वरूप-७२६ ।

ध्वनि सिद्धान्त की विधिपिष्टता और महत्त्व-७२६ ।

## अध्याय ८

वाचनार्थ और भारतीय वैचारिक आदर्शों का तुलनात्मक अध्ययन-७३१ ।

तुलनात्मक अध्ययन की आधार भूमि-७३१, वाचनार्थ तथा भारतीय समीक्षा  
 प्रणालियाँ-७३१ ।

अभिध्वंजनावाद और भारतीय सिद्धान्त से इसकी तुलना-७३२ अभिध्वंजना

विषयक धारणा—७३२, अभिव्यंजना का अर्थ—७३२, अभिव्यंजन की प्रक्रिया—७३३  
अभिव्यंजनावाद की समीक्षारमक परिणति—७३४ भारतीय सिद्धान्त से अन्तर—  
७३४ ।

पाठशास्य समीक्षा और यथार्थवादी आन्दोलन—७३४ प्रतिक्रियारमकता—७३४  
स्वरूप—७३५ हिन्दी साहित्य और यथार्थवाद—७३५, यथार्थवाद और आदर्शवाद—  
७३६ यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव—७३६ ।

पाठशास्य साहित्य में प्रतीकवाद—७३७ वैचारिक विरोध—७३७ प्रतीकों का  
श्रेण और महत्त्व—७३७ भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद—७३८ ।

अति यथार्थवाद का वैचारिक आधार—७३९ सैम्बॉटिक प्रसार—७३९ अन्व  
विचारधाराओं से तुलना—७४० ।

अस्तित्ववादी विचार प्रणाली—७४० आध्यात्मिक संकट का दर्शन—७४१, मुख्य  
परिवर्तन—७४१, अस्तित्ववाद और उसकी साहित्यिक परिणति—७४१ ।

आपदावादी वैचारिक प्रसार—७४३ हिन्दी साहित्य और आपदावाद—७४३  
पाठशास्य प्रभाव से पूर्व की स्थिति—७४४ ।

भारतीय रस सिद्धांत—७४५, मरत सुख—७४६, रस वर्गीकरण—७४६ रस  
संख्या—७४७ रसानुभूति की प्रक्रिया—७४७ भारतीय रस सिद्धांत और पाठशास्य  
माध्यम—७४७ ।

भारतीय अस्कार सिद्धांत ७७८ प्राचीनता—७७८ भामह का अस्कार विवेचन  
७७८ इंदी का दृष्टिकोण—७७९, उद्भूत की अस्कार व्याख्या—७७९, अन्व अस्कार  
घातरी और अस्कार मेद—७२० महत्त्व—७२० पाठशास्य युवाली साहित्य आस्त्र और  
भारतीय अस्कार सिद्धांत—७२१ ।

भारतीय ध्वनि सिद्धांत—७२१ व्याख्या और अन्व विस्तार—७२१, भारतीय  
ध्वनि सिद्धांत और पाठशास्य दृष्टिकोण—७२२ ।

भारतीय रीति सिद्धांत—७२३ रीति और सुण—७२३ भारतीय रीति सिद्धांत  
तथा पाठशास्य प्रतीकवाद—७२४

भारतीय अन्वैतिक सिद्धांत—७२४ स्वरूप—७२५ अन्वैतिक सिद्धांत तथा  
अभिव्यंजनावाद—७२५, निष्कर्ष—७२६ ।

विषय सूची

अध्याय ९

- आधुनिक हिंदी लीनका की विविध प्रकृतियाँ—७४९  
 आधुनिक हिंदी समीक्षा की पृष्ठभूमि—७६१ रीति साहित्य चिंतन का स्वरूप—  
 ७६२ आधुनिक हिंदी समीक्षा का आरंभ—७६३ ।  
 ऐतिहासिक समीक्षा की प्रकृति—७६४, स्वरूप—७६४ प्रमुख विशेषता—७६४  
 आरंभ और विकास—७६६, प्रमुख समीक्षक—७६६, पार्सि द तासी—७६७ चिबसिंह  
 सेंपल—७६७, डा० विमर्शन—७६७ जोश रिपोर्ट—७६८ मिश्रबन्धु—७६८, रामचन्द्र  
 मुक्कस—७६९, अन्य समीक्षक—डा० दयामुन्दर दास, डा० सूर्यकांत धारत्री डा० हुजारी  
 प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिजोष' डा० रामचंद्र गुप्त 'रसाल' डा०  
 रामकुमार वर्मा—७७१ ।  
 मुबारक समीक्षा की प्रकृति—७७१ स्वरूप—७७१ आरंभ और विकास—  
 ७७१ महावीर प्रसाद द्विवेदी—७७२ साहित्यिक माध्यमार्थ—७६३ ।  
 गुणनारमक समीक्षा की प्रकृति—७८१ स्वरूप—७८१, पूर्ण रूप—७८२ आरंभ  
 और विकास—७८२ मिश्रबन्धु—७८३, पद्मसिंह वर्मा—७८३, सतसई संहार—७८४  
 बिहारी की सतसई—७८५, मौलिकता का स्वरूप—७८६, महत्व—७८६ कृष्णबिहारी  
 मिश्र—७८७ देव और बिहारी—७८७ पारंपरीय दृष्टि—७८८ निर्णयार्थक स्वप्न—७८८  
 काव्य की भाषा—७८९, देव और केदार—७८९ मणिराम प्रंवाबती—७९० महत्व—७९०  
 भगवान दीन—७९१ बिहारी और देव—७९१ अन्य कृतियाँ—७९२ महत्व—७९२,  
 धारत्री की दृष्टि—७९२ दृष्टिकोण—७९३ सीमाएँ—७९४ महत्व—७९५ संभावनाएँ—७९६,  
 पारंपरीय समीक्षा की प्रकृति—७९६ स्वरूप—७९६ परम्परा विवरण  
 मुण्डरिदान—७९७ प्रतापनारायण सिंह—७९७ बहृवात्मक बोहार—७९७ जगन्नाथ  
 प्रसाद 'भानु'—७९८ भगवानदीन—रामचंद्र गुप्त 'रसाल'—७९९ मीनाराम धारत्री—  
 ७९९ अर्जुनदास कैडिया—८०० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिजोष'—८०० बिहारी  
 लाल भट्ट—८०० मिश्रबन्धु—८०१, हिन्दी नवरत्न—८०१ साहित्य पारिभाष—८०२  
 महत्व—८०२ दयामुन्दर दास—८०३ कृतियाँ—८०४, दृष्टिकोण—८०४ कला का  
 स्वरूप—८०४, काव्य—८०५ काव्य और नीति—८०६ समीक्षार्थक विचार—८०६-  
 व्यावहारिक समीक्षा—८०७, महत्व—८०७ रामचंद्र गुप्त—८०८ काव्य का स्वरूप



—१०० काव्य का उद्देश्य—८०९, काव्य और कल्पना—८१०, काव्य और भाषा—८११  
 काव्य और धर्मकार—८१२ रस—८१२ महत्त्व—८१३, बुलाबराय—८१४, काव्य—  
 ८१४, काव्य और कला—८१५, काव्य और कल्पना—८१६ रस—८१६ धीतराम  
 अनुबोधी—८१६ मन्मथिनारायण सुभाषु—८१६, हमाठी प्रसाद द्विवेदी—८१७, विरचना  
 प्रसाद मिश्र—८१७ संभावनाएँ—८२० ।

छायावादी समीक्षा की प्रकृति—८१० स्वरूप—८२० बयसंकर 'प्रसाद'—८२१  
 काव्य और कला—८२१, रस—८२२, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'—८२२ काव्य और  
 कला—८२४ काव्य और रस—८२५ सुमनानन्द पंत—८२६ काव्य—८२६ भाषा—  
 ८२७—छायावाद—८२७, महादेवी वर्मा—८२८ काव्य—८२८, छायावाद—८२९,  
 छातिप्रिय द्विवेदी—८३० रंभाप्रसाद पांडेय—८३२, महत्त्व और संभावनाएँ—८३२ ।

प्रगतिवादी समीक्षा की प्रकृति—८३२ स्वरूप—८३२ प्रारंभ—८३३, राहुल  
 सांकृत्यायन—८३३ प्रगतिवाद की ऐक्यता—८३४, महासचंद्र गुप्त—८३५, डॉ०  
 रामबिनास शर्मा—८३६ चिन्तनसिद्धि चौहान—८३९, प्रयोग की कसौटी—८४० प्रगति  
 और प्रचार—८४०, मन्मथान गुप्त—८४१ प्रगतिवाद की अनिर्धार्यता—८४२ वैयक्तिक  
 स्वार्थम्य—८४३ अतीत का ज्ञान—८४३, प्रगतिवादी दृष्टि—८४४ डॉ० रमेश चन्द्र  
 —८४५, रामेश्वर शर्मा—८४६, महत्त्व और संभावनाएँ—८४८,

व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रकृति—८४८ स्वरूप—८४८ प्रारंभ—८४९, सच्चिदानंद  
 हीरानंद शास्त्र्यायन 'अक्षय'—८४९, अनुभूति की व्यापकता—८५० साहित्य में  
 प्रयोगात्मकता—८५०, नीति मत्त्व—८५७ प्रयोग की कसौटी—८५९, विरिञ्जाकुमार  
 माधुर—८६० डॉ० बर्मबीर भारती—८६४, लक्ष्मीकांत वर्मा—८६५, महत्त्व तथा  
 संभावनाएँ—८६६ ।

मनोविश्लेषात्मक समीक्षा की प्रकृति—८६७, स्वरूप—८६७, प्रारंभ—८६८  
 बीनेन्द्र कुमार—८६८ वैयक्तिकता का आग्रह—८६९ सर्वोपय—८६९, पंचशील—८६९,  
 व्यक्ति का उत्पन्न—८६९, रचनात्मक जीवन दृष्टि—८६९ इलाचंद्र जोशी—८६९, युग  
 भावना और आत्मज्ञान की प्रकृति—८६९, छायावाद की उपलब्धि—८६९ साहित्य और  
 वैयक्तिक कृष्ण—८६४, मनोविज्ञान की ऐक्यता—८६४, मनोविश्लेषात्मकता—८६५,  
 महत्त्व तथा संभावनाएँ—८६६ ।

शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति—८६६, स्वरूप—८६६, आरम्भ—८६७, वर्गीकरण—८६७ साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति—८६७, कविपरक शोध प्रवृत्ति—८६८, डा० बन्नेबप्रसाद मिश्र—८६८ अन्वय समीक्षक—८६८, डा० ब्रजेश्वर वर्मा—८६८, अन्वय समीक्षक—८६९, सम्प्रदायपरक शोध प्रवृत्ति—८६९, डॉ० पीताम्बरदत्त-बड़वाण—८६९, डॉ० बीनदयामु गुप्त—८७०, डॉ० मुग्धीराम वर्मा—८७०, डॉ० विनय मोहन शर्मा—८७१ अन्वय समीक्षक—८७१ शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति—८७१, डॉ० राम चंकर सुक्ल रसायन—८७१ डॉ० भावीरथ मिश्र—८७२ अन्वय समीक्षक—८७२ माया वैज्ञानिक शोध प्रवृत्ति—८७२, स्वरूप—८७२, ऐतिहासिक—८७२, ध्याकरात्रिक—८७३, बोलीपरक—८७३ तुलनात्मक—८७३ महत्त्व तथा सम्भावनाएँ—८७३।

व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति—८७४, स्वरूप—८७४ आरम्भ—८७४, ललितता प्रसाद मुकुल—८७४, परसुराम जनुबेदी—८७४, पद्मसाल पुष्पासाल बक्षी—८७५ डॉ० सत्येन्द्र—८७७, डॉ० प्रधाकर माधवे—८७७ रामहृदय शुक्ल पिपीमुल—८७८, महत्त्व तथा सम्भावनाएँ—८७८।

साम्प्रदायिक समीक्षा की प्रवृत्ति—८७९ स्वरूप—८७९, आरम्भ—८७९ डॉ० विनय मोहन शर्मा—८७९, नाट्य स्वरूप—८८०, सृजनारूपकता—८८१ समासोचना का स्वरूप—८८१ अनुसारे बाजपेयी—८८२, काव्य—८८२, आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ—८८३ समीक्षा का रूप—८८४, वैचारिक आन्वेषण—८८४ समीक्षात्मक माध्यताएँ—८८४ डॉ० जयेश—८८५, काव्य—८८५, रस—८८७ नैतिक मूल्य—८८७, छायावाद—८८८ प्रयोगवाद—८८९, डॉ० देवराज—८८९, साहित्य—८९०, समीक्षक—८९०, छायावाद—८९१, प्रगतिवाद—८९१, प्रयोगवाद—८९२ महत्त्व और सम्भावनाएँ—८९३, निष्कर्ष—८९३।

## अध्याय १०

### उपसंहार

सम्यक मान निर्धारण की आवश्यकता और सम्भावनाएँ—८९७ आवश्यकता—८९७ रूपरामक आचार की प्रधानता—८९८, वैज्ञानिक एकमिता—८९८ संस्कृत समीक्षा मिश्रान्त—८९९, हिन्दी रीति विज्ञान—९००।

आधुनिक विज्ञान—९०१ अनुभूति का महत्त्व—९०१, क्षेत्रीय प्रयोजन—९०१ सामाजिक मान—९०२ योनीकरण की आवश्यकता—९०२ विज्ञान समीक्षा—९०३ औचित्य

का परीक्षण—१०३, परिवर्तन क्षीणता—१०३, परिवर्तन क्षीणता के कारण—१०४, विकास क्षीणता—१०५, मानों की अपूर्णता—१०६ मानदण्डों का बौद्धिक परीक्षण—१०६, मुख्य निर्धारण और नियंत्रण—१०७ बसंकरण और अभिव्यक्ति—१०८ अनुसूति और अभिव्यक्ति—१०८ छान्दस्यरिभक्तता: निहित और प्रभाव—१०९, मुनीन सत्य और वेतना—११० यथावर्तमकता—१११, तुलनात्मकता—११२, वास्तविकता—११३ नैतिकता ११३ प्रभाव वाचिता—११४ समाज सास्त्रीयता और ऐतिहासिकता—११४ अस्विरता ११५, सिद्धान्त और व्यवहार—११६ विकास मुगीत मान—सूक्ष्मत्व ह्लास एंव संक्रमण—११७ मुनीन उपसम्बन्ध—११८ अनुसूति तथा अभिव्यक्ति: एकरत्मक स्वरूप—११९, श्रेष्ठता और कसात्मकता—१२० छवित्व की कसौटी—१२१ उपसम्बन्धों की व्यवधि—१२२, मान का प्रयोग—१२२ सम्यक मान का स्वरूप—१२३ ।

### परिशिष्ट १

सहस्यक ग्रन्थों की सूची—१२३ ।

### परिशिष्ट २

(क) नामानुक्रमिका

(ख) ग्रन्थानुक्रमिका

अध्याय ६

पश्चात्य वैचारिक आंदोलनों का स्वरूप  
और  
सैद्धांतिक आधार



## पारचात्य वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और विकास

पारचात्य समीक्षा की विविध परम्पराओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें समय-समय पर अनेक वैचारिक आन्दोलनों का सूत्रपात होता रहा है। पारचात्य चिन्तन के सपन्नग आई हज़ार वर्षों में साहित्य, काव्य समीक्षा, कला वर्धन तथा मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में अनेक आन्दोलन प्रवर्तित किये गये तथा उनके अन्दन मंडन के प्रयत्न हुए। वे आन्दोलन वस्तुतः बाह्य मय की विधाओं के प्रति निम्न दृष्टिकोण ही थे। साहित्य में किस उत्प को प्रमुक्तता ही जाय और उसके माध्या पर उसका मूर्त्याकन किया जाय, यहो भावना इन विचार प्रणालियों के मूल में थी। इसलिए जब कभी भी कोई नवीन विचार पद्धति प्रवर्तित की गयी तब उसने न केवल समकालीन चिन्तन को प्रभावित किया वरन् उसके भावी विकास की रूपरेखा भी स्पष्ट की। समीक्षा के मानकों के निर्धारण तथा साहित्य के प्रति मूल दृष्टिकोण में भी इनके द्वारा परिवर्तन किया गया। इसलिए इन वैचारिक आन्दोलनों का समीक्षा के इतिहास में विधिष्ट महत्व है।

### आदर्शवाद

स्वरूप —

आदर्शवाद हिन्दी में अंग्रेजी शब्द 'आइडियलिज्म' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसे बहुधा विचारवाद भी कहा जाता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध आइडिया या विचार से है। आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका आरोपन बाह्य मय के विविध क्षेत्रों के क्षेत्रों में बहुलता से हुआ है। साहित्य का अहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें आदर्शवाद से आद्य एक ऐसी विचारधारा से समझा जाता है, जो मनुष्य को अपने जीवन में किन्हीं उदात्त तत्त्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की विद्या में जतने की प्रेरणा दे। ये

उपसम्भियाँ अन्ततः मनुष्य के आत्मिक सन्तोष और सुख का मूल कारण होती हैं, क्योंकि ये हृदयपथ होती हैं और प्रायः बाह्य रूप से संभव, त्याग और आत्म-नीडन की श्रेयस्कर बताती हुई उनका समर्थन करती हैं। मनुष्य इस विचारधारा का समर्थन करता हुआ क्रमशः इस निकर्ष पर जाने लगता है कि अस्तुतः बाह्य बचवा घाटीरिक सुखों के द्वारा किसी स्थायी तृप्ति की भावना का अनुभव करना सम्भव नहीं है। इतीति ए उसका दृष्टिकोण अन्तर्मुखी होने लगता है और वह आन्तरिक सुख और सन्तोष की खोज में स्वभावतः बाह्य सुखों के प्रति उदासीन हो जाता है।

संदेह —

आदर्शवाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण के साथ ही साथ यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि आदर्शवाद द्वारा निर्देशित यह आत्मिक सुख की भावना बाह्य सुखों की अपेक्षा इसधि ए भी करती है, क्योंकि अन्ततः वह स्थायी सुखों के कारणों की खोज करती है। यह स्थायी सुख और सन्तोष प्रायः उच विरलता का सूचक होता है, जिसका प्रयोग आत्मा के सम्बन्ध में बहुधा किया जाता है। मनुष्य के शरीर में निवास करने वाली आत्मा अनन्तर होती है। अतः यदि उसे किसी प्रकार का सन्तोष प्रदान करना है, तो इसके लिये फिर सन्तोष के सुखों की खोज करना आवश्यक है, क्योंकि उसी के माध्यम से ऐसा होना सम्भव है। फिर सन्तोष के सुखों की खोज की पूर्ण प्रक्रिया इतनी शीघ्रसमयी है कि मनुष्य की कल्पना और विचार शक्ति की कार्यशीलता उसकी खोज में अवरुद्ध रूप से प्रतिधीन रहती है। इसके परिणाम स्वरूप ही वह उन उपसम्भियों और उनकी सम्भावनाओं के भी अक्षिप्त पाता है जो उसे अभीष्ट होती हैं। उनकी ओर उसकी उन्मुखता बाधित करना ही स्पष्ट रूप से आदर्शवादी विचार धारा का संदेश है।

आध्यात्मिकता —

मनुष्य के जीवन की अवास्तवीय बनाने वाली इस विचारधारा की मूल वृत्ति अन्तर्मुखी है। उसके द्वारा विन जीवन सुखों का निर्धारण होता है, वे भी अवास्तवीय के सूचक होते हैं। आदर्शवाद द्वारा निर्देशित निर्धारित ये जीवन सुख उच सामर्थ्य से युक्त होते हैं, जो जीवन के धिए एक प्रकार की प्रेरक शक्ति का कार्य करती हैं। मानव जीवन को उसके अन्तः लय के पदात्मक का संस्पर्ध कराने वाली यह शक्ति मूलतः अर्धहित और अर्ध कल्याण की भावना का आकार लिये होती है। यही कारण है कि आदर्शवादी आधिपत्य के अन्तर्गत विन रचनाओं की रचना की जाती है, वे एक प्रकार की अन्तर्मुखी

वृत्ति के साथ ही साथ साहित्य कला के उच्चतर मापों के अनुसार भी अपनी सार्थकता प्रमाणित करती हैं। परन्तु आदर्शवादी साहित्य में इस अन्तर्मुखी वृत्ति के समावेश का एक अनिवार्य परिणाम यह देखने में आता है कि वह एक प्रकार के आध्यात्मिकता के आवरण से आवृत आनासित होजा है। यह आध्यात्मिकता का आवरण वहाँ एक ओर उसकी उच्चता और स्तरीयता का सूचक होता है, वहाँ दूसरी ओर वह स्पष्ट रूप से उसमें निहित उन तत्त्वों की ओर संकेत करता है जो संकृषित दृष्टिकोम और आध्यात्मिकता के विरोधी होते हैं।

उदात्त वृत्ति :—

स्वतन्त्र रूप से आदर्शवाद अथवा और जीवन में पायी जाने वाली वास्तविकता का ही साहित्य में प्रतिबिम्बित करने का विरोधी होता है। इस दृष्टि से इसे अर्थात्मिक भी कहा जा सकता है। यह जीवन चित्रों में वास्तविकता के स्थान पर उदात्तता के समावेश का समर्थन करता है। यह साहित्य में अनेक प्रत्येक विषय के उदात्त स्वरूप को आदर्श मान कर उसी के चित्रण पर शीरष देता है, क्योंकि उसके ही चित्रण और अंगीकरण से जीवन को उदात्त और अस्वाभाविक बनाया जा सकता है। आदर्शवाद की इस भावना को उसकी निरर्थकता का सूचक समझा जाता है, यद्यपि यही उसकी सार्थकता का सबसे प्रबल आधार है।

वास्तव में जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों और अंगों में दो प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं। एक तो वे जो जीवन के यथार्थ चित्र की सारहीनता के कारण उसके आध्यात्मिक तत्त्वों का अनुपपन्न करती हैं और दूसरी वे जो जीवन के नृजनतामक अथवा ही के भिन्न रूपों को जीवन के प्रेरणात्मक तत्त्वों का निर्माण करती हैं। इसलिये आदर्शवाद मानव जीवन की वास्तविकता से अलग रहते हुए भी उसके एक ऐसे उदात्त स्वरूप की सम्भावनाओं पर बल देता है जो बोधमय और आध्यात्मिक भी हो। आदर्शवाद के महत्व के मूल कारणों में से एक उसकी नृजनशीलता भी है, जो जीवन को आध्यात्मिकता से अलग रखने की चेष्टा करता है।

जीवन मुख्य :—

इस प्रकार से आदर्शवाद द्वारा निर्धारित जीवन मुख्य यथार्थ में से मुख्य है जिनके आधार पर उच्चतर जीवन स्तर के निर्वाह की प्रेरणा मिलती है। उसका आध्यात्मिकता के साथ सम्बन्धित अन्वेषण अथवा अथवा महत्व और परिदेय को सीमाबद्ध नहीं होने



देता परन्तु इतना निश्चित है कि उसके कारण उसका महत्व और गरिमा बढ़ जाती है। यों भी वास्त्यात्मकता की उपेक्षा उसके स्वायत्त की सोच की सूचक है और इस कारण उसकी महत्ता प्रमाणित करती है।

मनुष्य का जीवन एक साधारण जीव जगत्वा पशु के जीवन से इसलिए भी भिन्न होता है क्योंकि मनुष्य में चिन्तन की शक्ति है और यह शक्ति उसे जीवन के उदात्तीकरण की प्रेरणा देती है। आदर्शवाद का सत्य भी जीवन का उदात्तीकरण करता है। इसलिए आदर्शवादी जीवन दर्शन द्वारा निर्धारित मूल्य सृजनात्मकता की वृत्ति मिये हुए हैं और इस प्रकार से आन्तरिक उच्चता पर गौरव देते हुए एक उदात्त जीवन के स्वरूप का स्वीकरण करते हैं। यह उदात्तता एक चिन्तन सद्योव की ओर उन्मुख होती है और इसलिए आदर्शवादी विचारवाच की विशिष्टता भी निर्दिष्ट करती है।

#### लोक विस्तार —

आदर्शवादी विचारधारा किसी एक सीमित क्षेत्र में बद्ध नहीं है, ऐसा अन्तर कहा गया है। उसके इस अपरिचित विस्तार का परिणाम यह हुआ है कि उसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों और वृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाली मान्यताओं को प्रमाणित, निर्दिष्ट और निर्धारित किया है। उदाहरण के लिए दर्शन शास्त्र धर्मशास्त्र समाजशास्त्र नीतिशास्त्र तथा साहित्य शास्त्र आदि के निम्न-निम्न क्षेत्रों में आदर्शवादी विचारधारा अपने एक निश्चित स्वरूप की स्पष्टता के कारण विशिष्टता रखती है।

इन विभिन्न क्षेत्रीय परिधिओं में, विशेष रूप से साहित्य में, वह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर पर कल्पित और सम्भावित जीवन के उदात्त स्वरूप के निदर्शन की चेष्टा करता है। यह स्वरूप आचार रूप से यथार्थ जीवन पर ही निर्भर करता है यद्यपि वह जीवन की उच्च यथार्थता का समर्पण नहीं करता। आदर्शवाद की सबसे बड़ी विरूपता यही है। और उसकी यही विशेषता उसकी दीर्घ परम्परा और महत्व का मूल कारण है। जीवन की यथार्थता से विमुख न होना और उसकी यथार्थता को दृष्टि गठ रखते हुए उसके उदात्तीकरण की सम्भावनाओं का निर्देश करना एक ऐसा तत्व है, जो अन्य विचारधाराओं में नहीं मिलता। आदर्शवाद में वह इस कारण भी मिलता है, क्योंकि यह एक उदात्त विचारधारा है जो प्रत्येक दशा में जीवन की कल्याणता और सृजनशीलता की समर्थक और निरोधक है।

पादशतता —

आदर्शवाद को एक पादशत विचारधारा के रूप में भी देखा जा सकता है। कठोर युगों से ही सम्य मानव ने जीवन के विविध क्षेत्रों में उदात्तीकरण की वृत्ति को बिकासशील पाया है। इसका एक कारण यह भी है कि मनुष्य के अस्त-करण में निवास करने वाली विविध मायनाओं में प्रायः सभी प्रकार की वृत्तियाँ हैं। इनमें से सूजनशील और ह्लासीमुखी प्रवृत्तियों के आनुपातिक निष्कर्ष के आधार पर एक मनुष्य के मानसिक और बौद्धिक स्तर का भी निर्धारण किया जाता है। इनमें निम्न मानसिक और बौद्धिक स्तरीय प्राणियों के बिकास और उन्नति के लिए यों भी आवश्यक स्वस्वों को प्रकाशित करने की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्त रूप से इस आवश्यकता का क्रम स्वतः उदात्तशील होता है और इस प्रकार से प्रत्येक युग में अपने पूर्व स्तर और उदात्तता के कारण मान्य होता है। आदर्शवाद की पादशतता का मुख्य कारण उसके मूल में निरन्तर कार्यशील रहने वाली यही प्रक्रिया है, जो मनुष्य को एक उच्चतर और महत्तर आदर्श की ओर और उपलक्ष्य की दिशा में एक प्रकार की प्रेरणा सी देती रहती है तथा स्वयं उसकी सम्भावना की सूत्र निर्दिष्टनी होकर इन दोनों के बीच में एक माध्यम का कार्य करती है।

सीमाएँ —

आदर्शवाद के विरुद्ध मुख्यतः दो आरोप लगाये जाते हैं। इनमें से प्रथम का उत्तम रूप दिया जा चुका है, जिसके अनुसार आदर्शवाद यथार्थ जीवन से विमुक्त रहता है। दूसरा आरोप यह है कि आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो मुख्यतः भावनात्मक और कल्पनात्मक तत्त्वों से पूरित और इन्हीं पर आधारित है। किसी सीमा तक यह सत्य है कि आदर्शवाद में इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का बाहुल्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि किसी भी क्षेत्र में ध्यात् या स्थिर यथार्थता को वृत्ति में रखते हुए उसी में क्षेत्र में यदि किसी प्रकार के उदात्तीकरण की चेष्टा की जायगी तो उक्तमें इन दोनों प्रकार के तत्त्वों का आधिक रूप में समावेश हो हो जाना भी अनिवार्य होगा।

जहाँ तक आदर्शवाद का सम्बन्ध है, वह किसी भी क्षेत्र में भाव तथा कल्पना सम्य एक ऐसे स्तर की ओर खिंच करके उसकी महत्ता को निर्दिष्ट करता है, जो स्पष्ट रूप से विविध और सम्भाव्य हो। है। इसमें समावेशित इन दोनों प्रकार के तत्त्वों को

आदर्शवाद का आधार और प्रेरक मानना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि ये ही वास्तव में वे शक्त हैं जो जीवन को सुनतशील बनाकर ह्रासोग्मुखी वृत्तियों से उसे विमुक्त और इस प्रकार से उसे सार्थक बनाते हैं।

मूल्य —

पापचार्य वैचारिक जगत में आदर्शवादी विचारधारा अनेक रूपों में मूल्य रखती है। प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका प्रसार अन्य विचारधारार्यों की अपेक्षा अधिक है। प्राचीन पापचार्य शास्त्र की यूनानी परम्परा में आदर्श के समीकारत्मक रूपों को बर्ण धारणा से समन्वित करके भी देखा गया। लॉजाइनस के उदारवादी विचारों को भी आदर्शवाद के ही एक रूप में माय्य किया जा सकता है क्योंकि इनका सम्बन्ध भी मानव समाज के सर्ववोमुखी उत्थान से है। जाने चलकर अपेक्षाकृत नवीन विचार प्रभावितियों की तुलना में यद्यपि इस विचारधारा को मुख्यता नहीं प्रदान की गयी परन्तु इसका समावेश किसी न किसी रूप में उन सभी में होता रहा।

### प्रभाववाद

स्वल्प आरम्भ और क्षेत्र —

“प्रभाववादी” अथवा इम्प्रेसनिस्टिक आन्दोलन का आरम्भ समीक्षणी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। यह आन्दोलन मूलतः चित्रकला के क्षेत्र में रहा। साधुनिक चित्र कला की सीमा का आरम्भ इसी वैचारिक आन्दोलन के काल से हुआ। अन्य चित्र शैलियों की अपेक्षा इसकी विविष्टता का बोध चित्रण के स्वरूप से ही मुख्यतः होता है।<sup>1</sup>

साहित्य के क्षेत्र में इसका आरम्भ तीसरी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश से हुआ। कविता तथा नाटक आदि की मजबूत आधुनिक प्रभाववाकियों के अन्तर्गत भी जाती है। रचनात्मक साहित्य में इसके रूप प्रायः काव्य के ही क्षेत्र में मिलते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी समीक्षा की प्रवृत्ति का जाने चलकर प्रचार हुआ जिसमें कृति के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया

जाता है। पारबाल्य साहित्य समीक्षा के अन्तर्गत रिम्बो कोर्न मेसार्म बेल्ग्रे हापकिन्स, इलिय ज्वायस तथा बर्नीनिया बुल्क<sup>१</sup> आदि के विचारों पर इसका प्रभाव बताया जाता है।

### प्रतीकवाद

स्वरूप —

प्रतीकवाद पारबाल्य समीक्षा के निर्धारक मानदंडों के आधारभूत आन्दोलनों में मुख्य है। प्रतीक का प्रयोग बिम्ब अथवा प्रतिरूप आदि के अर्थ में किया जाता है। प्रतीक की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक शब्द के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे शब्द का उल्लेख ही प्रतीक है। स्वप्न रूप में तो भाषा और शब्द की भी प्रतीक ही कहा जायगा क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक या दृश्यात्मक शब्द की निहित रखता है। परन्तु हमका अर्थ यह नहीं है कि भाषा शब्द अथवा प्रतीक आदि में कोई अन्तर नहीं है और ये एक दूसरे के पर्याय हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। शब्द भाषा तथा प्रतीक में भारी पारस्परिक भेद है।

इसमें मुख्य अन्तर यह है कि शब्द अथवा भाषा प्रचलित विचारों के माध्यम हैं। शब्द अथवा भाषा के अभाव में हम कुछ भी अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यद्यपि प्रतीक के विषय में शायद यह है कि प्रतीक अर्थव्यवस्थात्मक रूप से या भावनात्मक समता के अन्तर्गत पर विविष्ट अर्थ को प्रकट करते हुए विविष्ट शब्द या शब्द समूह हैं। प्रतीकों के अभाव में भावामिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, परन्तु शब्दों के अभाव में वह असम्भव है।

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल दृश्यात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अमूर्त भावनात्मक शब्द की अनुकूलि करता है। इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर विन पद्यों का शब्द समूह में काम लिया जाता है वे प्रतीक कहलाते हैं।

1 'The Readers Companion to World Literature' Calvin C. Brown, p 230

आदर्शवाद का आचार और प्रेरक मानना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि ये ही वास्तव में वे तत्व हैं जो जीवन को सुजगदील बनाकर हासोमुसीबतियों से उसे विमुक्त और इस प्रकार से उसे सार्थक बनाते हैं।

महत्त्व —

पारचात्य वैचारिक अगत में आदर्शवादी विचारधारा अनेक रूपों में महत्त्व रखती है। प्राचीनता की दृष्टि से भी इसका प्रसार अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा अधिक है। प्राचीन पारचात्य पारत्र की यूनानी परम्परा में आदर्श के समीक्षात्मक रूपों को धर्म मानना से सम्बन्धित करके भी देखा गया। लॉजाइनस के उदात्तवादी विचारों को भी आदर्शवाद के ही एक रूप में मान्य किया जा सकता है क्योंकि इनका सम्बन्ध भी मानव समाज के सर्वतोमुखी उत्थान से है। जाने चलकर अपेक्षाकृत नवीन विचार प्रभासियों की तुलना में यद्यपि इस विचारधारा को मुख्यता नहीं प्रदान की गयी परन्तु इसका समानेव किसी न किसी रूप में उन सभी में होता रहा।

### प्रभाववाद

स्वरूप, आरम्भ और क्षेत्र :—

“प्रभाववादी” अथवा इम्प्रेसिनिस्टिक आन्दोलन का आरम्भ उत्पीडनी सताम्बी के अन्तिम चतुर्दश में हुआ। यह आन्दोलन मूलतः चित्रकला के क्षेत्र में रहा। आधुनिक चित्र कला की बीनी का आरम्भ इसी वैचारिक आन्दोलन के काल से हुआ। अन्य चित्र रीतियों की अपेक्षा इसकी विशिष्टता का बोध चित्र के स्वरूप से ही मुख्यतः होता है।<sup>1</sup>

साहित्य के क्षेत्र में इसका आरम्भ बीसवीं सताम्बी के प्रथम चतुर्दश से हुआ। कर्मिष्ठ तथा धार्मिक आदि की पक्षना आरम्भिक प्रभाववादियों के अन्तर्गत की जाती है। रचनात्मक साहित्य में इसके रूप प्रायः काव्य के ही क्षेत्र में मिलते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी समीक्षा की प्रवृत्ति का जाने चलकर प्रचार हुआ जिसमें कृति के सम्पूर्ण प्रभाव के स्वरूप, प्रकार और भाषा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया

1 'Encyclopaedia of Painting' Miora, p. 246.

ता है। पाश्चात्य साहित्य समीक्षा के अन्तर्गत रिम्बो कोर्न मैलार्ने बेसरे, हापकिन्स, लयन ज्वायस तथा बर्नीनिया बुरक<sup>1</sup> आदि के विचारों पर इसका प्रभाव बताया जाता है।

### प्रतीकवाद

शब्द —

प्रतीकवाद पाश्चात्य समीक्षा के निर्धारक मानदंडों के आधारभूत आन्दोलनों में मुख्य है। प्रतीक का प्रयोग चिन्ह अथवा प्रतिरूप आदि के अर्थ में किया जाता है। प्रतीक की परिभाषा करते हुए यह कहा जा सकता है कि एक सत्य के स्तर पर दूसरे स्तर से जुड़ते जुड़ते दूसरे सत्य का उल्लेख ही प्रतीक है। स्थूल रूप से तो भाषा और शब्द को भी प्रतीक ही कहा जायगा क्योंकि प्रत्येक शब्द अपने आप में किसी न किसी भावनात्मक या दृष्ट्यात्मक सत्य की निहित रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भाषा शब्द अथवा प्रतीक आदि में कोई अन्तर नहीं है और ये एक दूसरे के पर्याय हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। शब्द भाषा तथा प्रतीक में भारी पारस्परिक भेद है।

इनमें मुख्य अन्तर यह है कि शब्द अथवा भाषा प्रभावतः विचारों के माध्यम हैं। शब्द अथवा भाषा के अभाव में हम कुछ भी अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यद्यपि प्रतीक के विषय में सत्य यह है कि प्रतीक अर्थवनात्मक रूप से या भावनात्मक समता के अस्तित्व पर विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हुए विशिष्ट शब्द या शब्द समूह हैं। प्रतीकों के अभाव में भावनात्मक सम्भव हो सकती है, परन्तु शब्दों के अभाव में वह असम्भव है।

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल दृष्ट्यात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अमूर्त भावनात्मक सत्य की अनुकूलि करता है। इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर विन शब्दों या शब्द समूह से काम लिया जाता है वे प्रतीक कहा जाते हैं।

1 'The Readers Companion to World Literature' Calvin C. Brown, p. 230

यहाँ पर समता का प्रयोग और अर्थ केवल दृष्ट्यात्मक समता ही नहीं है, क्योंकि किसी अनूर्त भावना की अभिव्यक्ति करते समय प्रतीक उस अनूर्त भावनात्मक सत्य की अनुकृति करता है। इस प्रकार की समता प्रतीकात्मक समता होती है तथा इन समताओं पर जिन चर्चों या सभ्य समूह से काम लिया जाता है, वे प्रतीक कह सकते हैं।

प्रारम्भ —

पारंपारिक साहित्य और कला के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में आधुनिक युग में प्रतीकवाद का प्रवर्तन फ्रांस में हुआ। यूरोपीय देशों में फ्रांसीसी भाषा के साहित्य में ही सर्वप्रथम विविधता के साथ प्रतीकों का प्रयोग आरम्भ हुआ। फिर इसका प्रसार और मायता यूरोप के अन्य देशों इंग्लैंड, जर्मनी तथा अन्य महाद्वीपों अमेरिका आदि में भी हुआ। कमसे कम विविध आन्दोलनों से प्रभावित होता तथा उनको प्रभावित करता हुआ कला और संगीत में प्रभाववाद का समकालीन आन्दोलन हुआ। जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है, दर्शनों के अर्थ जितन के दर्शन से प्रारम्भ होकर उच्चदर्शी सत्ताओं के उत्तरार्थ के आदर्शवादी आन्दोलन से सम्बन्ध हो गया।

यह स्वच्छन्दतावाद से तो पहले से ही इस अर्थ में भी सम्बन्धित या क्योंकि न्यूनाधिक रूप में यह वाद उसकी एक प्रवृत्ति के रूप में भी अपनी स्थिति रखता है। यों इसका संबंध अप्रत्यक्ष रूप से नव ज्येटोवाद के विश्व की रहस्यमय चारणा से भी रहा है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी प्रकार की रूप भाव, मुद्रा आकार, प्रयोग अदि की समता के कारण किसी साधारण के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त होती का प्रतीकवाद कहा जाता है। विविध अनुसृतियों के सूचक विभिन्न शब्दों को भी उन्हीं के समान पुनः वामे अन्य भावों को भी प्रतीकवादी कहा जाता है।

इस प्रकार से प्रतीकवाद की विचारधारा किसी प्रकार की असाधारण अथवा असामान्य प्रवृत्ति पर आधारित न होकर अभिव्यक्ति की एक सहज शैली मानी जानी चाहिए। इसमें विशेषता इतनी अवश्य है कि किसी भी अर्थ की प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्ति किसी दूसरी वस्तु के द्वारा की जा सकती है। अतः प्रतीकवाद को इस प्रकार से भी परिभाषित किया जा सकता है कि प्रतीक के रूप में किसी विषय का अभिव्यक्ति करना ही प्रतीकवाद है।

आधार और प्रक्रिया :—

प्रतीकवाद एक साहित्यिक प्रक्रिया के रूप में भाषा की विविधता अथवा

समीक्षण पर आधारित है। यह शिथिलता अनेक स्तरों से अभिव्यक्त है। इन्हें आत्मवाद अथवा अस्म्यवाद, सादृश्य तथा प्रत्यक्ष बिम्ब कहा जा सकता है। स्पृश रूप से प्रतीक के बितने भी रूप होते हैं उनका आधार तथा सम्भावनाएँ उपर्युक्त स्तरों पर ही होती हैं। प्रतीकवाद साहित्य के क्षेत्र में दर्शनी की गभीरता के कारण इसलिए भी साम्य है, क्योंकि इसका विज्ञान विविध प्रकार और क्षेत्रों में सम्भावित है।

किसी भी प्रत्यक्ष अथवा अचेतन पर्याय को देखने पर हमारे हृदय में कोई न कोई भावना जगमग सेती है। यह भावना स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान किसी ऐसी वस्तु की ओर नै आती है जो गुण में उसी वस्तु के समान होती है, परन्तु वह एक प्रकार से भावनात्मक रूप से ही अपना अस्तित्व रखती है।

इस प्रकार से प्रतीक प्रचलित रूप में किसी भी अभिव्यक्त अभिव्यक्ति होती है। उदाहरण के लिए उपा को हम किसी भी प्रकार के उत्साह भाषा, गभीरता तथा गहनजीवन का संकेत मानते हैं और इसी कारण उसको प्रतीक के रूप में हम सबके लिए प्रयुक्त करते हैं। इसी प्रकार से किसी ऊँचे पर्यंत को देख कर हमें उसकी दृढ़ता, स्थिरता अन्वीर्यता आदि का बोध होता है तथा इनके लिए हम उसका प्रयोग प्रतीक के रूप में करते हैं।

**प्रतीक क्षेत्र —**

प्रतीकों के हम दो क्षेत्र कर सकते हैं (१) साहित्यिक प्रतीक तथा (२) वैज्ञानिक प्रतीक। साहित्य में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, उनमें भावनात्मक तथा अर्थगत साम्य का तथा इसके साथ ही प्रतिनिधित्व का भी ध्यान रखा जाता है। परन्तु विज्ञान में एक प्रतीक किसी विशिष्ट पर्याय अथवा बिम्ब या विचार को किसी प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है।<sup>१</sup> इस प्रकार से बाह्य अथवा स्मृत विशेषताओं में साम्य रखते हुए भी इनमें विषय के अनुसार पर्याप्त अन्तर हो जाता है।

**क्षेत्र विस्तार —**

प्रतीकों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। अनेक प्रतीक ऐतिहासिक, धार्मिक तथा

१ इस विषय में विशेष विवरण के लिए दृष्टव्य  
R. M. Eaton: 'Symbolism and Truth' 1923.  
H. Flanders Dunbar: 'Symbolism in Medieval Thought.'



अन्य क्षेत्रों में मान्य हैं, जिनकी परिधि मानव जीवन के अन्य पक्षों को भी आबखित कर लेती है। इसी कारण कुछ प्रतीक स्थायी रूप से मान्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिये संसार के प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज उसकी सम्पूर्ण एकता का प्रतीक होता है।

इसी प्रकार से प्रत्येक देश में धार्मिक तथा ऐतिहासिक चिन्ह तथा चरित्र भी ऐसे होते हैं जो बहो की परिवर्तता और देवत्व के भी प्रतीक होते हैं। इसलिए प्रतीकवाद को कोई असामान्य विचारवाद नहीं मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रतीकों का प्रयोग साहित्य बचवा कला के साथ ही साथ सामान्य और व्यावहारिक जीवन में भी बहुलता के साथ अत्यन्त स्वामयिक रूप में किया जाता है।

दूसरे पक्षों में यह कहा जा सकता है कि एक प्रकार से हमारे चारे कार्य जसाप ही प्रतीकारमक होते हैं। भाव प्रेषण की अनुसूति के व्यक्तीकरण के जितने भी माध्यम होते हैं उन सबको इस दृष्टिकोण से प्रतीकारमक कहा जा सकता है। इसी प्रकार से भाषाएँ तथा शब्द आदि भी इसीलिये प्रतीक हैं, क्योंकि प्रतीकों का मुख्य कारण एक माध्यम के रूप में ही होता है और वे मध्यस्वता करने वाले होते हैं।

प्रतीकवाद आरम्भ में अपने मौलिक बचवा रूप में प्रयोज किया जाता था। तब यह किसी पदार्थ के साम्य की ओर संकेत करने वाले चिन्ह बचवा प्रतिक्रम तक ही सीमित था। बाद में क्रमशः इसका क्षेत्र की दृष्टि से भी विस्तार होता जाता गया और अर्थ का विस्तार इन संकेतों चिन्हों तथा प्रतिक्रमों की परिधि से असम की होता गया। फिर विविध चिन्ह विविध जीवन परिदृश्यों का सूचन करने के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे और प्रतीकारमक सम्भावनाओं का विकास होता रहा। इससे यह बोध भी होने लगा कि मनुष्य के जीवन का साध कार्य कलाप इतना सांकेतिक होता है कि उसे किसी न किसी प्रकार से अचरम ही प्रतीक बख किया जा सकता है।

सामान्य अर्थ संतुष्टि आदि की जितनी भी लंजीय कियाएँ एक मनुष्य की होती हैं वे सूच रूप में प्रतीकारमक होती हैं यही नहीं बरिच व्यावहारिक जीवन के अतिरिक्त भी प्रतीकारमक सूचों का महत्व और अर्थ होता है। उदाहरण के लिए हमारे अचरमन में जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं तथा जिन बचवहार्य संकेतों की उद्भावना हमें होती है, वे भी किसी न किसी व्यावहारिक यमार्थता का सूचन करते हैं। इस प्रकार से प्रतीकारमक सार्थकता का प्रकार न केवल मनुष्य के जगन क्रिया कलाप से होता है, बरन् उसके अचरमन पर भी उसका प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।

कार्य और आवश्यकता —

केवल बर्क कहता है कि प्रतीकों का काम किसी वस्तु के एक प्रतिरूप अथवा प्रतिरूप का धार्मिक साम्य है। इसका प्रयोग कृति में सरसता की उद्भावना करता है जिससे कि मातृ भाव या अनुभूति विचार बोधात्म्य हो सके। इस प्रकार से प्रतीकों का काम संक्षेप में निम्नलिखित बताया जा सकता है (क) किसी वस्तु की व्याख्या करना, (ख) उस वस्तु को स्वीकार्य बनाना (ग) पलायन के रूप में (घ) किसी प्रगुप्त या दमित भावना या अनुभव का उद्घाटन करने की चेष्टना या व्यपत्ति प्रदान करना तथा (ङ) अक्षररूप अथवा प्रदर्शन करना।

प्रतीकवाद की आवश्यकता इस कारण से भी प्रतीत होती है, क्योंकि मनुष्य के जीवन की विविधता तथा अनुभवों की विचरता के कारण शब्द अथवा साध्यात्म एक प्रकार की अपूर्णता प्रतीत होती है। मनुष्य में प्रत्येक युग अनुभूति अथवा भावना के लिए एक शब्द अथवा नाम की निमित्त की है। सामान्य रूप से इस एक शब्द अथवा नाम से उनका काम बतलाता है तथा किसी अतिरिक्त माध्यम की आवश्यकता उसके लिए नहीं पड़ती। परन्तु यह केवल उनके सूक्ष्म प्रयोग के विषय में ही सत्य होता है। जहाँ किसी सूक्ष्मतर प्रयोग की अपेक्षा होती है, जहाँ यह अपर्याप्त आभासित होता है। इसीलिए प्रतीक के रूप में उसे पूरा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त इस माध्यम के स्वीकरण के लिए जो मूल कारण रखी है, वह यह कि किसी भी अपूर्ण वस्तु के लिए किसी ऐसी ही वस्तु से चयन भी किया जा सकता है, जो कम से कम उनकी अपेक्षा अधिक पूरा हो। अतः मानवीय कार्य कक्षा के लिए शब्द अथवा माध्यम का चयन भी किसी ऐसी वस्तु से हो सकता है, जो उनकी अपेक्षा पूर्णतर हो और इस दृष्टिकोण से मनुष्य प्रकृति में खोज करता है, क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा प्रत्येक दृष्टिकोण से पूरा सिद्ध हुए है।

इसीलिए मानवीय भावनाओं तथा अनुभूतियों के लिए प्राकृतिक प्रतीकों का उपयोग होता है। परन्तु यह केवल इसकी एक आधीव सम्भावना हुई। इसी प्रकार से शब्द अनेक ऐसे शब्द हैं, जो प्रतीकवाद की उद्भावना और विकास के इतिहास के पीछे कार्य-धीन रहे हैं तथा जिनसे यह भी सात होता है कि प्रतीकवाद यों तो पाश्चात्य चिन्तन की एक प्रमुख आधुनिक विचारधारा के रूप में मान्य है परन्तु मूलतः इसका सम्बन्ध पूर्व अस्मिन्वित्त की जनस्था से है और इसी कारण से इसका प्रसार और शब्द विस्तार भी बहुत अधिक है।

साहित्य क्षेत्रीय माल्यता —

पारचास्य साहित्य और कला विस्तार के क्षेत्र में प्रतीकवाद का स्थान एक विविष्ट आन्दोलन के रूप में महत्व रखता है। वहाँ एक विविष्ट साहित्य चार्च के रूप में प्रतीक-वाद का आरम्भ सन् १८८६ में 'छात्रपारो' में प्रकाशित एक शोधना के द्वारा हुआ। यह शोधना उस दस द्वाय प्रकाशित की गयी थी जो गत बीस बरों से परामनवादी धारा (किन्टेंट स्कूल) के नाम से विख्यात था। इस प्रकार की साहित्याभिव्यक्ति में शब्दों का प्रयोग साहित्यकार की विविध मनोरथाओं का समर्थन करने के लिए होता था, बजाय इसके कि वे विषयगत बौद्धिक विचारों का प्रतिनिधित्व करें। इस शोधनायन का आशय यह था कि प्रतीकवादी काल्य विचार ज्यया मात को ऐन्द्रिक रूप से आकृत करना चाहती है जो उसका सम्पूर्ण श्वेय नहीं है—इस प्रकार इस कला में समस्त मूर्त वृत्तय मान् बस्तुएँ केवल ऐन्द्रिक उपम्यात हैं।

प्रभाव —

साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रतीकवाद का जो प्रभाव पड़ा उसके मुख्य प्रेरक मेसारमे माने जाते हैं। प्रतीकवादी समीक्षा के मुख्य शोधकों में इसके अनुगमनकर्ता कवि आदि ही रहे। साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवादी आन्दोलन के विकास की वृष्टि से इसके स्पष्टीकरण का पहला प्रयत्न सन् १८८६ में हुआ। इस वर्ष जिनपोरो नामक कवि ने 'फिमारो' नामक पत्र के १८ सितम्बर के अंक में एक शोधनायन प्रकाशित किया। इसी समय से प्रतीकवाद का विकास एक संनठित आन्दोलन के रूप में होने लगा। बार में प्रतीकवाद के मुख्य शोधकों में योरप के फ्रांस तथा अन्य देशों के जिन साहित्यकारों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, उनमें एडगर एलन पो, बोदलेयर, कारनर, रोबेन बास ला फ्राव, सिगिनन मेटर्निक तथा हाउसपेन आदि हैं। इनके अतिरिक्त अन्य योरोपीय साहित्यकार भी इस आन्दोलन से प्रभावित हुए, जिनमें टी० एच० व्हिन्ट बेन्ज ज्वायेस, ड्यू० बी० ईट्स तथा यूजीन ओ नीत आदि हैं।

महत्व —

वैता कि ऊपर उक्त किया गया है, साहित्य और कला के क्षेत्र में एक आन्दोलन के रूप में प्रतीकवाद का जन्म १९वीं शताब्दी के अन्तिम शतकाँस में सन् १८८६ के लगभग फ्रांस में हुआ। यह वह युग था का जब पारचास्य देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में यथार्थवाद का सर्वाधिक प्रचार था। बीरे-बीरे यह प्रचार और प्रभाव रतना

अधिक बड़ गया कि साहित्य के क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया हुई और उसके फलस्वरूप प्रकृतवाद का जन्म हुआ। यह बात भी धीरे-धीरे सम्पूर्ण यूरोप में फैला तथा अपने चरम रूप में इसका विस्तार होता चला गया। पुनः इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई तथा इस बार इस प्रतिक्रिया के रूप में प्रतीकवाद का जन्म हुआ, जो यथार्थवाद तथा प्रकृतवाद और अतियथार्थवाद के विरुद्ध आदर्शवाद का पोषक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यह था कि यथार्थवादीक मूल चित्रणों तथा अभिव्यक्तियों को रोक जाय। इसीलिए इस आन्दोलन के फलस्वरूप साहित्य तथा कला के क्षेत्रों में साहित्यकारों और चित्रकारों द्वारा प्रतीकों का प्रयोग किया जाना आरम्भ हुआ। अब यथार्थ चित्रण के स्वान पर प्रतीकवादीक चित्रण किये जाने लगे और कल्पना इसी प्रवृत्ति का अभिकाविक प्रसार होता चला गया।

### अज्ञेयवाद

'अज्ञेयवाद' अमेरिकी के 'रेनार्डिस्टिगम' का हिन्दी अनुवाद है। इसका प्रयोग अमेरिकी में सर्वप्रथम टामस हैनरी हक्सले के द्वारा किया गया था। हक्सले ने छठीसवीं शताब्दी में इस मत का समर्थन करते हुए उसके महत्व को स्वीकार किया था। अज्ञेयवाद के पोषकों के अनुसार इस संसार में बितने भी पूरव तत्व हैं, वे अज्ञेय हैं। इसी कारण से उनके विषय में किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच सकना अनुभव के लिए सम्भव नहीं है। इनके सम्बन्ध में जिस ज्ञान का प्रदर्शन बिज्ञान करते हैं, वह केवल उनकी बौद्धिक समझ का स्रोतक होगा है और ईस्वर प्रभवा आत्मा जैसे कुछ विषयों के समझने के लिए याद रूक दृष्टिकोण के रूप में उनका महत्व स्वीकार किया जा सकता है।

इस बात के समर्थक ईस्वर की सत्ता में आस्था न रखते हुए भी उसे पूर्णतः अस्वीकार नहीं करते क्योंकि उनके विचार से यदि ऐसी किसी शक्ति की कल्पना अनुभव्य कला है तो वह सब भी हो सकती है, परन्तु उसकी सत्यता की परीक्षा सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके विषय में किसी प्रकार का कोई ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। इस प्रकार से इस मत के अनुसार इस संसार में कोई असीमित शक्ति या ईस्वर का अस्तित्व सम्भव होता परन्तु यह भी निश्चित है कि वह अज्ञेय भी है। इस मत के प्रमुख पोषकों में कर्ट, हर्बर्ट स्पेंसर तथा कान्ते आदि हैं।

## अभिव्यजनावाच

स्वरूप

अभिव्यजनावाच या एक्सप्रेसनिज्म कक्षात्मक अभिव्यक्ति के रूप को कहते हैं जो किसी परिस्थिति के मूल भावों की बाह्यप्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। आधुनिक अर्थों में 'एक्सप्रेसनिज्म' शब्द का अर्थ या तो किसी आन्तरिक तथ्य का बाह्यप्रकृति प्रकट या स्पष्ट करना या प्रतिनिधित्व करना और या सामान्य रूप में एक वस्तु द्वारा दूसरी की ओर संकेत करना होता है।

आरम्भ —

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इस वाद का आरम्भ आधुनिक युग में सन् १९२० ई० के लगभग जर्मनी में हुआ। यों उन्नीसवीं सताब्दी के अन्तिम वर्षों में भी कहीं-कहीं इसके संकेत मिलते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद यह जर्मन साहित्य में विशेष रूप से नाटकों में अपने पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। यह फ्रेड वेडकाइच के 'अवेरनिज्म आफ् थ्रिन' तथा आगस्ट विल्डबर्ग के 'दि स्पूक थोनाटा' आदि नाटकों में बीज रूप मिलता है। वे उनके परिचों के अवगुणों या विशेषताओं को कल्पना से भी बटाते थे। इनकी भाषा बहुत प्रभावपूर्ण होती थी लेकिन उसमें आत्मा विषयिपूर्ण स्वभाव कल्पन भी हो सकता थे। इनका कार्य आकस्मिक काल्पनिक या बहु आचारित भी हो सकता था जिसका निर्माण कसा चालुय और गम्भीर प्रभावशुद्धता से होता है।

कोने —

'एक्सप्रेसनिज्म' एक ऐसा तत्व है जो किसी-किसी रचना में किसी अपनायी हुई विधि के बजाय प्रेरणा देता या प्रकाशित करता है। कोने (१८९९-१९३२) ई० ने यह तथ्य स्पष्ट रूप से बताया है कि कसा सर्वत्र आत्माभिव्यक्ति का एक रूप है। उसके विचार से जो कुछ भी अस्तित्व रखता है, वह बाह्य नहीं है यद्यपि अस्तित्व अन्त ही

अपने स्वयं के उद्देश्यों को गुप्त रख सकता है। स्टाट जेम्स न श्लेसे के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि क्रासे में पृथ्वी पर जिस भवन का निर्माण किया है उसका कोई आधार नहीं है। वह कला के विषय में लिखता है और वह कलाकार से सहाह लेना मूल गया है। यदि वह उससे राय लेता, तो वह उसे बताता कि कला का सम्पूर्ण कार्य संसार को कुछ सन्देश देना है और यह कि वह कोई सुन्दर वस्तु होगी। क्रासे सन्देश के विषय में बिल्कुल मूल गया है। उसका विचार है कि श्लेसे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता। अधिक से अधिक उसका भाषण एक स्वयं कवन हो सकता है। उसका कला के विषय में अपना विचार यह है कि कला भाषा से सम्बन्ध रखती है। वह किसी नौ माध्यम से प्रकट की गयी हो यह गीग बात है। उसने श्लेसे तथा आर्नस्ट बान्ते, अरस्तू या गेटे आदि की वैचारिक विम्बा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सिद्धान्त —

सिसरो, होरेस तथा क्विन्टिलियन और बोविव आदि के उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी रचना में अभिव्यक्ति करने के प्रयोग की मापा कथन के सम्बन्ध में तीन प्रकार से व्याख्या हो सकती है (१) उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्ति, (२) समान रूप से उद्देश्यपूर्ण प्रदर्शन अथवा संकेत और (३) मनोवैज्ञानिक आन्तरिक स्थिति। उपर्युक्त मानसिक विचारों के अतिरिक्त तीन मुख्य सिद्धान्त हैं, बिनकी सहायता से एक्सप्रेडिगम को कहीं पहचाना जा सकता है (१) जिस अभिव्यक्त किया जाता है (२) जो अभिव्यक्त करता है और (३) जिसके माध्यम से अभिव्यक्त किया जाय। इनमें से प्रथम से सम्बन्धित एक और आधुनिक सिद्धान्त है, जो किसी अभिव्यक्ति के वाह्याकार के प्रकटीकरण को यह समझता है कि वह उसे अस्तित्व से बिल्कुल निकाल देना है। यह एक महत्वपूर्ण बात है कि अभावों की अभिव्यक्ति और पहचानी हुई अभिव्यक्ति में काशी अन्तर है।

प्रमुख तत्व —

किसी कला में अभिव्यक्ति को सर्वत्र उसकी प्रक्रिया में एक मुख्य तत्व तथा अभिव्यक्ति का कार्य में एक प्रमुख तत्व माना जाता है। कर्त्तविकृत काव्यशास्त्र में अभिव्यक्ति की आकार या रचना से कम महत्वपूर्ण माना गया है। कर्त्तविकृत नियम का व्यवहार और सिद्धान्त सर्वत्र यह रहा है कि यद्यपि कला में किसी विचार या अनुभूति

की अभिव्यक्ति महत्वपूर्ण हो सकती है परन्तु बिना किसी रचना के यह असम्भव है जो अभिव्यक्त करने योग्य होती है।

अभिव्यंजना की रचना के विरुद्ध मिस्सम्बेह आधुनिक सीन्डर्य धास्त्रियों की मुख्य समस्या वेसिंग के "सावाकून" का उस नियम से असत हो जाने का विषय है। वेसिंग के बाद यूरोपीय सिद्धान्त अभिव्यंजना के महत्व पर अधिक धोर देने लगा है और इस प्रकार अन्त में एक ऐसी स्थिति को पहुँचता है जहाँ से सतिष्ठ कला को एक उद्देश्य के निर्माण के लिए प्राथमिक नहीं माना जाता, सक्रिय किसी विचार की अभिव्यक्ति के समान या व्यवहार में एक अनुभव की रिपोर्ट समझा जाता है। सतिष्ठ कला विषयक यह धारणा यूरोप में सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में व्याप्त रही। और पचासि बीसवीं शताब्दी में उसकी बहुत आलोचना हुई है, तब भी अभिव्यंजना से यह हमारे समय की सीन्डर्य विषयक सामान्यतम धारणा है। जोसे इसका प्रमुख वैज्ञानिक प्रचारक है। उसके सिद्धान्त का आधार यह है कि अभिव्यक्ति और सतिष्ठ कला दोनों एक दूसरे से मिलते जुलते हैं, और इस प्रकार शूकि सब सतिष्ठ कलाएँ अभिव्यक्ति हैं सब अभिव्यक्ति सतिष्ठ कला है।

कला —

जोसे कला की समानता और सीन्डर्य का समर्थन करता है और उसे उल्लेख पृथक करता है, जिन्हें सामान्य रूप से कला कहा जाता है। उसका विचार है कि सीन्डर्य वस्तुओं का कोई गुण नहीं है चाहे वे पेड़ हों या पत्थर के टुकड़े लेकिन अन्य प्रकार के महत्व के समान केवल किसी आरिथक क्रियाशील के स्वभाव क रूप में उत्पन्न होता है।<sup>१</sup> इसलिए जोसे, हीरोस प्रोपेनहावर तथा किसी सीमा तक कांट के विचार के अनुसार कला ज्ञान का एक रूप है, या वह हमारी प्रकृति के व्यावहारिक पक्ष के विरुद्ध सम्भवतः शैक्षणिक है।<sup>२</sup>

महत्व —

पाठशास्य वैचारिक आन्दोलनों के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद का विधेय रूप से महत्व है। कला और साहित्य में विद्युद्ध अभिव्यंजना को प्रधानता देने वाली यह विचार

१ डे. रि. प्योरी भाक श्रुटी: कोरिड।

२ डे. विस्वामरी भाक कर्न तिदरेरी शम्भे: सिक्ले।

प्रधानी सीम्बर्य विज्ञान का आचार लेकर अोजाकृत व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुई।  
 कोच ने इसे विस्तृत और महत्तर अर्थ दिया है। उसने अभिभंगना को अन्तरंग बताया  
 है, जो अपने आप में साहित्य और कला की अरम परिधि है। जैसे बतकर यद्यपि अन्य  
 बातों की भाँति इस बाद के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के अंजन और यंजन की वृत्ति से  
 कुछ मतों का प्रचलन हुआ, पर विद्वत् सीम्बर्यवादी दृष्टिकोण से साहित्य अथवा कला  
 का अतीव्य करने वाले एकमात्र मान्य के रूप में इस विचारधारा का विधि महत्त्व  
 निविदा है।

### रूपवाद

स्वरूप —

रूपवाद या "कार्यनिष्ठ" यह प्रयोग या सिद्धान्त है जो निर्धारित या बाह्य  
 रूपों का कट्टर अनुगामी या उस पर निर्भर कहा जाता है, विशेष रूप से धार्मिक विषयों  
 में, और इसका कोई भी असाधारण बाह्य धार्मिक रूपों को बिना अर्थ की प्रवृत्ति या जीवन  
 के उसका उपयोग करना या अनुसरण करना है। नाटक में यह उस नाटकीय प्रतिनिधित्व  
 को कहा जाता है, जो उत्साह के सभी तत्वों को आचार्य या स्वतंत्र अर्थों में अर्थात्स्वामी  
 रचनात्मक वृत्तभूमि का उपयोग करके, सीमाबद्ध कर देता है। अतिरिक्त कलाओं में इस  
 स्वतन्त्रता के लिए ही गई अज्ञान या अतर्कता को कहते हैं, विशेष रूप से विश्व कला या  
 मूर्तिकला में निर्धारित या परम्परागत रचना के नियमों को।

आरम्भ —

रूपवाद की स्थापना सबसे पहले रूस में आलोचना के क्षेत्र में सन् १९२० ई०  
 में हुई। लगभग एक दशक तक वहाँ इसकी प्रधानता रही। इस सिद्धान्त के आचार पर  
 कला में पितृ का ही विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। इसीलिए कोई कलाकार  
 पितृ विभाग में विश्व कला का प्रयोग करता था या विश्व रूप की योजना करता था,  
 उसी का महत्त्व होता था।

प्राचीनता —

आकार या रूप किसी अर्थ के विशेषता को कहते हैं, जो अनुभव की पथी हो,  
 या वह रचना जिसमें किसी अनुभव या किसी वस्तु के तत्वों को संशोधित किया गया



हो। रूप विषयक चारणा उस आभोजनात्मक सिद्धान्त के प्राचीनिक लेखों से प्राचीनतर है और पूर्व में भी उतनी ही सामान्य है। चितनी परिधि में विद्येय रूप से सृष्टि निर्माण की विधि के विचार के विषय में जिसमें बनायी जाने वाली वस्तु के विषय में मानसिक विचार या रूपना को उस वस्तु का रूप या सिद्धान्त माना जाता है। प्लेटो के अनुसार रूप या किसी वस्तु के विचार अपनी सांसारिक उत्पत्ति से बलवत्, पूर्ण रूप से पूर्वस्थित होते हैं और जो इस प्रकार एक अनुकरण होता है। प्लेटो तथा अरस्तू के सिद्धान्तों पर आधारित रूप का आधुनिक अर्थ किसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का एक उदाहरण है। किसी वस्तु या अनुभव की विशेषता या रचना क सन्दर्भ में इनके विशेषण या वर्णन का तात्पर्य रूप शब्द है, जिस प्रकार वह एक आकार या रूप प्रदान करता है।

पूर्व साम्यपूर्ण —

अरस्तू के विचार में रूप उन चार कारकों में से एक है जो पूर्णतया किसी वस्तु के अस्तित्व का आधार होते हैं। कारण चार होते हैं (१) उत्पादक, (२) उद्देश्य (३) विषय और (४) रूप। इनमें से प्रथम दो बाह्य होते हैं और अन्तिम दो आन्तरिक। विषय उसे कहते हैं जिससे कोई वस्तु बनती है और रूप उसे कहते हैं जो उसे आकार देता है। इसलिये अरस्तू के अनुसार रूप केवल आकार ही नहीं है, बल्कि आकार प्रदान करने वाला भी है, केवल रचना या विशेषता ही नहीं है, बल्कि रचना व सिद्धान्त भी है, जो विशेषता देता है। अतः अरस्तू की चारणा है कि किसी कला कृति में रूप केवल रचना नहीं है (संशुद्धि अर्थ में) बल्कि वह सब कुछ है, जो किसी उत्साह्य विशेषता का निर्धारण करता है। अर्थ या अधिभ्यति और रचना भी बाह्य तत्व है। इस प्रकार किसी आधुनिक कृति के विषय को सामान्य रूप में उसकी वस्तु के समान माना जाता है जिसके लिए किसी कृति का अर्थ या एक सन्दर्भ होता है या स्वयं उस अर्थ के साथ और रूप तब कबल वही हो सकता है, जो एक कृति की विशेषता में से दोप रूढ़ गया हो, जब कि उसका अर्थ निकाल दिया गया हो, अर्थात् केवल उसकी भौतिक रचना और विशेष रूप से उसकी अर्थ रचना।

व्याख्या —

जित्त विषय से कोई कवि अपनी कविता तैयार करता है, वह उसके समय या स्थान की भाषा होती है। लेकिन जब कोई कवि अपना कार्य करता है, यह भाषा किसी की प्रकार से एक रूप हीन विषय नहीं होती बल्कि वह स्वयं कला से उत्पन्न होती है।

और मनुष्यों के द्वारा युगों तक रूप का वस्तु के ऊपर नादा जाता होती है। जब एक सेवक अपना कार्य धारण करता है, तब उसकी सामग्री बाह्य तल से कुछ होती है, लेकिन वृत्ति के सर्वे बाह्य तल रहते हैं, वैसे कि उसके समान ही वह कार्य से ललित होता है के सब उसके लिए उस विषय का एक बंध है, जो उसे स्पष्ट करता है।

उसके कार्य का आकार वह आकार है, जो वह अपने आकारों के समूह पर लाया है और जब अधिक कुछ विषयों पर उसे सम्पूर्ण रूप से एक रचना का आकार और स्वरूप अपने द्वारा विचारों पर कार्य देने के द्वारा। जो आकार वह लाता है, वह उसके द्वारा बड़े गए बलव्य की एक अनोखी पूर्ण विशेषता होती है। जब तक उसका कार्य समान नहीं हो जाता वह नया आकार, जो वह अपनी माया पर लाता है एक विचार होता है, योड़ा या बहुत बलव्य रूप में उसके मतिउत्क में विचार कर में जाता है, वह किसी वस्तु का विचार, जो बलव्य किया जाता है।

किसी बात की अभिव्यक्ति करने के लिए वह आवश्यक है कि किसी रूप को किसी विषय पर लाया जाए और इस प्रकार रूप का किसी विषय पर लाया-जाना इस विषय को स्पष्ट करता है, जो कोई बात अभिव्यक्त करता है। इस किसी पूर्ण इति में इस बात की प्रसंग नहीं करते कि विषय और आकार एक में संयुक्त कर दिए गए हैं लेकिन उस प्रांसमीय आकार की करते हैं, या विषय के साथ संयुक्त कर लिया गया है।

महत्त्व :-

रूपवाद के नियम में यह स्पष्ट विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि इसमें मानवैवाच से पूरा विशेष हुआ। कृती कल्प के बाद यह सम्प्रसार धीरे-धीरे बनेजाएन कम प्रकलित होला गया। सभ्यता में कला और उसके व्यावहारिक उद्देश्य धारि को लेकर विचारकों में मतभेद रहा। मानवैवाची विचारधाराओं का प्रभाव बढ़ा। आधुनिक समीक्षा के क्षेत्र में जी अभाववादी मानवैवाच की प्रकृति नर ही विशेष रूप से प्रचार है। इसलिए रूपवाद का विचार प्रयासियों के विच्छन्न में मुख्यतः ऐतिहासिक महत्त्व ही रह गया है।

## अस्तित्ववाद

स्वल्प और आरम्भ —

अस्तित्ववाद संसार की आधुनिकतम विचारधारा के रूप में एक विशिष्टता रखता रहता है। इसका आरम्भ मूलतः उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। यों तो अस्तित्ववाद एक दार्शनिक प्रवाही है परन्तु साहित्य में इसका प्रभाव विशेष रूप से बुष्टिगोचर होता है। साहित्य में अस्तित्ववाद का आभय भेग वालों में सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध दार्शनिक साहित्यिक लेखक क्यों पास सारत्र हैं जिन्होंने इस विचार धारा को नया मोड़ भी दिया है। दार्शनिक भयन में इस विचारधारा के प्रवर्तक चिन्तकों में जर्मनी के हेगेल तथा हेडेगर एवं डेनमार्क के कीर्कपाई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जब यह विचारधारा यूरोप के किसी विशेष देश तक सीमित न रह कर छारे विश्व में प्रसिद्ध और व्याप्त हो गयी है।

दार्शनिक रूप —

अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट या अतिरोध अपना संकल्पित का दर्शन है। यह संकटापन्न स्थिति ही इस विचारधारा के प्रति अन्याय विचारकों के आकर्षण का कारण है। इस विचारधारा के अनुसार हमारी आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है। अनुभवों द्वारा घोषित एक सत्य सहस्रों अनात्मवयक सत्तों से आवेष्टित रहता है जिसका फल यह होता है कि वह जल्दी ही लुप्त प्राय हो जाता है। उसे बच न पाने के कारण हम आचार रहित होकर समाज के प्रति आत्म समर्पण कर देते हैं तथा परिस्थिति के दास बन जाते हैं। एक आत्म भेदना पूर्ण विचार सहस्रों कल्पनाओं में विहीन हो जाता है जिसके कारण सत्य विहीन अन्तर्भेदना अचान्त रहती है तथा कार्य क्षेत्र में एक छद्म कायरता स्वयं के रोष के आचरण में कार्यशील रहती है। इस प्रकार आन्तरिक ज्ञान अश्वकारपूर्ण होता जाता है तथा अश्व मछा को कार्य का आचार मान लिया जाता है। इस ब्रह्म में भी संकट विद्यमान है। अस्तित्ववाद इस प्रकार के आध्यात्मिक संकट की बड़ी मौलिक न सटीक व्याख्या करता है तथा इन संकट के मण्डल को पूर्ण प्रतिभा से दूर करने का प्रयत्न करता है।

प्रत्येक युव अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया पर आधारित होता है। यह प्रतिक्रिया एक संकट को जन्म देती है। यह प्रक्रिया पिछले युग की मान्यताओं से

स्वतंत्र होने की क्रिया होती है। पिछली मान्यताओं की प्रतिक्रिया के बाजार पर ही नवीन मान्यताओं का जन्म होता है। इस प्रकार से इस प्रक्रिया के बीच एक समय ऐसा भी आता है जब कि प्राचीन पर से आस्था हट चुकी होती है तथा नवीन मान्यताओं के ऊपर बौद्धिक व भावनात्मक विश्वास पूरा रूप से नहीं बन पाया होता है। यही समय संकट का समय कहलाता है।

### आध्यात्मिक संकट —

बाद का संसार सैद्धान्तिक या क्लियरतमक क्षेत्र में से किसी की भी कर्म विधि से सर्व मान्य आध्यात्मिक मूल्यों की सत्ता स्वीकार नहीं करता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कांट के अनुमान पर आधारित दर्शन की सीमें दिखा दी थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों के सम्मुख महान् कार्य यह था कि अमूर्त बौद्धिकता के स्थान पर किसी नवीन सत्ता की स्थापना करें। इसके लिए उन्होंने दो मार्गों का आशय लिया। वे थे आदर्शवाद और निरिच्छत वाद। आदर्शवाद एक ऐसे दर्शन का निर्माण करता है, जो अपने में निहित विचारों के अतिरिक्त किसी बाह्य सत्ता को नहीं मानता था।

इसके विपरीत निरिच्छत वाद ज्ञान तथा ईश्वरी कृपा के स्थान पर अस्तित्विक संसार के सामाजिक तथा प्राकृतिक तत्त्वों की सत्ता मानता था। इस प्रकार प्रथम में विचार पूर्ण स्वतंत्र थे जब कि द्वितीय में विचार प्रकृति के अधीन थे। इस प्रकार प्रथम से अन्ततः मानववाद की सृष्टि हुई तथा दूसरी में आकर्षक अस्तुवाद को जन्म दिया। कला के क्षेत्र में यही दो पारस्परिक सम्बन्धतावादा तथा अपार्षवाद के रूप में प्रकट हुईं। धीरे धीरे प्रथम विचारवादा इतनी वैयर्थी हो गयी कि प्रत्येक अर्थ का प्रतिनिधित्व करने की चुनौती देने लगी। तथा दूसरी प्रकृति के आस्त्य की ओर ले जाने लगी। इतने पहले विरोध के कारण ही उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में आध्यात्मिक संकट उत्पन्न हो गया तथा वह बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में विद्यमान पड़ी।

### विश्वास :-

बीसवीं शताब्दी के किसी सर्वमान्य विद्वान्त की स्थापना नहीं की। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अत्यधिक धार्मिक आदर्शवादों के कारण आदर्शवाद अज्ञानवादा हो चुका था, अतः आदर्शवादों के निरिच्छत वाद की अपना प्रथम अन्वेषण। इस विचारवादा का पूर्ण विभाज्य अनेकानेक अन्वेषणवादी तथा अनुसंधानवादी विचारवादाओं के प्रचलन में

हुमा। वर्तन में, इस नवीन युग में, प्राचीन रीतियों तथा इसहाम की विचार बाध को अपनाया। इसका कारण यह था कि कुछ विचारवादी परम्परा से वे असन्तुष्ट थे, परन्तु यह असन्तुष्टि की परम्परा भी अधिक विकसित न हो सकी।

इस प्रकार से इस सताब्दी में पूर्ववर्ती विचारवादाओं की सत्ता से विरहास हुआ ही, तथा इसके साथ ही साथ किसी ऐसी नवीन व्यापारिक विचारवादा का सुजन न कर सकी जिस पर उसे आस्था हो। इस अनास्था ने एक ऐसे व्यापारिक संकट को जन्म दिया जिसका अंश किसी नवीन विचारवादा का प्रथम न होकर अराजकता की भाव ब्रूँस कर स्वीकार कर लेना था।

इस दृष्टिकोण की तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है, जो अनास्था को अनास्था के लिए स्वीकार कर लेता है, और विनाश का वरण कर लेता है। इसका प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नवीन प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव के रूप में आया, जिसके अन्तर्गत अपने आपको विभिन्न समूहों तथा मूर्त रूपों में गूँथित वह अनुपिप्त विज्ञाना श्रेयस्कर समझा जाता था। पिछली सताब्दी के अन्त तथा वर्तमान सताब्दी के आरम्भ में यह विचारवादा एक ऐसे फँसत तथा रीति के रूप में आयी कि इसके अधिभावकों तथा विपक्षियों दोनों ने परामर्श बाध की संज्ञा ली।

आरम्भ में यह बाध कला तथा साहित्य के क्षेत्र में था तथा बाद में यह दर्शन के क्षेत्र में नवीनता तथा साहित्यिकता बन कर अवतरित हुआ। इसी परामर्शबाध से अर्मन में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद का परामर्शबाध की सैद्धांतिक तथा दार्शनिक पुष्टधूमि के रूप में समावेश हुआ। अस्तित्ववाद भाव ब्रूँस कर भाषा के स्थान पर निराशा को महत्व देता है तथा यह मानता है कि अन्तिय रूप से लपट होकर ही मनुष्य अपने सक्षम को प्राप्त कर सकता है।

अस्तित्ववाद यह मानता है कि स्थिति तथी रह सकती है जबकि उस स्थिति के साथ ही अस्तित्व का आनन्द भी हो। अस्तित्ववाद स्थिति के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न व उद्भूत आनन्द को सम्पुलित करने के लिए धूम्यता के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न वरम पीड़ा को भी महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारवादा का प्रतिनिधित्व करता है। इस विचारवादा ने उस प्रक्रिया में सतिरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो कि निरन्तर बढ़ती हुई गति से पुरानी आस्थाओं और सत्ताओं को लपट करती जाती है तथा नवीन आस्था तथा सर्वमान्य सत्ता के निर्माण से इनकार कर देती है।

इस विचारधारा ने युग की संस्कृति में जाये हुए परामर्श के तर्कों का विवर्धन करने का प्रयत्न किया है और आज यह विचारधारा परामर्शवाद की सैद्धांतिक व्याख्या के रूप में सर्वस्वीकृत हो चुकी है। यह विचारधारा केवल मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती है तथा सुख व धार्मिक के लिए बस्तु स्थिति के प्रति आत्म समर्पण को त्याग्य समझती है। साथ ही साथ यह भी पूर्ण रूप से निश्चित है कि यह किसी भी मूल्य में न पड़ेगी। इन घटनाओं से पूर्व परम्परावादी दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का संकट कभी भी उद्भूत नहीं हुआ था तथा इसी कारण अस्तित्ववादी दर्शन में संकट का प्राधान्य मिलता है तथा इसी कारण ही संकटकारीन दर्शन के रूप में इसका उद्भव और विकास हुआ है।

क्षेत्र वैविध्य —

ऊपर यह कहा गया है कि अस्तित्ववाद परामर्शवाद का दार्शनिक प्रतिरूप है। यह परामर्शवाद की प्रवृत्ति के लिए नहीं बल्कि उसकी व्याख्या के लिए उद्भूत हुआ। परामर्शवाद एक साहित्यिक वाद न होकर एक आध्यात्मिक मनस्थिति का वातावरण है, जिसका प्रतिरूप हमें साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। दर्शन के क्षेत्र में यही अस्तित्ववादी दर्शन है। यह दर्शन आध्यात्मिक दर्शन है तथा इसके प्रभावान्तर्गत निम्न तथा काव्य दार्शनिक होते हुए भी लक्ष्मीमता की अपेक्षा भावनात्मकता की ओर अधिक झुका है।

इसकी सीसी व भाषा काव्य प्रयुक्त होने के कारण मुख्यतया सीन्दर्यवादी है। ईपर जब "साजें" या "सैस्पस" जब "आ धाक दि जे" तथा "पैसंस धर दि लाइट" जैसी शब्दावली का प्रयोग करता है, तो इस भाषा को काव्य के निकट ला सकता है। अस्तित्ववाद के साहित्यिक प्रभाव का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का प्रथम प्रयुक्त रूप में ही चुका है, विशेष रूप से अस्तित्ववादी मृत्यु के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है।<sup>1</sup> तियोरीक ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का साहित्यिक प्रयत्न जारी किया है।<sup>2</sup>

इसके अतिरिक्त ईपर ने मानव अस्तित्व के भीविठ चित्र प्रदर्शित किये हैं जो

1. K. Lehmann 'Der Tod bei Heidegger und Jaspers' (J Comares Heidelberg 1938) p. 70
2. C. Luporini 'Situazione libertaria nell'esistenza umana' (Le Monnier Florence. 1942) p 206

हुया। दर्शन में, इस नवीन युग में, प्राचीन रीतियों तथा इसलाम की विचार बाध को अपनया। इसका कारण यह था कि कुछ विचारवादी परम्परा से वे असन्तुष्ट थे परन्तु यह असन्तुष्टि की परम्परा भी अधिक विकसित न हो सकी।

इस प्रकार से इस छठावली में पूर्ववर्ती विचारवादाओं की सत्ता से विश्वास हटाया ही, तथा इसके साथ ही साथ किसी ऐसी नवीन व्यापारिक विचारवादा का पुनर्जनन न कर सकी, जिस पर उसे आस्था हो। इस अनास्था ने एक ऐसे व्यापारिक संकट को जन्म दिया जिसका ध्येय किसी नवीन विचारवादा का प्रणयन न होकर अराजकता को जाल बूझ कर स्वीकार कर लेना था।

इस दृष्टिकोण की तुलना एक ऐसे व्यक्ति से की जा सकती है जो अनास्था को अनास्था के लिए स्वीकार कर लेता है और विनाश का वारण कर लेता है। इसका प्रमाण साहित्य और कला के क्षेत्र में एक नवीन प्रकार के सांस्कृतिक अनुभव के रूप में आया, जिसके अन्तर्गत अपने आपको विभिन्न अमूर्त तथा मूर्त रूपों में नष्टित वह अनुचित विज्ञाना श्रेयस्कर समझा जाता था। पिछली छठावली के अन्त तथा वर्तमान छठावली के आरम्भ में यह विचारवादा एक ऐसे फँसल तथा रीति के रूप में आयी कि इसके अभिवादाओं तथा विपक्षियों दोनों ने परामर्श बाध की संज्ञा ली।

आरम्भ में यह बाध कला तथा साहित्य के क्षेत्र में था तथा बाद में यह दर्शन के क्षेत्र में नवीनता तथा साहसिकता बन कर अद्वैतित हुआ। इसी परामर्शबाध से अर्थन में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद का परामर्शबाध की वैज्ञानिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में उभावेष हुआ। अस्तित्ववाद ज्ञान बूझ कर भाषा के स्वान पर निराशा को महत्व देता है तथा यह मानता है कि अन्तिम रूप से नष्ट होकर ही अनुप्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अस्तित्ववाद यह मानता है कि स्थिति तभी रह सकती है, जबकि उस स्थिति के साथ ही अस्तित्व का आनन्द भी हो। अस्तित्ववाद स्थिति के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न न उद्भूत ज्ञान का अनुचित करने के लिए सुस्पष्टा के अनुभव पर विचार करने से उत्पन्न ज्ञान पीड़ा को भी महत्व प्रदान करता है। इस प्रकार यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा नुय की विचारवादा का प्रतिनिधित्व करता है। इस विचारवादा में उस प्रक्रिया में विरोध उत्पन्न करने की चेष्टा की है, जो कि निरन्तर बढ़ती हुई गति से पुनः आस्थाओं और सत्ताओं को नष्ट करती जाती है तथा नवीन आस्था तथा सर्वमान्य सत्ता के निर्माण से इनकार कर देती है।

इस विचारधारा ने युग की संस्कृति में आये हुए परामर्श के तरंगों का विरपेयन करने का प्रयत्न किया है और आज यह विचारधारा परामर्शवाद की सैद्धांतिक व्याख्या के रूप में सर्वस्वीकृत हो चुकी है। यह विचारधारा केवल मानव तथा उसके अस्तित्व के अतिरिक्त किसी अन्य बात पर ध्यान नहीं देती है तथा सुख व धार्मिक के लिए वस्तु स्थिति के प्रति आत्म समर्पण को त्याग्य समझती है। साथ ही साथ यह भी पूर्ण रूप से निश्चित है कि वह किसी भी मुसाले में न पड़ेगी। इस धारणा से पूर्व परम्परावादी दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का संकट कभी भी उद्भूत नहीं हुआ था तथा इसी प्रकार अस्तित्ववादी दर्शन में संकट का प्राचाग्य मिलता है तथा इसी कारण ही संकटकाशीन दर्शन के रूप में इसका उद्भव और विकास हुआ है।

शेष वैशिष्ट्य —

ऊपर यह कहा गया है कि अस्तित्ववाद परामर्शवाद का दार्शनिक प्रतिरूप है। यह परामर्शवाद की प्रवृत्ति के लिए नहीं बल्कि उसकी व्याख्या के लिए उद्भूत हुआ। परामर्शवाद एक साहित्यिक भाव न होकर एक आध्यात्मिक मन-स्थिति का आभावरण है, जिसका प्रतिरूप हमें साहित्य तथा कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। दर्शन के क्षेत्र में यही अस्तित्ववादी दर्शन है। यह दर्शन काव्यात्मक दर्शन है तथा इसके प्रभावानुसार लिखा गया काव्य दार्शनिक होते हुए भी तर्कशीलता की अपेक्षा भावनात्मकता की ओर अधिक झुकता है।

इसकी सैली व भाषा काव्य प्रयुक्त होने के कारण मुख्यतया सौन्दर्यवादी है। हिनर जब "छात्रों" या "वैत्सर्ग" जब 'सा बाफ रि डे' तथा 'पैसस फार रि नाइट' जैसी ध्यावनी का प्रयोग करता है, तो इस भाषा को काव्य के निकट ला सकता है। अस्तित्ववाद के साहित्यिक प्रभाव का वर्णन करने वाले ग्रन्थों का प्रणयन प्रभूत रूप में हो चुका है, विभिन्न रूप से अस्तित्ववादी मूल्यों के विषय को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है।<sup>1</sup> लिबोविच ने इटली की साहित्यिक तथा आध्यात्मिक परम्परा में अस्तित्ववाद का प्रभाव दिखाने का साहित्यिक प्रयत्न अभी किया है।<sup>2</sup>

इसके अतिरिक्त हिनर ने मानव अस्तित्व के जीवित विषय प्रदर्शित किये हैं जो

1. K. Lehmann 'Der Tod bei Heidegger und Jaspers' (J. Comtesse Heidelberg 1938) p. 70
2. C. Luporini 'Situazione libertaria nell' eustea umana' (Le Monnier Florence. 1942) p 206,



पार्थक्य होने की अपेक्षा साहित्य के अधिक निकट है। इसके लिए प्रयत्न किये जाने पर पहली छताम्बी के स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रभाव अतिरिक्तता पर प्रायः दिस जायगा। हैगर का प्रयोग 'एचडीडेनेस', रूसी उपन्यासकारों तथा 'कूनावटियन कामनप्लेडेनेस' की विचारधारा तथा विषय के पर्याप्त निकट है। पिछली छताम्बी के उत्तरार्ध तथा मध्य में उद्भूत परामर्शवादी कविता विशेषतः फार्स बावेनेयर की 'एनुई' बर्ष विषय पर लिखी गयी कविताएँ इस अतिरिक्तवादी विचारधारा का बाह्य न अंतर् प्रभावित करने में सफल रही हैं।

प्रतिक्रियात्मकता —

चूँकि परामर्शवादी साहित्य स्वच्छन्दतावादी साहित्य से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित रहा है तथा एक प्रकार से वह उसका कुपवर्गामी पुत्र कह कर भी सम्बोधित किया गया है, इसलिए अतिरिक्तवादी स्वच्छन्दतावादी से प्रभावित हुआ है तथा यह भी स्वच्छन्दतावाद की ही भाँति प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष व प्रच्छन्न को अधिक महत्व देता है। स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया स्वका ही अतिरिक्तवाद का जन्म हुआ तथा इसके कर्तुपारों में कीर्क्याक कई दृष्टियों से स्वच्छन्दतावाद का विरोधी था। फिर भी अतिरिक्तवाद मानव व्यक्तित्व के स्वच्छन्दतावादी कारण पर विशेष धन देता है तथा व्यक्ति की मूलभूत व्यक्तित्व की एकाग्रित एकरूप के प्रति बढ़त भ्रष्टा रकता है तथा उसे केन्द्र बिन्दु मानता है। अतिरिक्तवाद मानव की एकारमकता या एकरूप भी धोक में निरन्तर निर्यात रहता है।

साहित्यिक स्वल्प :-

अतिरिक्तवाद के साहित्यिक स्वरूप का संकल्प विरोध तभी सम्भव है जब कि उसके पार्थक्य रूप को भी भाँति उपलब्ध लिया जाय। इस पार्थक्य विरोध को इससे पूर्व समझाने का प्रयत्न किया जा चुका है। प्रत्येक अतिरिक्तवादी धारणा अतना से प्रारम्भ करता है, जिसे वह मान्यारिकता कहता है। इससे उसे यह ज्ञात होता है कि उसका पृथक व्यक्तित्व क्या है। इस पृथक व्यक्तित्व को मानव जगत की पृष्ठभूमि में रखकर विचार करता है और पाता है कि वह इस जमीन जगत के विस्तार का कितना सीमित और हेव अंध है। केवल कुछ अनुभवों की प्रक्रिया मात्रा बचपि बाबुनिक नीतिक सात्म वेत्ताओं से जगत को सीमित सिद्ध कर दिया है किन्तु इससे उसकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया है, बल्कि वह उसने और भी सतर्क हो गयी है। इससे विद्यालय जगत के समकालीन जन्मार्थ अपनी यरिमा छोकर अत्यन्त लुब्ध हो चुका है। यह

महाशून्य असीम कह कर टाला नहीं जा सकता बल्कि इसका विस्तार भाग्य कल्पना से परे है। इसी महाशून्य में मालम की स्थिति एक छोर है तथा दूसरी ओर क्षुब्धता है। इन्हीं दोनों छोरों में अस्तित्व का मानबन्ध रहता है।

ज्या पाल सार्न —

इस महाशून्य में क्षुब्ध मानव अपनी असीम प्रतीति के साथ अपना अस्तित्व भी रखता है। इस क्षुब्धता की ओर ध्यान देने पर यह कह जाया है यह भय कि मूलमूल भावना ही अस्तित्ववाद की मूल भावना है। इस मूल भावना के प्रति दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं (१) मय मिश्रित रक्षात्मक विरोध (सार्न) तथा (२) आत्मिक ईश परक स्वीकृति कास्त्रिक कीर्तगाई व देसिय। प्रथम मत के अनुयायी सार्न हैं। उनके विचारानुसार मानव अपनी हीनता प्रमाणित हो जाने पर रक्षात्मक रूप से प्रति विभासीम होकर विद्रोह कर बैठता है। चाहे उस सम्पूर्ण विश्वासता में उसके विद्रोही स्वर निटने भी क्षुब्ध व महत्वहीन हों, फिर भी वे उसकी चेतना व मालम की स्वतन्त्रता का उद्घोष करते ही हैं।

स्पष्ट है कि जीवन का कोई अर्थ नहीं है किन्तु यह मान लिया जाय कि यह अर्थ पूर्ण है। इसका फल यह होगा कि व्यक्ति को जिम्मेवारी प्रसीत होगी। यह यह सिद्ध कर सकेगा कि कम से कम अपने लिए वह अपना स्वामी है ही तथा उसके व्यक्तिगत मत क्षेत्र में उसकी शक्ता है। चाब ही वह जीवन के कृच्छ्र क्षणों में अपने छापी सामर्थों से समझौता भी कर सकता है। इस भावना से वह स्वतन्त्रता की प्रतीति करता है। यह स्वतन्त्रता उसमें जिम्मेवारी तथा उत्तरदायित्व की भावना की सृष्टि करती है तथा इसी उत्तरदायित्व की भावना से उसकी कार्य प्रभावी में एक संगठन जा जाता है तथा उसके कार्य उष्ण ज्ञसता की सीमा तक नहीं पहुँच पाते। यह सार्न का सिद्धान्त है।

सामार्पे —

सार्न के उपर्युक्त सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें इस बात को निरिखत मान लिया गया है कि उस अस्तित्ववादी चेतन व्यक्ति की बात अन्य सोम मान ही लगे। व्यवहार की दृष्टि से यह बहुत दूर तक सही नहीं है। सार्न ने उस स्थिति की कल्पना नहीं की और न ही इस विषय में कोई निराप ही प्रस्तुत किया कि यदि उस व्यक्ति की बात अन्य व्यक्ति नहीं मानते हैं तो कम दना में स्वतन्त्रता क्या समाज को निर्दलसित न कर देगी। किन्तु, कदाचित् सार्न इस सिद्धान्त पर निस्वाच कष्टा है कि

यदि व्यक्तियों को अपना अस्तित्व झाल हो जायगा तो हम मुसंगठित रूप से एक स्वतन्त्र प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यशील हो पायेंगे ।

स्वतन्त्रता एक आत्मरूपकता है तथा उसकी आवश्यकता से उसका जन्म होता है । इसी स्वतन्त्रता से हमारा समाज भी घासित होकर परिवर्तनशीलता ग्रहण करता है । यह परिवर्तनशीलता प्रायः उन्नति की ओर अग्रसर होती है । धर्म के नाटक व उपन्यास इस सिद्धान्त से कहीं तक घासित होते हैं यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उसके उपन्यासों तथा नाटकों के पात्र विभिन्न ढंग से व्यवहार करते हैं । उनके व्यवहार की दृष्टभूमि में प्रायः उनकी मनोवैज्ञानिक अभिवृत्ति ही रहती है । कभी-कभी उनके व्यवहारों का कारण सौम्य विचारलता बटिन हो जाता है । साथ ही वे अति सामाजिक उन्नति के किसी आदर्श के प्रति उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं । ऐसा प्रायः नहीं देखा गया है ।

धर्म का यह सिद्धान्त वैदिककाल के सिद्धान्त 'जैसे कि' (ऐस इफ) के निकट प्रतीत होता है । हमें यह विश्वास नहीं है कि हम स्वतन्त्र हैं किन्तु हम ऐसा व्यवहार करते हैं जैसे कि हम स्वतन्त्र हों । धर्म और प्रैगमेटिज्म निकट होते हुए भी भिन्न हैं । धर्म स्वयं प्रैगमेटिज्म को बहुत उतही सिद्धान्त मानता है । वह यह कहता है कि प्रैगमेटिज्म दैनिक व्यवहारों पर आधारित सभे ओषे का दर्शन है जब कि अस्तित्ववाद मानव और प्रकृति के बीच मय के सम्बन्ध को प्रबानता देकर इस ब्रह्मा को बहुत पीछे छोड़ देता है ।

उपरो अर्थीतिकवादी नीति के कारण अस्तित्ववाद प्रैगमेटिज्म के साथ ही नासर्वात्म्य उरीच अन्व बर्तनों को पीछे छोड़ देता है । अस्तित्ववादी यह विश्वास करते हैं कि भौतिकता चाहे वह ही सी माया मे क्यों न हो, मानव मूर्खों को सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का अनुवर्ती बनाकर मानव स्वतन्त्रता का हनन करती है । स्वतन्त्रता, अस्तित्ववादीयों के अनुसार, वह परिस्थिति है, जो मानव को यह क्षमता प्रदान करती है जो कि वह अपनी भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठ सके ।

धर्म के अनुसार किसी व्यक्ति को एक स्थिति से अलग निकाल कर उही स्थिति पर विचारणीय बुद्धिक्रम ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करने वाली सम्भाव्यता की संज्ञा ही स्वतन्त्रता है । इस ऊर्ध्वगामिता को भौतिक कड़ीटी पर नहीं परखा जा सकता । कार्य कारण की शृंखला भले ही किसी से कोई कार्य करने में समर्थ हो जाय या किसी

ऐसी परिस्थिति का सूजन भले ही कर दे जिससे किसी कार्य की परिणति हो सके परन्तु यह व्यक्ति को इस योग्य नहीं बना सकती कि वह अपनी स्थिति से असंग होकर अपनी ही स्थिति पर निरपेक्ष रूप से विचार कर सके ।

यह निरपेक्ष विचार ही अनीतिकीय प्रणाली है । हमारी परिस्थितियाँ हमें इस बातके लिए विवक्ष नहीं करती कि हम अनीतिकीय दृष्टिकोण अपनायें ही । अस्तित्व-वाद एक ऐसी प्रक्रिया की सम्भावना सुझा कर देता है जिसके अन्तर्गत हम अपनी परिस्थितियों से परे उससे ऊपर उठ जाते हैं । हम सब वस्तुओं को यहाँ तक कि सारी प्रकृति को प्रकृति से अपने को अलग करके देखने व विचारने सजते हैं । मार्क्सवादी क्रायिषत् इस विचार को निरी कास्मनिक और मूर्खतापूर्ण कह कर इसका उपहास कर सकता है क्योंकि वह किसी भी ऐसी परिस्थिति को नहीं मानता, जिसमें व्यक्ति अपनी परिस्थिति से ऊपर उठ सके ।

इसके विपरीत अस्तित्ववादी क्रायिषत् इस स्थापना के साथ ही जमता है कि मानव ने निरन्तर प्रगति के द्वारा एक ऐसी शक्ति उत्पन्न कर ली है, जिसके द्वारा वह अपनी परिस्थिति से ऊपर उठ सकता है । इस शक्ति को वह चेतना या बौद्धिक अस्तम बोध की संज्ञा देता है । ठाकुर इसको सामाजिक रोप की संज्ञा देगा । तथा इस प्रवृत्ति को ही समस्त फूट व अक्रोश की जननी ठहरावेगा । परन्तु ऐसा होता अवश्य है कि कबव जैसी भाति के बीजों में ऐसी चेतना उत्पन्न अवश्य हो जाती है ।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से इस निवृत्त्यात्मक शक्तों में एक ऐसी सामाजिक कास्म-निष्ठा की सृष्टि हो सकती है जिसका तत्कालीन परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध न हो । इस भय के निवारणार्थ अस्तित्ववादी यह निर्णय करता है कि व्यक्ति को इस निवृत्ति या स्वतन्त्रता का अनुभव कर लेने के पश्चात् पुनः सामाजिक सम्बन्धों में वापस आ जाना चाहिए, इस दृष्टि से कि वह उनमें परिवर्तन कर सके ।

ऊपर दूधरी प्रतिक्रिया बानिक ईसपरक व स्वीकारात्मक कही गयी है । इसी के सम्बन्ध में असीम व महाविस्तीर्ण संसार में मानव की अपने कुछ अस्तित्व के ज्ञान वन्म एक प्रतिक्रिया का विवेकन किया गया है । मानव मन पर अपने कुछ अस्तित्व का ज्ञान एक दूधरी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न कर सकता है । वह उस क्षुद्रता का तथा चारों ओर के असीम विस्तार का विरोध करने के स्थान पर उसको स्वीकार करके अपने विचारों को धार्मिकता की ओर भी प्रवाहित कर सकता है । वह इस असीम विस्तार से डर कर अपने को उसके प्रति समर्पित भी कर सकता है । ऐसी दशा में उसको एक ऐसी शक्ति

की कल्पना कर लेगी पड़ती है, जो उस महान् यज्ञ को पसाती है। ऐसी घटा में वह स्वभावतः उस आदर्शवाद की ओर मुड़ जायगा जिसका विरोध सार्थक नै किया है। किन्तु यह सम्भावना भी सम्भाव्य ही है। इस प्रवृत्ति के जनक कीर्कगार्ड अस्तित्व व काल्पनिक भावि हैं।

कीर्कगार्ड —

कीर्कगार्ड का विचार है कि मनुष्य प्रायः बहुत ही वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहता है। अर्थात् वह उन्हें उचित रूप से समझ नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्याओं का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में उसकी धार्मिक भावनाओं से होता है, जो कि किसी धार्मिक विश्वास पर आधारित होती है। कीर्कगार्ड बीसा कि ऊपर भी कहा गया है किसी सीमा तक एक आधुनिक या धार्मिक अस्तित्ववादी है। वह धार्मिक विश्वासों से व्यक्ति की व्यक्तिगत समस्याओं का जनात्मक व घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है तथा धार्मिक विश्वासों पर आधारित भावनाओं को बड़ा गौरव प्रदान करता है। धार्मिक चेतन समस्याओं भावनाओं व विश्वासों को वह पाप की स्थिति मानता है।

बीसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि महान् असीम में मनुष्य क्षुब्धता का ज्ञान व्यक्ति में जब जनात्मक भय उत्पन्न करता है तो वह उसे उस असीम के सर्वक के रूप में ईश्वर नामी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य कर देता है। इसी विरोधक के अनुसार कीर्कगार्ड भी ईश्वर सृष्टि किसी शक्ति के अस्तित्व जपना उसकी सम्भावना से विश्वास रखता है। उसका विचार है कि अस्तित्ववादी विचारधारा का रहस्य ही ईश्वर का रहस्य तथा उसके स्वरूप का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से बिने पये प्रयत्नों में से है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि बीसा कि इस क्षेत्र में विश्वास व आस्था का बड़ा महत्व है। कीर्कगार्ड का कथन है कि अस्तित्व को इसी के द्वारा जाना जाना ही सम्भव है।

काल्पनिक में अस्तित्ववाद की यह प्रवृत्ति सार्थक की निपेधात्मक व विरोधात्मक प्रवृत्ति से कई स्थानों पर विरोध करती दिखायी देती है। उसमें से अनेक स्थान बौद्धिकता का निपेध भी है। सार्थक भावनाओं पर अधिक बल नहीं देता है, क्योंकि भावनाओं

विश्वासों पर आधारित होती हैं व विश्वास किसी न किसी रूप में आदरों से अनुमेरित होते हैं। यह विश्वास तथा आदर ही व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों से स्वतंत्र नहीं होने देते। मार्क्स के विपरीत कीर्कगार्ड बौद्धिकता के प्रति अधिक प्रवृत्तता प्रदर्शित नहीं करता। यह कहता है कि मनुष्य को अस्तित्ववान् रहने के लिए बौद्धिकता की ओर अधिक आकर्षित व आपूर्णित नहीं होना चाहिए।

माओजता —

यह विचार ग़लत नहीं है। सेंट मागस्टाइन जैसे प्राचीन रहस्यवादी विचारकों की रचनाओं में इस विचार के बीज पाये जाते हैं। बाद में सेबिंग कामरिन माओ विचारकों ने इन विचारवाच को लक्ष्मीधन प्रदान किया किन्तु कीर्कगार्ड प्रभुति विद्वानों द्वारा यह विचार अस्तित्ववाद के एक विधा के रूप में सामने आये। इन सभी विचारकों का मत है कि मानव पूर्ण से विद्य हूरा है। इस स्वापना का कोई अर्थ नहीं है। मानव नहीं क्यों है? क्यों वह उसे अति प्रवृत्ति की समवेन प्रक्रिया का एक अंग बन गया? तथा क्यों वह आत्म चेतन हो गया?

इन सब प्रश्नों के भी कोई उत्तर नहीं है। किन्तु यदि ईश्वर की पूर्ण स्थिति की कल्पना कर लेने बाद से इन सभी स्थितियों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं एक अपारिचित सोकेतर घटा की इन सबका कारण व कता मान लेने मात्र से ही सम्पूर्ण प्रपन एक तर्क पून माता के अर्थों के अर्थ एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। प्रत्येक अंग तथा सम्बन्धित अंगों की स्थिति व उनकी चेतना कार्य व कारण की ताकिक अङ्गी में गुंथ जाते हैं। यद्यपि इस अङ्गी में भी कल्प व पीड़ जैसी समस्याओं के हेतु व कार्य क्षेत्र की समस्या के लिए स्थान छूट ही जाता है। फिर भी स्थिति व उसकी सार्वकता को सुनमाने का अर्थ उपान ले ही ही। यही ईश्वर मार्क्स व कीर्कगार्ड द्वारा प्रतिपादित आस्तिक अस्तित्ववाद की आधारभूमि है।

आस्तिकता का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक अक्षय आस्तिक ईश्वर का यही मत है या वह इन्हीं अर्थों में विचार करता है। प्रायः व अल्प वही रूप से अकट होने आस्तिक अर्थों व अतिरेकीय धार पर विचार हम लेते हैं। किन्तु यहाँ तक अर्थों के क्षेत्र में अर्थ

व धार्मिक उद्भावनाओं का प्रदन है, वहाँ तक यह सिद्धान्त धार्मिक व आस्तिक है। वहाँ तक अज्ञा और विश्वास का प्रदन है यह सिद्धान्त धर्म के निष्ठा होते हुये भी तर्क का अतिक्रमण नहीं करता है तथा इसके तर्क पूर्णतया सम्मत हैं। 'जबे कि' वर्धन का यह एक दूसरा अंग है, इसे 'बैबल ऐसे (बोलसी बिस) वर्धन माना जा सकता है अर्थात् केवल इस प्रकार ही हमारी स्थिति का कोई अर्थ हो सकता है।

आध्यात्म प्राप्त्य —

कीर्कगार्ड आध्यात्मिकता को बौद्धिकता की अपेक्षा अधिक प्रथम देता है। साथ ही व्यक्तिगत गुणों की प्रयत्नता भी जीवन में मानता है। वह यह कहता है कि व्यक्ति का अर्थ ही आध्यात्मिक जागरण है।<sup>1</sup> सिद्धान्तिकता का विरोध करते हुए वह यह बताता है कि सिद्धान्तिकता बौद्धिकता का तथा तत्कालित निर्बंधित व निर्धारित व्याख्याएँ सत्य का स्पर्श नहीं कर पाती क्योंकि सत्य एक अज्ञात ही वस्तु है। वह आध्यात्मिकता का वातावरण में ही प्रकट होता है। तर्क व बौद्धिकता से उसे माना असम्भवप्राय है।

जब सिद्धान्तिकता व बौद्धिकता सत्य की सीमा का स्पर्श भी नहीं कर पाती तो वे उसका भ्रामक रूप ही प्रस्तुत करती हैं। वैयक्तिकता पर कीर्कगार्ड अत्यन्तभावित रूप से बल देता है और उसकी अनिवार्यता आपेक्षित मानता है। यही नहीं वह मनुष्य का चरम लक्ष्य व्यक्ति होना ही मानता है। इस व्यक्ति होने के लिए आन्तरिक स्वरूप की अलगवृत्ति अनिवार्य है। जब तक कोई भी व्यक्ति अपने आन्तरिक स्वरूप से ठीक से अलगवृत्त नहीं हो जाता, तब तक सत्य से परिचित नहीं हो सकता क्योंकि वैयक्तिकता सत्य का अंग है। वैयक्तिकता का विरोध सत्य का विरोध है।<sup>2</sup> उसके अनुसार निर्बंधितक स्वच्छिन्न का विरोधी और उसके अद्यमान का कारण है।

मनुष्य के अस्तित्व तथा उसकी समस्याओं का गहरा अध्ययन कीर्कगार्ड ने किया है। इन समस्या समस्याओं को वह दो मार्गों में विभाजित करता है। वह बताता है कि मानव जीवन के प्रायः दो उद्देश्य होते हैं। प्रथम बिरह्यता की प्राप्ति तथा द्वितीय लौकिक अस्तित्व की उपलब्धि। बिरह्यता की प्राप्ति ईश्वर तथा उच्चतर गुणों की

1 Point of view (Translated by walker Lorry) pp 134

2 The Living Thoughts of kirkguard by W. H. Audln, p 27

उपस्थिति से होती है। द्वितीय कारण तो स्पष्ट ही है। ये उद्देश्य एक दूसरे के पूरक होते हुए भी व्यावहारिक रूप से परस्पर विरोधी हैं। यही कारण है कि व्यावहारिक रूप से इन दोनों की उपस्थिति सम्भव नहीं। अतः अस्तित्ववादी समस्या यह हो जाती है कि औद्योगिक सामग्रियों से किस प्रकार मनुष्य स्थायी मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

कीर्त्तगार्ड नैतिकता को साबन मानता है न कि मानव जीवन का चरम अवयव। यह नैतिकता मनुष्य के जीवन में चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती है किन्तु नैतिकता के लिए नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। यह नैतिकता को मनुष्य की चर्म की घाबना से सम्बन्धित करता है और जीवन की समस्याओं का हल चर्म में खोजने के प्रयत्न पर बल देता है। नैतिकता से भी ऊँची वस्तु आस्था या विश्वास होती है और नैतिकता पूर्ण जीवन स्वीकार कर लेने पर एक आदर्श जीवन बिताने की कामना मानव जीवन को जोतप्रोत कर बठी है। जीवन आदर्श की आधारभूमि पर सजा होकर यथार्थ कटुताओं से निरन्तर संघर्षशील रहता है और उच्चतर मूर्तियों को प्राप्त कर विकास के पथ पर अग्रसर होता है।

अस्वर्ट कामु:—

अस्वर्ट कामु भी अस्तित्ववादी साहित्यकारों विशेष रूप से उपन्यासकारों तथा नाटककारों में प्रमुख स्थान रखता है। यद्यपि उसकी सहायुमुक्ति अस्तित्ववाद के आन्दोलन के साथ रही परन्तु उसका स्वतंत्र स्थान भी है। यह विचारशील तथा ईमानदार लेखक अस्तित्ववाद की संकट जग्य नैतिक बेवैनी का साक्षीवार है परन्तु वह निरीह मानवता के लिए काम चलाऊ समझौते को खोजने में विषय रूप से क्रियाशील है। उसके उपन्यास नाटक तथा निबन्धों ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है तथा एक सहायुमुक्ति पूर्ण पाठक वर्ग की उत्पत्ति की है। उसकी शैली की आध्यात्मिकता और यन्त्रीरता ने उसकी ख्याति विशेष रूप से बढ़ा भी दी है तथा भविष्य में उसका स्थान नियत कर दिया है। अमेरिकी साहित्य में भी अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित साहित्य का सुजन आरम्भ हो रहा है परन्तु वह अभी अपनी सौख्यत्वस्था में ही है। परन्तु उसकी भावी सम्भावनाओं के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता।

बहुत्व:—

अस्तित्ववाद सबसे अधिक फासीवी साहित्य में और विचारों में क्रियाशील रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में फासीवी मानस को प्रभावित करने वाले विचारों में अस्तित्ववाद का नाम होया या नहीं, परन्तु सुबोत्तर साहित्य की सुजनशील



प्रवृत्तियों में इस बार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दर्शन के क्षेत्र में यह एक क्रियाशील आन्दोलन के रूप में तथा साहित्य के क्षेत्र में एक सूजनशील शक्ति के रूप में इसका प्रमुख स्थान है। सार्न में इस सिद्धान्त के महान् दर्शन का प्रथम निरूपण है। साथ ही परम्परावादी दर्शन के परिहार की भावना भी क्रियाशील दृष्टिबोधर होती है।

कोर्कगार्ड के भय के स्थान पर निरक्षयात्मक प्रहार करने की भावना तथा ठंडे दिमान से संघर्ष करने की भावना भी दृष्टिबोधर होती है। कहानियाँ तथा उपन्यासों में इस सिद्धान्त का क्रियात्मक रूप दिखाकाई देना है। साथ ही साथ कई दृश्यों को विभित करने की सैली सार्न के उपन्यासों की विशेषता कही जाती है। भावनाओं में एक उत्साह तथा युद्धकाशीन हृत्कषल अस्तित्ववादी क्षणभंगुरता के परिचायक हैं किन्तु इससे भी अधिक दृश्यों का स्वाभाविक वैदंभापन तथा शरीर की आनन्दकृतियों तथा उनसे उत्पन्न चिन्ताओं के प्रति अस्वाभाविक तथा निर्भय रूप से साहचर्य की भावना ने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दे दिया है जो पारंपरिक प्रवृत्तियों और मान्यों की अधिक महत्वपूर्ण स्थान देता है। यह आन्दोलन केवल साहित्य ही नहीं बल्कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी है।

सार्न एक सफल नाटककार भी सिद्ध हुआ है। उसके उपन्यासों तथा कहानियों के दर्शन में भी यह नाटकीयता मन्ती प्रकार से दिखाई देती है। उसके नाटक एक विभिन्न प्रकार की ईज से जोतप्रोत हैं जो आधुनिक फाँसीसी नाटक की एक प्रमुख विशेषता है। इसके अतिरिक्त सार्न ने मनुष्य के व्यवहार पर प्रकाश डालने वाली दार्शनिक प्रभावित्या जैसे प्रतीकवाद तथा मनोविज्ञान और इतिहास आदि का भी अपने नाटकों में मन्ती प्रकार से उपयोग किया है।

### यथार्थवाद

स्वल्प और आरम्भ—

पौचर्बी अताम्बी ईसवी पूर्व के समयन मूलान में यथार्थवादी दर्शन का प्रथम हुआ। तब से वर्तमान तक तक दर्शन तथा साहित्य क्षेत्रों में यथार्थवाद अपनी सत्ता किसी न किसी रूप में जमाये हुए है। इस बार को जन्म बार्नों की अपेक्षा अधिक उच्चतर मनीषियों का पोषण व संरक्षण प्राप्त हुआ तथा इसे विभिन्न सांस्कृतिक

परम्पराओं व परिस्थितियों में रक्त कर जाँचा समझा व परखा गया। संसार में बहुत सी वस्तुएँ दिखाई देती हैं जिनमें मानव का कोई भी हाथ नहीं है। मनुष्य उनको समझने का प्रयत्न करता है। इस समझने के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यह ज्ञान संयमित तथा सुनियोजित अध्ययन से ही प्राप्त हो सकता सम्भव है। इस ज्ञान से मनुष्य अपने चारों ओर के वातावरण को समझ सकता है तथा अपनी रक्षा कर सकता है। रक्षा की मूल प्रवृत्ति ही मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है। कुतूहल व जिज्ञासा का बग्न उससे बाह की स्थिति है। इस प्रकार बुद्धि से प्रेरित ज्ञान प्राप्त करके हम अपने वातावरण की प्रवृत्तियों को समझ सकते हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हम अपने काम कलाप की एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं।

जब मानव की सहज ज्ञान की शक्तियों का वातावरण को समझने तथा अध्ययन करने की क्रिया ही यथार्थवाद का मूल तत्व है। मानव मूल रूप से यह विश्वास करता है कि (१) मानव के चारों ओर यथार्थ स्थिति रखने वाला संसार या वातावरण है जिसके बनाने बिनाकने तथा परिवर्तन करने में उसका कोई हाथ नहीं है। (२) इस यथार्थ वस्तु स्थिति को केवल समझा ही जा सकता है। यह समझना ठीकी सम्भव है जब कि उस वातावरण का वैज्ञानिक तथा निरदल अध्ययन किया जाय। यह अध्ययन मानव बुद्धि द्वारा ही सम्भव है। (३) बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान ही मनुष्य की वातावरण के प्रति की गई समस्त प्रतिक्रियाओं में चाहे वे व्यक्तिगत रूप से की गई हों या सामूहिक रूप से, एक मात्र विश्वसनीय सहायक हैं। ये मानव के मूलभूत विश्वास ही यथार्थवाद के आधार स्तम्भ हैं।

प्रभाव तथा महत्व—

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवादी विचार प्रणाली का विकास मार्क्स के सिद्धान्तों का आभय लेकन भी हुआ। फ्राइबेक ने मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धान्तों को साहित्य के क्षेत्र में स्वीकार करते हुए उसका विश्लेषण किया। पाश्चात्य यथार्थवादी आन्दोलन में योग देने वाले विचारक पकाबेयर के समय से लेकर वर्तमान समय तक रहे हैं।<sup>1</sup> इसके अतिरिक्त बोला तथा मोर्सासा आदि का भी इसके विकास में योगदान रहा है। वस्तुओं के साहित्य में यथास्थ बर्णन की प्रकृति होने के कारण यह यथार्थवाद की विरोधिनी रही है।

1 'Dictionary of world Literary Terms,' Joseph T Shipley  
p. 325

प्राकृतिक युग में इस प्रवृत्ति के विकास की पर्याप्त सम्भावनाएँ हुईं, परन्तु इसी प्रवृत्ति का एक और रूप विकसित होने लगा जिससे अतियथार्थवाद नाम दिया गया। दूसरे धर्मों में यह कहा जा सकता है कि यह अतियथार्थवाद का विस्तृत संस्करण है वैसे कि इसके नाम से भी स्पष्ट है। यथार्थवाद ने यदि साहित्य को नयी दृष्टि दी, तो अति यथार्थवाद ने साहित्य को उन बस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया, जिसका कि साहित्य में अब तक प्रयोग किया जाता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् इस बाद का प्राकृतिक हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर इसे छोड़ सा दिया गया और अब तक यह एक प्रकार से विस्मृति के गर्त में पड़ा हुआ है। यद्यपि इसका प्रभाव अब भी बड़े व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसका उद्भव सीधे युद्ध से हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के भीषण हत्याकांड ने सम्पूर्ण विश्व के ऊपर गम मिमित क्रूरता का आवरण डाल दिया था। सारे विश्वारसीक मस्तिष्क अड़ित हो गये थे। हीनता निराशा तथा असहामावस्था की अनुभूति ने मनुष्य को यह सोचने के लिए बाध्य किया कि वह भाग्य के हाथों में एक खिलौने के समान है। युद्ध की इस भीषणता ने मनुष्यों को तत्कालीन आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह करने को भी बाध्य कर दिया। जो वैसे ही, उसे वैसे ही स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति व्यापक होने लगी। इसलिए एक संवर्धित वैचारिक आन्दोलन के रूप में अतियथार्थवाद का महत्व तथा सम्भावनाएँ ही अधिक हैं।

### अतियथार्थवाद

आरम्भ—

अतियथार्थवाद का जन्म फ्रांस में बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्दश में हुआ। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रांसीसी साहित्य में यह आन्दोलन एक प्रतिक्रियात्मक रूप में आरम्भ हुआ जिसके मूक में जयभय एक शताब्दी पीछे से आने वाली साहित्यिक परम्परा थी। आरम्भ में इस बाद का समर्थक प्रमुख रूप से चार्ल्स बोरेलेयर रहा। उसने सत्तीसवीं शताब्दी में ही इसका स्पष्टता से निर्देश करने का प्रयत्न किया। बोरेलेयर के अतिरिक्त सत्तीसवीं शताब्दी में ही जिन यूरोपीय साहित्यकारों की कृतियों में इस प्रवृत्ति का समावेश मिलता है उनमें हाबीमान, रिम्बो तथा मेज़ार्मे आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों ने सत्तीसवीं शताब्दी में ही इस कृतियों की आधार छुनि तैयार करने में योग दिया जिसका संवर्धित और निर्धारित रूप में आरम्भ बीसवीं शताब्दी में हुआ।

जो ब विस्तार—

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में इस मानसिक और सांकेतिक प्रतिबिम्बा में व्यावहारिक निरोद्धात्मक रूप धारण कर लिया। सन् १९२० से इस विधिष्ट वाद की स्पष्ट बर्षा आरम्भ हुई। सैद्धान्तिक रूप से अतिमपार्थवाद का अर्थ यह लगाया गया कि जो सत्ता मपार्थ होते हुए भी वृष्टिगत न हो। इस अर्थ विमेष के प्रवर्तन की दृष्टि से यहाँ आन्ध्र ज्ञेयन का उल्लेख आवश्यक है जिसे फिलिप सुपोल लुई आरामो बाबी हूने रने केबक, ई० मेसेस तथा पास एनुमार बादि अपने समकालीन विचारकों का सहयोग प्राप्त था। इस विचारधारा के उद्देश्यों तथा सैद्धान्तिक विचारों को स्पष्ट करने वाले दो घोषणापत्र भी आन्ध्र ज्ञेयन ने सन् १९२४ तथा सन् १९३० में प्रकाशित किये। सन् १९३० के बाद से यह आन्दोलन फ्रांसीसी साहित्य और चिन्तन में अमिम्बलि की दृष्टि से व्यापकतर होता चला गया। जमण यह एक एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार का आम्बोलन बन गया।

प्रसार—

सन् १९३० के पश्चात् से इस आम्बोलन की बर्षा फ्रांस के बाहर भी आरम्भ हुई। बीरे बीरे विश्व के अन्य देशों में भी इसका प्रचार बढ़ा। यद्यपि यह सत्य है कि यूरोप के बहुत से देशों में इस विचारधारा को कड़े विरोधों का भी सामना करना पड़ा। परन्तु अन्ततः इसका समर्थन तथा प्रतिनिधित्व भी होता ही रहा। यूरोप में फ्रांस के बाद इसका सबसे अधिक प्रचार इटली में हुआ। वहाँ सन् १९३६ में अति मपार्थवादी कला की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। हर्बर्ट रीड ने इस प्रदर्शनी का परिचय पत्र प्रस्तुत किया। तभी से अंग्रेजी साहित्य में भी अतिमपार्थवादी प्रवृत्तियों का बहुकता से समावेश होने लगा।

स्वरूप—

सिद्धान्ततः अतिमपार्थवादीयों के अनुसार कला या साहित्य को पुनः बीदिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि उनके विचार से अतिमपार्थ रूप से उनके द्वारा बीदिक होने से मनुष्य की शैथिलिक अनुभूतियों का अतिविरोध के चिन्तन की सम्भावनाएँ कम हो जायेंगी। वहाँ तक नीति विषयक माम्यताओं का सम्बन्ध है अतिमपार्थवादी विचार धारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सम्य समाज में जो नैतिक दृष्टिकोण आदर्श समझा जाता है वह निरव्यक्त है। इसीलिए वे नीति विषयक आधुनिक माम्यताओं का विरोध करते हैं क्योंकि कुछ जोष केबक इसी कारण से अतिमपार्थवादीयों पर मालीप

करते हैं कि वे स्वच्छन्दतावाद के समर्थक हैं और कोई नैतिक दम्पन नहीं स्वीकार करना चाहते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि ह्यू साइमन्ट डेवीज जादि कुछ समीक्षकों के विचारानुसार अतियचार्यवाद कोई नयी विचारवादा नहीं है बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित स्वच्छन्दतावाद का ही अतीतनी शताब्दी में परिवर्तित और विकसित रूप है।

प्रभाव—

इस आन्दोलन के राजनैतिक प्रभाव तुरन्त दृष्टिगोचर नहीं हुए, परन्तु साहित्य तथा समाज में इसके प्रभाव दीर्घ दिशाधीन देने लगे। सबसे पहली बात जिस पर एक मत रूप से लोगों को विश्वास होने लगा था वह यह थी कि पूर्व स्थापित बौद्धिक तथा कच्चारमक कठिनों से अपने आपका मुक्त करना। तत्पश्चात् पूर्व स्थित साहित्य तथा कला के उन आदर्शों का जो पूर्वोक्त के रूप में क्रियाशील थे उनका विनाश का उद्देश्य रखा गया। क्योंकि विचारशीलता के समस्त प्रयत्न संकट को टाकने में असमर्थ हो गये थे, इसलिए मानस की गम्भीरतर प्रवृत्तियों तथा प्रतिक्रियाओं में नव निर्माण के उद्यम खोजने की बात और पकड़ने लगी। और जब तक नवीन मूर्तों तथा दाम्पत्यताओं की स्थापना न हो सके अराजकता को भ्रष्ट नियमों से अक्षरकर समझा जाने लगा। सम्यता तथा अङ्ग मूर्तों की अन्वेषण करके इस आन्दोलन के नेता मानव की अन्वेषण आदिम तथा पाश्चात्य शक्तियों को अधिक प्रभय देने लगे। इस प्रकार अतियचार्यवाद मुख्य धारित स्वो द्वारा प्रचारित आन्दोलन की अन्तिम अहुर की जो बार बार नवीन रूपों में सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी भर यूरोपीय क्षितिज की आकाशत करती रही।

उद्देश्य—

अतियचार्यवाद का उद्देश्य यचार्य की सीमामें जो विस्तृत करना था। वह सामग्री जिसका साहित्य में अब तक उपयोग नहीं हुआ है उसका उपयोग करके ही साहित्यिक क्षितिज का विस्तृतीकरण सम्भाव्य है। इस प्रकार यह बात स्वल्प तथा अपने आप होने वाला साहचर्य का केवल साहित्य में उपयोग ही नहीं करता बल्कि उसको जीवन की अभाव्यता तथा विभिन्न रूपों में मानव चरित्र का सम्पूर्ण विश्लेषण करने में आवश्यक तथा महत्वपूर्ण समझता है। अतियचार्यवादी इस स्वल्प व साहचर्य का उद्देश्य नैतिक तथा अन्वेषण मानस से स्थापित करता है। यही बात अतीतनी कृतियों में मुख्य रूप से दृष्टिगोचर होती है। अतियचार्यवादी कृतियाँ इस प्रकार संवृद्धि होने के लिए छोड़ दी जाती हैं जिससे समस्त संवीर्य अन्वेषण का उद्देश्य प्रतिनिधि कृष्ण सके।

बैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अठियारहवाँ विचारधारा का अन्त मुक्त फ्रांस में हुआ। कुछ समय बाद जब इसका प्रसार यूरोप के अन्य देशों में हो गया तब भी फ्रांस में इसका अनुबन्धन बहुलता के साथ होता रहा। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अठियारहवाँ का जन्म काल महायुद्ध का परवर्ती काल है। इस समय आरम्भ हुए अन्ध आन्दोलनों की भाँति यह आन्दोलन भी प्रथम महायुद्ध के पूर्व की रोमांटिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुआ था। अपने प्रारम्भिक काल में इसका संघासन चार्ल्स बोडेलेयर ने भी किया। यद्यपि उसके समय तक यह आन्दोलन उस रूप में नहीं चल रहा था जिस रूप में यह परवर्ती काल में चला। बोडेलेयर के अतिरिक्त लाहीमान रिम्बो तथा मेज़ार्मे यादि की कृत्तियों में भी इसके संकेत मिलते हैं। इस प्रकार से ज़रीसबी सतासवी का आरम्भ होने से पूर्व ही इसकी सम्भावनाओं का जन्म हो चुका था।

अठियारहवाँ आन्दोलन के आरम्भ और विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि फ्रांस में आविर्भूत होने के पश्चात् यह आन्दोलन बहुत धीम ही विस्फोर्ण हो गया यद्यपि इसका केन्द्र स्वयं फ्रांस का साहित्य क्षेत्र ही रहा। परन्तु फ्रांसीसी कला भी बहुत धीम ही इससे प्रभावित हुई और इसके पश्चात् इस आन्दोलन को जो विस्फोर्णता प्राप्त हुई, उसके फलस्वरूप इसका प्रसार बहुत धीम ही विरव के प्रमुख साहित्य क्षेत्र कला के क्षेत्रों तक हो गया। फ्रांस के अतिरिक्त ईंग्लैंड जर्मनी तथा स्पेन में इस आन्दोलन को प्रथम और उत्तम प्राप्त हुआ। अन्ध महाद्वीपों में इसका प्रभाव विशेष रूप से अमेरिका पर पड़ा।

अपने आरम्भिक काल में अठियारहवाँ को निश्चित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा। इससे उस कला से आशय समझा जाता था जो बृष्ट उपार्थता से परे हो। जाने चलकर 'सितरेस्योरे' नामक पत्र के माध्यम से इसका संगठन हुआ तथा 'रिबोस्युसन दर रियक्तिसे' के माध्यम से इसका प्रसार हुआ। इसमें से प्रथम का समय सन् १९१९ तथा द्वितीय का सन् १९२४ था। इसके पश्चात् अन्ध इस आन्दोलन का तीव्र गति से विकास होता गया और बीरे-बीरे यह अपने समय का प्रमुख साहित्यिक आन्दोलन बन गया।

**हर्बर्ट रीडः—**

इंग्लैंड में अठियारहवाँ का प्रभाव वर्णित पड़ा। वहाँ पर इसका सबसे बड़ा समर्थक हर्बर्ट रीड था। बैसा कि रीड लिखा गया है, हर्बर्ट रीड ने न केवल वहाँ अठियारहवाँ का समर्थन किया, बल्कि अग्रिम रूप से इस विचारधारा के संवत्सारिक

आन्दोलन में योग दिया। यही नहीं सन् १९३६ में सभ्य में अतिव्यार्थवादी कक्षा की एक महत्वपूर्ण प्रदर्शनी का भी बड़ी उद्घाटन किया गया तथा इसका परिचय पत्र हर्बर्ट रीड ने ही प्रस्तुत किया। जर्मनी और बीसवीं शताब्दी में अतिव्यार्थवाद का जो प्रचार और प्रसार हुआ उसका योग्य मुख्यतः हर्बर्ट रीड को ही है। उसने इस विचारधारा का औपचारिक समर्थन ही नहीं किया बल्कि इसमें पुष्टीकरण की चेष्टा करते हुए विरोधियों द्वारा किये गये आरोपों के उत्तर भी दिये। उदाहरण के लिए उसने इस मस्युम का प्रतिपादन किया कि अतिव्यार्थवाद का आन्दोलन एक उद्देश्य विशेष से आरम्भ किया गया है। जो लोग इसके उद्देश्य को समझते हैं उनका इससे कोई विरोध नहीं हो सकता परन्तु जो इसे नहीं समझते वह बबल हवाकी पत्रकारिता के स्तर पर ही इसका विरोध करते हैं मद्यपि सिद्धान्ततः उनके पास इस विरोध का कोई कारण नहीं है।

हर्बर्ट रीड के अनुसार रोमांटिकवाद स्वभावतया और निरवधारक रूप से अतिव्यार्थवाद की ओर वप्रसर होता है। कुछ अन्य लोगों की दृष्टि में अतिव्यार्थवाद रोमांटिकवाद का विकसित रूप है। फिर भी रोमांटिकवाद और अतिव्यार्थवाद की बहुत सी विशेषताएँ एक ही प्रकार की हैं। दोनों समता के स्वान पर विपत्तियों को अधिक प्रथम देते हैं। दोनों में शैथिल्य के प्रति अविश्वास है तथा दोनों में मध्य वर्ग को चौंका देने के प्रति भाव है। किन्तु यदि अतिव्यार्थवाद किसी भी वर्ग या किसी भी दशा में रोमांटिकवाद का प्रतिनिधित्व करने वाला विचार कहा जा सकता है तो यह उस रोमांटिक आत्मा का प्रतिनिधि है जिसका जन्म प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मूर्खों के विघटन पर हुआ था। उस समय जबकि बुद्धोपरान्त सापेक्षित विज्ञानों के हाथ जोड़ित, शैथिल्य के प्रति अनास्था और अविश्वास से पूर्ण विद्रोह उठ खड़ा हुआ था।

इस विद्रोह को आगे बढ़ाने में सापेक्षवादी वैज्ञानिकों विशेषकर फ्रायड का बड़ा हाथ रहा था। फ्रायड ने मानव के ऊपर जोड़ी हुई शैथिल्य की बाहुर को दूर करके मानव मानव के अचेतन में आने का प्रयत्न किया। इस अचेतन पर किसी का बल नहीं था। इसकी कार्य प्रणाली मानव बुद्धि से परे थी क्योंकि इस पर तर्क शास्त्र की कोई विद्या नहीं जानू होती थी। यह शैथिल्य से परे थी। फ्रायड हीनेक तथा मार्क्स की तथी ही अतिव्यार्थवादी विचारधारा की जन्मदात्री कही जा सकती है। फ्रायड ने अचेतन तथा सर्वोच्चवादी मनस् का उद्घाटन किया हीनेक ने विवेचारमकता के संश्लेषण द्वारा विनाश का प्रतिपादन किया तथा मार्क्स ने वर्तमान मूर्खों के प्रति युगाधीन मस्तिष्क तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक निश्चित कार्य प्रणाली का सूजन किया।

शाबाइयम्—

अतियथार्थवाद का प्रादुर्भाव वास्तविक तथा मूक रूप में स्विटजरलैंड के क्यूरिच नाम के शहर में मुठ पीड़ित कुछ धरमाधिकियों द्वारा प्रचलित 'शाबाइयम्' से हुआ था। यह समय लगभग १९१६ के है। ये लोग मुठ द्वारा प्रताड़ित थे और अपनी एक सभा में जब मुठपीठ अधिकारियों के प्रति पूर्ण व्यक्त करने के इरादे से उन्होंने जब कोय खोका अनायास "शाबा" शब्द पर उनकी दृष्टि गयी और इस आन्दोलन का नाम "शाबाइयम्" रख दिया गया। इस शब्द का मुख्य ध्येय समस्त मानवों तथा समस्त बुद्धिशीलता का विनाश था। उसके स्थान पर तर्कहीन कार्य प्रणाली की स्थापना की गई। तर्कपूर्ण विचारशीलता के आदर्श के साक्षर को कुछ दिसे दिटे शब्दों के अतिरिक्त और कुछ न दिया। उनका विचार था कि भावनाओं की तर्कानुक्त स्वच्छन्द अभिव्यक्ति याथा का संस्कार करनी तथा कविता का पुनरुत्थान करनी। इनके शब्दों व विचारों में किसी प्रकार की शक्ति या अर्थ वर्तमानों का अभाव था। इनकी सभाओं में बसा खोहे के टोप लगा कर सम्मिलित होने से तथा जो कुछ भी कहना चाहते थे किसी भी सीमा को न मानते हुये कहते थे। उनके लिए वे सभी प्रकार के कार्य दशाध्य के अन्तर्गत किसी भी सुविधा का अभाव हो। यहाँ तक कि सार्वजनिक मूत्रालयों में उनके शिर्षों की प्रदर्शनी होती थी। इसका कारण यह था कि समस्त प्रकार की सुविधा तथा बुद्धिशीलता पर से उनका विनाश हट गया था। उन्होंने यह देखा था कि सारी सम्पत्ता अपनी सम्पूर्ण सुविधापूर्ण शौचिकता के होते हुए भी महासूत्र के भीषण हत्या क्रम को न रोक सकी। इस कारण उन्होंने इस आन्दोलन को उखाड़ फेंका जिस पर उनकी आस्था समाप्त हो चुकी थी। इस प्रकार के आशावादी में बहुत से अतियथार्थवादी अग्रदूतों ने कला सुविधा तथा मूल्यों के प्रति पूर्ण का प्रथम पाठ पढ़ा तथा उस अलक्ष्य व सर्वभ्यापी शून्यता से नवीन मूल्यों की स्थापना के लिए अपने अन्तर में अक्षय्योप उत्पन्न किया। कुछ समय परचाट्ट ट्रिस्टन टब्रज नामक एक क्वाथिबन के नेतृत्व में शाबाइयम् का केन्द्र पैरिस हो गया परन्तु उनके अर्धव्यभिक्त उद्धार धार्मिक आदर्श न प्राप्त कर सके तथा यह तीव्रतम आन्दोलन अतियथार्थवाद के अन्तर्गत आन्दोलन में परिवर्तित हो गया।

महत्त्व—

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में अतियथार्थवाद का अनुभवन अनेक विचारकों द्वारा हुआ परन्तु इसका प्रवर्तक साहित्यकार आन्ड्रे ब्रैटन माना जाता है। उनके इस आन्दोलन का सुनियोजित और संरक्षित रूप में आरम्भ किया। आन्ड्रे ब्रैटन के अतिरिक्त प्रमुख अतियथार्थवादी विचारकों में क्लिप्प



धुपोक लूई आरामों बाबी हूने रैन कैबल, ई० मेसेज तथा पाठ एमुबार वारि के नाम विशेष रूप से धस्सेलनीय है। आग्रे अंतन ने पट्टे धनु १९२४ मे तथा फिर धनु १९३० में दो भोवना पत्र प्रकाशित किये। इन भोवना पत्रों का उद्देश्य अतियपार्थवाद के रूप में आरम्भ किये गये आन्दोलन के स्वल्प हीर उद्देश्य का सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण करना था। सैद्धान्तिक रूप से अतियपार्थवाद को वाचसंधवाद तथा नीतिवाद का विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि इसकी माय्यताएं आदर्शात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण की विरोधिनी हैं। अतियपार्थवादी विचारकों के अनुसार आधुनिक युग में नीति तथा आदर्श के सिद्धान्त अम्यावहारिक तथा रुढ़िवादी हो गये हैं। इसलिये वे इनका विरोध करते हैं और लखेतन की विभिन्न सम्भावनाओं की दृष्टि में रखते हुए उन्हीं की अभिव्यक्ति पर नीरव बैठे हैं।

विष्कर्ष—

इस प्रकार से पारचात्य समीक्षा की विभिन्न प्रणालियों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि इनमें समय समय पर नवीन दृष्टि के अनुसार परिवर्तन तथा विकास होता रहा है। ऊपर विन आग्वोसनों का उल्लेख किया गया है इनके अतिरिक्त भी ऐसे बहुत से सिद्धान्त हैं जो पारचात्य समीक्षा के क्षेत्र में प्रवर्तित हुए थे। परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्तों में इन सभी तत्वों की निहिति है जो युग के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्लेटो वरस्तु, सॉक्राइटस मार्स कीर्कगार्ड, फ्रोबे तथा सार्त्र आदि विचारकों के प्रमुख विचार इन विन्तन पद्धतियों का आधार हैं। साहित्य में विभिन्न तत्वों की प्रमुखता प्रतिपादित करते हुए इनमें उन्हीं के अनुसार मूल्यांकन पर बल दिया गया है। उदाहरण के लिए यदि आचसंधवाद साहित्य में उदात्त तत्वों को अधिक महत्व देता है, तो यथार्थवाद उसकी यथातथ्यता पर, अभिव्यक्ततावाद यदि अभिव्यक्ति की दृष्टि पर अधिक बल देता है तो रूपवाद उसकी बाह्य रूपरामकता पर। इसी प्रकार से अन्य विविध भाव नी साहित्य अथवा काव्य के आन्तरिक अथवा बाह्य रूपों में से किसी न किसी को मुख्यता देते हैं। आधुनिक युग में पारचात्य समीक्षा का सैद्धान्तिक अथवा बाह्य रूप निर्धारण मुख्यतः इन्हीं वैचारिक प्रणालियों को आधार बना कर हुआ है।

अध्याय ७

भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धांतिक  
आधार



## समीक्षा के संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मानदंड

भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत बिन शास्त्रीय मानदंडों का बिकास हम परम्परागत रूप में देखते हैं वे मुख्य संस्कृत साहित्य शास्त्र में मिलते हैं। आधुनिक युग में भी उन का आचार ये ही परम्पराएँ रही हैं। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं प्राचीन संस्कृत समीक्षा में काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों की बहुत सम्यक् और खन्धेयभारतक विवेचना मिलती है। इसलिए संस्कृत में रस अलंकार, रीति बन्धेति तथा ध्वनि आदि सिद्धांतों का जो विस्तरेण मिलता है उनकी पृष्ठभूमि में इनके प्रवर्तकों तथा अनुसंधानों की व्यापक दृष्टि प्रतीत होती है। यहाँ पर यह उल्लेख करना अवश्यत न होया कि संस्कृत काव्य शास्त्र में उपर्युक्त सिद्धांतों के रूप में समीक्षा के बिन शास्त्रीय मानदंडों का निर्धारण किया गया है, वे प्रचलित काव्य की भासा की खोज के सम्बन्ध में ही हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा के संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मानदंड एक दूसरे के बंधन की दृष्टि का आभास देते हुए भी वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। अतः काव्य की भारता के अन्वेषण के निम्न-निम्न प्रयत्नों और दृष्टियों के रूप में हम उन्हें मान्य कर सकते हैं।

### रस सिद्धांत

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख संप्रदायों में रस सिद्धांत सबसे अधिक विधिष्ठता और प्राचीनता रखता है। इस सिद्धांत के प्रवर्तक मुनि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में इसकी सम्यक् व्याख्या की है। इसीलिये नाट्यशास्त्र को संस्कृत रस सिद्धांत की प्रवर्तक कृति के रूप में मान्य किया जाता है। परन्तु नाट्य शास्त्र में भी अनेक पूर्ववर्ती रस मन्त्र आचार्यों का उल्लेख है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उनके भी बहुत समय पूर्व इस सिद्धांत का अस्तित्व था और उसकी एक बीज

परम्परा थी। चूँकि भरत के पूर्ववर्ती विचारकों की रस विषयक चारणाओं का संयोजित रूप उपलब्ध नहीं होता इसलिए भरत मुनि को ही इस सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य मानना संभव प्रतीत होता है। यदि इस सिद्धांत के क्षेत्र में उनकी समस्त वैज्ञानिक नवीनी हो फिर भी वह मौखिक निमोजनकर्ता के रूप में तो असाधारण महत्व के अधिकारी हैं ही। रस के विविध पदों और अंगों की जितनी विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या उन्होंने प्रस्तुत की है वह अन्यत्र अनुपलब्ध है।

भरत के समय से परवर्ती युगों तक रस सिद्धांत का जो विकास हुआ है, उसके मूल में भरत का रस निष्पत्ति विषयक सूत्र रहा है। विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत की यह स्थापना परवर्ती युगों में रस सिद्धांत की आधार सूत्र रही। स्वयं भरत ने रस का जो सर्वांगीण और सविस्तार विवरण प्रस्तुत किया है उसका आधारभूत सिद्धांत भी यही है। उन्होंने रस के विभिन्न अंगों रस की निष्पत्ति, रस की संख्या रस की विविध रसाओं आदि को परिचयित करते हुए रस के स्वरूप का संपूर्णता के साथ विस्लेषण किया है।

भरत मुनि के द्वारा रस का जो स्वल्प विवेचन प्रस्तुत किया है, वह मुख्यतः नाटक पर आधारित है। भरत ने नाटक के सम्बन्ध में ही रस की व्याख्या की है। उनका विचार है कि नाटक का प्रमुख तत्व रस ही है। आगे चलकर जब काव्य पर इस सिद्धांत का आरोपीकरण हुआ तब जहाँ एक ओर इस सिद्धांत को व्यापक क्षेत्रीय प्रसार एवं माय्यता मिठी वहीं दूसरी ओर इस सिद्धांत का विरोध भी हुआ। बनेक पौरवैय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा मानना सर्वथा अस्वीकार कर दिया और अन्य तत्वों को इसकी अपेक्षा मुख्यता प्रदान की।

आमह वंशी नामम तथा सङ्घट जैसे उच्च कोटि के आचार्यों ने दूसरे तत्वों की काव्य में रस तत्व की अपेक्षा अधिक मुख्यता दी। इनमें से प्रायः सभी ने रस को क्षेत्रीय संकोच में बद्ध कर दिया और दूसरे सिद्धांतों का प्रवर्तन और मंडन किया। यद्यपि परवर्ती युगों में रस सिद्धांत के विरोधी अनेक सिद्धांत बने और विकसित हुए परन्तु बहुत से पंडित ऐसे भी हुए जिन्होंने रस सिद्धांत की ही तनीन और जोरपूर्व व्याख्या की। इस कोटि में जाने वाले विद्वानों में मट्ट कोस्कर तथा संक्रु क्रादि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके पश्चात् भी राजशेखर मट्टनायक भर्तृहरि और अधिक शोक, मट्टिम मट्ट तथा मम्मट आदि आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रस के अंगः—

काव्य की आत्मा रस को मानने वाले भाषायों में भरत मुख्य हैं। मुनि भरत के परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में विश्वनाथ भोज, जयदेव वाग्भट्ट आदि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। रस रस कहते हैं जिसका आस्वादन किया जाय।<sup>१</sup> रस को सामान्य स्वरूप ब्रह्म कहा गया है। रस के चार अंग माने गये हैं—

१ स्थायी भाव २ विभाव, ३ अनुभाव तथा ४ संज्ञारी भाव। रस की उत्पत्ति इसी चारों भावों के संयोग से होती है।

स्थायी भाव रस का मुख्य तत्व है। स्थायी भाव मुख्य भाव को कहते हैं क्योंकि अन्य सभी भाव स्थायी भाव के सहायक होते हैं।<sup>२</sup> दूसरे अर्थों में, स्थायी भाव वह भाव होता है जो अन्य भावों का अपने में संयोजित कर लेता है।<sup>३</sup> जो वस्तु भाव को उत्पन्न करती है उसे विभाव कहा जाता है। विभाव रस को उपजाते हैं। इसके दो भेद होते हैं। (१) आत्मजन विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव। जिसके बाध्य से रस की स्थिति हो उसे आत्मजन विभाव कहते हैं। यही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होता है। उद्दीपन विभाव रस को उत्पन्न करता है। इसलिए इसे आत्मजन विभाव का सहायक कहा जाता है।

प्रमुख रसः—

प्रमुख रस भी माने गये हैं। (१) शृंगार, (२) वीर, (३) करुण, (४) अद्भुत (५) हास्य (६) भयानक (७) बीभत्स (८) रौद्र तथा (९) घान्त। सांख्यीय दृष्टिकोण से इन ही रसों को ही साम्यता प्रदान की गयी है। परवर्ती काल में इन रसों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी और कुछ आचार्य बारहस्य तथा अलि आदि को भी रस मानने लगे। यहाँ यह तथ्य उल्लेख्य है कि मुनि भरत ने अपने "नाट्य

१ रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ।

२ रसो वै सः ।

३ विचरुं रचिरुं वा भावविचिष्टयते न यः आत्मजाये तमत्यग्यान् स स्थायी सवपाकर

अविच्छेदा विच्छेदा वा यं तिरोपानुमसमा । अस्वादाङ्कुरकंदोती भावः स्थायीति तन्मतः ॥

साक्षर" में नाटक में बाठ रस ही माने हैं। उन्होंने नाटक का प्रमुख तत्व भी रस ही माना। काम्य में रसों की संख्या तो मानी गयी है।

### शृ गार रस

शृ गार को सर्वप्रमुख रस माना जाता है।<sup>१</sup> इसे ईश्वर भक्ति का स्वरूप तथा रस राज कहा गया है। शृ गार एक पूर्ण रस है। इसमें अन्य रसों की अपेक्षा अधिक विचारों अनुभावों तथा संचारी भावों का योग रहता है। यहाँ तक कि अन्य सभी रस शृ गार के सहायक भी माने गये हैं। शृ गार का स्थायी भाव रति है। उसके आसंबन्ध नायक नायिका तथा सहीपण विभाव सौम्यर्य आकर्षण आदि हैं। शृ गार के अनुभाव सार्विक कायिक तथा मानसिक तीन प्रकार के होते हैं। इसके संचारी भाव अनेक हैं। शृ गार के दो भेद हैं (१) संयोग शृ गार तथा (२) वियोग शृ गार।

#### संयोग शृ गार—

संयोग शृ गार में स्थायी भाव रति होता है। इसका उत्कर्ष प्रिय के संयोग से अनुभावों तथा संचारी, भावों द्वारा स्पष्ट होता है। संयोग रस शृ गार को कहते हैं जिसमें दर्शन स्पर्श या संवाप द्वारा वागन्व की अभिव्यक्ति हो। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

- (क) बोक बने बोक के अनूप क्य निराकत  
पावत कहु न छवि सापर को छोरे है।  
बिन्तामनि केलि के ककानि के बिकासनि सों  
बोक बने बोकन के बितन के चोर है।

१ शृ ग ही बल्लभोद्देश्यस्तदभिपन्न हेतुकः। अतए प्रकृति भयो रस शृ गार इष्यते ॥

शोक जाने संभ मुसकानि मुखा बरसत  
 शोक जाने लूके मोद मय ब्रुह नीर हूँ ।  
 सीता जी के नैन रामचन्द्र के बकोर मये  
 राम नैन सीता मुझ चन्द्र के बकोर हूँ ॥

इसमें राम काचंबल सीता माधय, उमकी हुसी उड़ीपन परस्पर दर्शन अनुभाव तथा पारस्परिक प्रेम स्थायी, हर्ष आदि संचारी भाव हैं जिनके योन से शृ पार रस का उत्कर्ष हुआ है ।

- (क) ब्रुह मुझ चन्द्र और बिलवे बकोर शोक  
 बिले बिले बोधुनो किलेबो लकसात हूँ ।  
 हांसति हंसत बिन हांसो बिहंसत मिले  
 पातनि छौं पात बात बातम में बात हूँ ।  
 प्यारे तन प्यारी देखि देखि प्यारी पिय तन  
 पियत न जात निकहुँ न मनजात हूँ ।  
 देखि न चकत देखि देखि न सकत श्रेष  
 देखिके की बात देखि देखि ना मजात हूँ ॥
- (ख) जानु की छबीली छवि छाया बिल बेपि रही,  
 कही नहि जाति कछु कौन पति कई है ।  
 नबल नबैली हुंसि बिलबत छाड़ी पाति  
 मानों तिहि डर कई नेहुं मोकि कई है ।  
 हित प्रभु नीरज से नीर भरे डरे नैन  
 मोझा न कछु बिन बिअर सी हूँ कई है ।  
 नैन छाहूँ कीने क्य परी जब प्रेम कृप  
 बाकी गति माने सोई जिहि जस कई है ॥

इसमें इन्द्र माचंबल राधा माधय सौम्य उड़ीपन हंसना आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भावों से निकलकर शृ पार रस का उत्कर्ष हुआ है ।



विद्योग श्रु पारः—

इसे विप्रसंग श्रु पार भी कहते हैं। विद्योग श्रु पार की चार स्थितियाँ होती हैं (१) पूर्व राग (२) माग (३) प्रवास तथा (४) कश्म।

पूर्वराग—

प्रिय से भेंट होने के पूर्व उसके प्रत्यक्ष दर्शन बिना दर्शन बनवा स्वप्न दर्शन आदि के कारण उत्पन्न प्रेम को पूर्व राग कहते हैं। उदाहरणार्थ—

आहन दुरागो तो सों को सगि दुरागो बैपा  
 छाँची हो कही री बीर सय पुन जान है।  
 साँवरों सो डोडा एक ठाड़ी तीर जमुना के  
 मो तन गिहारयो नीर नरी अक्षियान बे।  
 बा दिन से मीरी ही बसा को कुछ नूरी मति  
 धाहे को जिवायो मोहि बाहि रूप बाम बे।  
 हा हा करि पाँप परीं रहुँगे माँहि जाय पर  
 पनघट बाम है री पन घट जान बे॥

इसमें नायिका की अबीरता से उसके नायक से मिलने की उत्सुका से पूर्व राग व्यक्त होता है।

माग—

जहाँ पर प्रणय सम्बन्ध में किसी कारण से असन्तोष अपना रोष हो जहाँ पर माग कहा जाता है। इसके तीन भेद माने गये हैं (१) अष्टु माग (२) मध्यम माग तथा (३) गुण माग। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

माननि असन पूरन बिसा बहिल धामर निता धगर मले बन्दा।  
 मुदि मैलि कुमुदिन तइ अयो तोहर बनि मूक मुख अरबिन्दा।

बाँह बदन कृपस्त्र बुद्ध लोचन अक्षर मधुर निरमाने ।  
सागर सरीर कुसुमे तुम तिरिजल किण्ड बहु हृदय परबाने ।  
असकति करहु ककन नहि पर तुहु हार हृदय मेरु मारे ।  
पिरि सम गुस्म मान नहि मु चरि अयुक्त तुब बेचहारे ।  
अबगुन परिहरि हेरहु हरिज पनि मानक अवय विहाये ।  
रामा विव विहु रूप मरायन कदि विघावति माने ॥

प्रभाव—

नायक के विशेष यमन के कारण होने वाली विरह पीड़ा की स्थिति प्रभाव विरह कही जाती है। प्रभाव के तीन कारण होते हैं (१) दाम (२) भय तथा (३) कार्य। इनमें से भी तृतीय के तीन भेद होते हैं—(१) भूत (२) भविष्य एवं (३) वर्तमान। प्रभाव का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

भाषी न सुम्हाई लायी भाषि है मनोमन की  
कोक तीनों हियो हेरि हेरि हृदय है ।  
बारि पर अरे अल जात बारि बारि बारि  
बारि के बाकुअ अल परवत है ।  
परिण ते भाई फारि मूडी गम जात कही  
'देव' माहि अियव जगत यों करत है ।  
तारे अिम पारे ऐसे गमकत धरु और  
बेरी विनु मंडल मूमको लो वरत है ।

करना—

विभोग की अन्तिम स्थिति कवण होती है। जब प्रेमी या प्रेमिका से मिलने की आशा निराशा में परिवर्तित हो जाती है परन्तु रति का भाव नष्ट नहीं होता बहो पर कल्प विरह होता है। कल्प विरह का उदाहरण इस प्रकार है—

काठिय कास महा विष ज्वाल बहो अल क्वाल अरे रजनी विनु ।  
अरुप के लय के धरने नहीं आनी ब्यारि यहै तह ज्योतिनु ।

६०० ] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

ता फासि की फम फासिन में फंडि जाय फंस्यो, उकस्यो न मजौ छिगु ।  
हा बजनाय सनाय करौ, हम होती हैं नाम मनाय तुम्हें बिगु ॥

बिद्योम श्रु गार की बसाए —

बिद्योम श्रु गार की बस बसाए मानी यमी है (१) अभिकाया, (२) चिन्ता,  
(३) स्मरण (४) गुण गणन (५) उद्देश्य (६) उम्माद, (७) प्रकाय (८)  
व्याधि, (९) बङ्गता तथा (१०) मरण ।

अनिजाबा—

प्रेमी या प्रेमिका से मिलने की कामना अभिकाया कही जाती है । यह बिद्योम  
श्रु गार की पहली बधा होती है । उसका उदाहरण इस प्रकार है—

मूरति की मन मोहन की मन मोहिनी के द्विय छँ बिरकी ली ।  
‘बेब’ घोपाल को बात सुनै छिय रात सुभा छतिया बिरकी ली ।  
मीके शरके हैं शोकि लके नहिँ नैनन बाल बहु बिरकी ली ।

चिन्ता—

प्रेमी या प्रेमिका के बिरह में उसके मिलन की कामना एवं उसकी दुःखता की  
बासंका चिन्ता कही जाती है । यह बिद्योम श्रु गार की दूसरी बधा होती है । इसका  
उदाहरण इस प्रकार है—

के से जकेली महाजन बीच जहाँ ‘मतिराम’ जकेकोई मारी  
अपने बालन बंड की बाँवनी ली पहिले तल ताप बुसावे ।  
कूल कौबरी के कुजन संजुळ पीठे अमोल से बोल सुसावे ।  
व्यो हंसि हरि लियो हियरो हरि, रयो हंसि के हियरे हरि कारी ॥

स्वरूप —

इसमें प्रेमी या प्रेमिका के विधोय की स्थिति में निरंतर उसका ही ध्यान रहता है । यह विधोय शू वार की सीधरी दसा होती है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अथ दुःख न उलग करै उर ध्यान पारे बिरह क्वर भाषति  
नासिका उप की और धिये अथ मुद्रित लोचन को रस मायति ।  
आसन बाँधि बसाँस भर अथ रासिका 'देव' कहा अचरावति ।  
मुक्तिगो भीष कहे लक्षि लोय विधोय किम्पों यह मोबधि सावति ॥

गुण कथन—

इसमें प्रेमी या प्रेमिका के विधोय की स्थिति में उसके गुणों का कथन किया जाता है । यह विधोय शू वार की चौथी दसा है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

धीर बसा 'मतिराम' जिरिह में कठ बनो बनमाल सुहाई ।  
मोहन की मुसकानि मनोहर क इल डोलनि में लवि छाई ।  
बोचन मोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि प्रयो बस भाई ।  
बा मुक की मपुराई कहा कही भीठी लये संजियान सुभाई ॥

उद्देश्य—

इसमें प्रिय के विधोय में प्रसन्न मन से ही उचटने लगता है । यह विधोय शू वार की पाँचवी दसा है । इसका उदाहरण इस प्रकार है —

बंकर पटोर देखे हुनो दुख पीर होत  
सीर हू जसीरनि ते पीर और हार की ।  
संवा सी अबास जयो तवा सो तपठ लहु,  
अति हो तपठ जागे शार घनसार को।

मासम मुकबि छिन छिन मुसति जाति  
ससिन बिचारि तयो रीति प्रपचार की ।  
मन की मकरे मर रही मन मारि मारि  
एक ही मुठरि बिनु मारी मरै मार की ॥

प्रभावः—

जब बियोग की मन्त्रिभमता भ पात्र प्रभाव करने लग, तब यह स्थिति होती है । यह बियोग की छठवीं रक्षा कहलाती है । इसका उदाहरण इस प्रकार है —

काण्ह भई बुधभाग्य सुता भई प्रीति नई उगई जिय बेसी ।  
जाने की बैब' बिकानि ही बोले मये धूप लीगन बैस बनैसी ।  
क्यों क्यो तसो यहूरावति बातन क्यों क्यों बकै बहु बावरी ऐसी ।  
राबिका प्यारी हमारी ती तू कहि कामि की बिनु बजाई मैं बैसी ।

उत्पादः—

प्रभाव की स्थिति में जो उत्पाद कथन से होता है उसमें यह स्थिति होती है । यह बियोग की सातवीं रक्षा होती है । इसका उदाहरण इस प्रकार है :—

आरु आरु बरुति बिपा मे झुड़ि झुड़ि पाति  
पी की घुबि भाये बी की घुबि छोड़ छोड़ बैति ।  
बड़ी बड़ी बार लनि बड़ो बड़ी भासिन ते  
बड़ बड़े मंनुबा हिये समोय मोय बैति ।  
कोड़ मरी कुड़ौति बिमोह मरी मोहि मोहि  
छोड़ मरी छिसि पे छली ती रोड़ रोड़ बैति ।  
जासि बिन पासम बिकस वैठी बार बार  
घनु में बिरह बिय बीब बोड़ बोड़ बैति ॥

व्यापि —

जब बियोग की अविच्छेदा में निराशा के कारण व्यापि के कथन सामूम होने

भारतीय औद्योगिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धांतिक मापद [ १०३ ]  
 क्यते हैं, तब यह स्थिति होती है। यह बियोग श्रृंगार की भाँठी बघा होती है।  
 इसका उदाहरण इस प्रकार है —

सँकत सारो बेह में सयन भंयनि भंग भागि ।  
 हो को सी भयकत हिया बिन सुभा की भागि ।

अङ्गता—

यून रूप से निराप हो जाने पर बियोग में अङ्गता की स्थिति आती है। यह  
 बियोग श्रृंगार की भाँठी बघा कहलाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

तू केहि बितवत बलिबत सुगी सी ।  
 कहि हूँकत तेरो कहा लोयो क्यों अनुभाति लप्याति ठपी सी ।  
 तन सुधि कइ उफरति री भाँवर कौन स्याल तू रूति जगो सी ।  
 जतर न देत बढी सी बीठी मर वीया के रँग जगी सी ।  
 श्रीकि श्रीकि बितवति आरु विस सपने पिय देखति जमड़ी सी ।  
 पुल बेचारी मृग लीनो क्यों निज बल तनि कठुँ दूर मगी सी ।  
 करति न लान हार परबर की कुल मरजादा भाति जगो सी ।  
 हरीबाब ऐधिहि जरसी तो क्यों नहि बोलत संय लपी सी ॥

मरक—

यह बियोग श्रृंगार की अन्तिम बघा कहलाती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

बिरह बिपति बिन परत हो तेज मुकनि सब भंग ।  
 रहि अब लौं कुचक्रु किये जला जली जिय संय ॥

बीर रस

इसका स्थायी भाव उल्हास है। मरक आसम्बत पाशु पाँय आदि है। इसका  
 उदीपन विभाव अष्टा मर्जना आदि तथा अनुभाव सुखाओं का सकारण सौम्य प्रभाव

आदि तथा संभारी भाव गर्भ उग्रता आदि हैं। बीर रस के चार भेद होते हैं (१) युद्ध बीर, (२) शान्तिबीर (३) वयाबीर तथा (४) परमबीर।

#### युद्धबीर—

इसके आसंबन सत्र, उद्दीपन सत्र के कार्य अनुमान गर्वोक्ति, तथा संभारी भाव हर्ष आश्रय आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

बेकत ऊ चाई उदरत पाग सुधी राह  
 कोसहू में चढ़ ते ये सख्त निकेत हैं।  
 सिखा जी हुसुम तेरो पाय पैबलन,  
 सखहेरि परनालो ते ये जोते अनुजेत हैं।  
 सावन भाबों को मारी कछू की मँप्यारी चढ़ि  
 दुगम पर जात मावसी बल सभेत हैं।  
 सुपन मनत ताकी बात में बिघारी तेरे  
 परताप की उजियारी पढ़ सेत हैं।

#### शान्तिबीर—

इसके आसंबन याचक उद्दीपन शान्ति अनुभाव याचक का सम्मान तथा संभारी भाव हर्ष गर्भ आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

पीरी पीरी होमे तुम बेत हो अंगाय हूँ,  
 सुबरस हूँ सों परिसि करि कैत ही।  
 एक पक्ष ही में जाऊ बखान सों, जेत लोग  
 तुम राजा हूँ के जाऊ बेबी को सभेत ही।  
 भूपन मनत मशुराऊ सिबराम बड़े  
 शानी सुधी ऊपर कहाए कोमे कैत ही।  
 रीसि हसि हाथी हूँ सब कोऊ बेत कहा  
 रीसि हसि हाथी एक तुम ही पै बेत ही।

#### वयाबीर—

इसके आसंबन वया पात्र उद्दीपन उग्रही वीर वया अनुभाव सात्वता संभारी भाव श्रुति, मति आदि होते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भी सरखा सिख तो जस सेत छी होत है स्नेहजन के मुँह कारे ।  
भूपन तेरे छि राते प्रताप समेत सखे कुररा नुप सारे ।  
साहित्यने तुम कोप छुटानु ते बँदि करे सब पाणि पपारे ।  
एक मजमब होत बड़ी तिन धोठ गहे अरि जात न जारे ॥

धर्मबीट—

इसके आलंबन धर्म बचन आदि, उद्दीपन धर्म फल आदि अनुभाव धर्म व्यवहार आदि तथा संघारी भाव भृति मति मोह आदि होते हैं । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बेधि बेह दारा सुमन होइ बात तु मन्द ।  
रखिहों निज बधि सत्य करि अमिमानी हरिचन्द ॥

### कदम रस

मयभूति के अनुधार कदम ही एक रस है अन्य रस की भेद के कारण ही है ।<sup>१</sup> कदम रस में रसानुभूति बहुत अधिक होती है । यह बहुत कोमल रस माना जाता है । इसके पाँच भेद माने गये हैं—(१) साधारण कदम (२) भठि कदम (३) महा कदम, (४) सभु कदम तथा (५) मुल कदम । परन्तु इन भेदों को कदम की मात्रा के ही भेद कहा जा सकता है । कदम रस वहाँ पर होता है वहाँ पर किसी प्रकार के शोक के भाव की अभिव्यक्ति होती हो । इसके आलंबन विभाव प्रिय वियोग आदि, उद्दीपन विभाव प्रिय स्मरण आदि अनुभाव स्वन मूर्छा प्रसाप आदि संघारी भाव व्याधि

१ एको रस कदम एव निमित्त भेदा—  
धिम्न पुयक पुयविबाधयते विवर्तान् ।  
आचर्या बुद्धुदतत्तामयान् विकारा—  
नन्मो यथा सन्निक्रमेव तु तत्तमप्रम् ।



म्हानि, बिस्ता, बिपार उग्माद आदि तथा स्वामी मात्र छोड़ होता है। कश्च एस मुख्यतः चार प्रकार का होता है— (१) प्रिय बिनास अनिठ, (२) प्रिय बिमोय अनिठ, (३) भय नाश अनिठ तथा (४) पराभव अनिठ। कश्च एस के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

- (क) लीर भरयो सुय हीर पुहा यिदि बीर बरयो सुयबीर महा है।  
पुछत पीर भरे बुग नीर सु एक समीर करे बी छराहै।  
एके बंधोछतो बीर से से तिय छीर से छे छिरके करि छाहै।  
भेंटत नीर महीरन की बर बीर जकी बर बीर की बहिं।
- (ख) बेई छति सुरज उबत निति सोस यही  
नछत समूह शमकत नम प्यारो सो।  
बेई 'बेय' बीपक समीप परि बेबे बही,  
हुयो करि बेद्यो सेत पुयो की उजियारो सो।  
बेई बन बापन बिलोके सीस महस कनक  
मनि मोती कछु सायत न प्यारो सो।  
बाहो बान्ध पुखी की मुनब मुस्क्यान बिनु,  
जानि परयो सब बबह हाय बंधियारो सो।
- (ग) माय की भूमि पुहाय को मूयन राख छिरी निधि साब बिबासु।  
आइए मेरी कुह पुरु बीपक पाय पतिवति प्रम प्रकासु।  
लंक से आइ निरंक निधि पुक ससंसु चारति कीसिका सासु।  
पायन वी ते पठाई सिदै हिय काम बुलाय से बँछति भासु ॥

### अद्भुत रस

अद्भुत रस को आचार्य भर्मवत्त ने मूल रस माना है। उनके विचार से अद्भुत रस का सार चमत्कार है और चमत्कार का सार अद्भुत रस।<sup>१</sup> चमत्कार को प्रतिभा

१ रसे तारवचमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।  
तत्रचमत्काररसश्चै सर्वत्राप्यद्भुती रसः ॥

का चिह्न भी कहा गया है। अद्भुत चार प्रकार के माने गये हैं (१) दृष्ट, (२) श्रुत, (३) सकीर्तित तथा (४) अनुमित। अद्भुत रस के आसम्बन्ध विभाव अद्भुत वस्तु बादि, उद्दीपन विभाव उष वस्तु श्री बिलसमता आदि अनुभाव रोमांच स्तम्भ आदि, संघाटी भाव, आवेश, उत्सुकता आदि तथा स्वायी भाव आश्चर्य होता है। अद्भुत रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) अद्भुत एक अनुपम भाग।

ज्येष्ठ ज्येष्ठ पर गत बर कीड़त, ता पर सिंह करत अनुराग।  
हरि पर सरबत् सर पर गिरिबर, गिरि पर कूले कर्ज पराग।  
हृदिर कपोत बसत ता ऊपर, वाहू पर अमृत फल लाग।  
फल पर पुहुप पुहुप पर पत्तन ता पर शुक्र पिठ मृग मर काय।  
खजल यनुय खंरमा ऊपर, ता ऊपर शक मतिबर नाप।  
मंग मंग प्रति और और छवि उपमा ताकी करत न त्याप।  
'सुरदास' प्रभु विपद सुधारस, पाहु ऊपरन की बड़ भाप ॥

(ख) देखे ही देखे अद्भुत रीति।

बलक रिपु सौं रिपु कियो, हित छाड़ि बई मनीति।  
करि ज्येष्ठ कपोत कोबिल कियो हिय डिय बास।  
बनुय ऊपर तिलक रैदा मयो न रिपु का मास।  
बलक माल सुठार ऊपर निरखि मुबित मंगय।  
पूर स्वाम निहारि यह छवि मई मनसा रप ॥

(ग) गगन बपीये बीच बैठ के अरत कुल

मृग बस पी के भेत प्यास को बुझाई है।  
कल्पना पुरी को स्वात गू गो अब रंग एक  
दोले लंग बोले बोल करन हुंकाई है।  
हवा के धके में दून दुहि के अर्जुन जाकी  
मिति बाले बिजन की बैठ सब प्याई है।  
मापी पुर भासे देखो प्रात सौं लपाय सांस  
माति माति बछड़े बिमाति बाछ पाई है।

### हास्य रस

मुनि मन्त्र ने हास्य की उत्पत्ति श्रु गार से मानी है ।<sup>१</sup> हास्य एक स्वाभाविक प्रकृति है । इसके कई प्रकार हैं जैसे (१) हास्य, (२) वाक्य चातुरी, (३) व्यंग्य तथा (४) व्यंग्येति । इनमें से भी मस्तिष्क के दो (१) काकू तथा (२) स्लेप भेद हैं । हास्य रस के आत्मस्वतंत्र विभाव विविध बंध भ्रूया व्यंग्य बन्धन आदि, उद्दीपन विभाव विविध चोट्टाई अनुभाव मुख फँसना आदि संवारी भाव हर्ष, अपकृता रोमांच निर्लज्जता आदि तथा स्थायी भाव हास होता है । हास्य मुख्यतः दो तरह का होता है (१) आत्मस्य तथा (२) परस्य । यों इसके छे भेद बताये गये हैं—(१) स्मित, (२) हसित (३) विहसित (४) अबहसित (५) अपहसित तथा (६) अतिहसित । हास्य रस के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

(क) जगत के कारण करन चारो बेदन के  
कमल में बसे थे सुखान जान करि के ।  
बोखन अबलि बुझ सोखन तिलोकन के  
तमुद में जाय सोये सैज सैस करि के ।  
घबन करायो और संहारयो बुष्टि हो तो सुष्टि  
बसे हैं पहारबैरु माझिहरवरि के ।  
बिबि हरि हर बड़ हबमें न कोरु तैरु,  
आद व न सोबै जटमरुन सो उरि के ।

(ख) पोपी गुणक को बालिका के बुवनाशु के मीन पुनाह गई ।  
उदियारे बिलोकि बिलोकि लहुँ यिका पास सिधाय गई ।  
जि - बिलो पा उहेकि सो पो कंठ लयाइ गई ।  
सा निरंज उहें । मुमुकाइ गई ।

- (घ) म्यान सौ कमसदान करते निकारि तामें,  
 स्याही बस बिय में कुसाई बार बार है ।  
 बार युक्ति बौहर अगावत समेह संभ  
 अदिक समेक तामें तिमिल सुठार है ।  
 'कुपल क्रिसोर' बसं बागब घरा ये वाय  
 पार ना बया को नेकु लागे बार पार है ।  
 पाइ के नंवार पाई साफ करै साइत में  
 मुनसी कसाई की कम्म तरवार है ।

### भयानक रस

भयानक रस किसी भयोत्पादक वस्तु के दर्शन आदि से उत्पन्न होकर विविध भाव विनाश अनुभाव तथा संचारी भावों से उत्कर्ष को प्राप्त होता है । इसके आसंबत विभाव हिंसक प्राणी, बलवान शत्रु, भूत प्रेत आदि का विचार, उद्दीपन विभाव हिंसक जीवों की बेप्टाए, शत्रु की भयानक बेप्टाएँ अनुभाव रामाधि कम्पन आदि, संचारी भाव संका, चिन्ता, ग्लानि आस आदि तथा स्थायी भाव भय होता है । भयानक रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (क) कौक कच्छ बरै कोन फँसत फनी के मुख  
 बसि पाई बरा बरापर उर पर के ।  
 हर के रहे न मानु मरके सुरंग कहु  
 भायि बसे ताहुक बिर्बि हरि हर के ।  
 शम्भित गयल तसि कम्पित भुयन हत  
 कम्पित बुवन पुन चँबे रजबर के ।  
 बन्दी रैय आसन लकाने पाक सासन,  
 न कोऊ विर आसन सरासन के करके ॥

- (ख) अति पथं पतत न सगुन, असगुन सबहि आपुष हाय ते ।  
 नद गिराई रय ते आत्रि पत्र बिबकरत मानहि साय ते ।

मोमयु बीज करान कर रच स्वान बोलहि अति घने ।  
जनु काल हूत जसुक बोलहि सकल बरम भयावने ॥

- (ग) फूडत हुलास मानसास एक संघ छूटे  
हरम सरम एक संघ बिन डग ही ।  
मेनन को नीर पीर फूडे एक संघ छूटे  
धुस बनि मुक बनि त्यो ही एक रंज ही ।  
भूवन बजाने सिबराज मरवाने ठैरी  
पाक बिलसाने न पडत बस अंज ही ।  
बकिछन को सुबा पाइ बिस्की के बबीर तभी  
उत्तर की आता बीज आता एक तन ही ।

### बीभत्स रस

बीभत्स रस की गणना अग्रभाग रसों में की जाती है। इसके आर्कषण विभाव स्मञ्जान घन बृष्य वस्तु आदि उद्दीपन विभाव, मांस भक्षण आदि संचारी भाव आनेय उन्माद, ग्लानि आदि तथा स्थायी भाव पुमुप्ता होता है। बीभत्स रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

- (क) आँती के तार के मंचल कंगन हाथ में बाँध पिशाच की बाला ।  
कान में हाकन के मुमका पहिरे जर में हिचरन की माला ।  
भोडू के बीचड़ छों बबडे सब अंज बनाये सव्य कराला ।  
पीतम के संघ हाड़ के बूँदे की मय पिये क्षुपरीन के प्याला ।
- (ख) बरवा के घरे मरे घुतकडु खात न  
धिनात करे मांसनि के बीर को ।  
बीजन बराह को बबर कारि जूतति है  
पार्वी दुर्गन्ध सो मुगन्ध जैसे बीर को ।  
द्वैधत मुगत दुधि करत हू आषि छिन  
साँझ तब अंजनि छिनावने ही ठैर को ।

मति के कठोर मानि बरम को तोर करै,  
काम नी अघोर डरै परम अचीर को ।

- (घ) छिर पर बंद्यो काग बांध होइ जात निवारत ।  
बीचत नीमहिं स्वार अतिहिं आमन्त्र डर भारत ।  
पीच बांध को खोदि के मांस उपारत ।  
स्वान बांमुरिण कादि कादि कै जात विवारत ।  
बहु नीच मोच नै जात मुख मोच मरयो सबको द्वियो ।  
मनु बह्य मोच अविमान कोठ आन निवारिण कहूँ द्वियो ।

### रौद्र रस

रौद्र रस मुख्यतः प्रतिशोक जनित श्लोक की भावना से उत्पन्न होता है। रौद्र रस के आत्मन्वन प्रतिपत्नी गम, उद्दीपन, प्रतिपत्नीगम के अपमान बमक कार्य तथा बचन, अनुभाव बेहरे पर श्लोक मुख्यतः चिन्हों का आना, संवारी भाव सघटा, आशेय, अचलता भावि तथा स्वामी भाव श्लोक है। रौद्र रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

- (क) मनु पितृहिं अति शोक बस करसि महीप कठोर ।  
मर्मन के अनेक बसन परसु मोर अति घोर ।
- (ख) नीचम मघानक प्रकास्यो रन सुनि आनि  
छाईं छिति छविन की गति उठि जायपी ।  
कई 'एतनाकर' बचिर को ब बोपी बरा  
कोचनि में कोचनि की भीति छठि जायपी ।  
भीति छठि जायपी अचीत पाहु पुनन की  
सुप डुरबोचन की भीति छठि जायपी ।  
कै ली प्रीति रीति की सुनीति उठि जायपी क,  
आज हरि मन की प्रतीति छठि जायपी ।
- (घ) विनय न मानत अकबि अड़ गये हीन विन भीति ।  
बोले राम सकीय तब मय विनु होम न प्रीति ॥

- (घ) बालक बोसि बघी नहिं तोही । बोलत मुनि बड़ जानसि मोही ।  
 पास बड़ाघारो भति कोही । बिदय बिदित क्षत्री कुल होही ।  
 मुज पस सुनि सूप बिनु कीमहीं । बिपुल बार महिबेपन सोही ।  
 राहस पाहु मुज ऐबत हार । परसु बिकोकु महीप कुमार ।

### धान्त रस

मुनि भयत ने धान्त को रस नहीं माना है । धान्त रस में उद्बेग आवि का पूर्ण अभाव रहता है । इसका आधिभक्ति और आध्यात्मिक वर्णन होने पर होता है । इसके आत्ममग्न संसार की असाक्षा तथा आध्यात्मिक वृत्तियों में कवि, सहीपन सरसव, शास्त्र पारायण, अनुभाव, सांसारिक कार्यों में निरसिपि होता संघारी मान वृत्ति उद्बेग म्भानि बेग्य आवि तथा स्थायी भाव निबैव है । इसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

- (ङ) जानि परबो मोको जग भसत अधिल यह  
 प्रुथ आवि काहु को न सर्बवा रहत है ।  
 या है परिवार ब्यबहार भीतहाराविक त्याग,  
 करि सब की बिकसि रह्यो मन है ।  
 म्बाल' कवि कहै मोह काहु में रह्यो न मेरो  
 क्योंकि काहु के न सग बयो तनजन है ।  
 कीम्यों में बिचार एक ईशवर हो साब  
 नित्य अलख अपरवार बिबालंबजन है ॥

- (च) मेरी मन हरि हठ न सजे  
 नित बिन नाम बेड सिध बहु बिधि करत मुनाब बिजे ।  
 क्यों भुवती अनुभवति प्रलय भति बासल कुल उपजे ।  
 हूँ अनुकूल बिचारि सुल सठ पुनि खल पतिहि सजे ।

लोकपुत्र अमल गृह पशु चर्यो, बहू लई सिर पर मान बर्षे ।  
 तदपि जबरम बिबरत तेहि मारय कहुँ न मूढ लखे ॥  
 हो हारयो करि बतल विधि अतिशय प्रबल अखे ।  
 'तुम्हीबात' बस होइ तबहि सब प्रेरक प्रभु बरखे ॥

- (प) अपुनपो जापुन ही बिसरयो ।  
 जैसे इबाल कौब मन्दिर में अग्नि अग्नि सु कि मरयो ।  
 हरि सोरम मृग नाम बसत है अम तृण सुधि मरयो ।  
 पयो केहरि प्रतिबिम्ब बेखि के जापुन रूप परयो ।  
 जैसे गज कछि स्फटिक तिला में बसतनि जाय मरयो ।  
 मकंठ सुद्धि छाड़ि नहि बीगी घर बर द्वारा दियो ।  
 'सुरबास' नलिनी को मुखवा कहि कौने अकरयो ॥

### वात्सल्य रस

वात्सल्य रस को अनेक आचार्यों ने भी रसों में स्थान न देकर बसबा रस माना है । कुछ ने तो इसे रस तक न मानकर मात्र भाव ही माना है । जहाँ पर स्नेह भावना या ममता का आधिपत्य हो वहाँ पर वात्सल्य होता है । इसके अतिरिक्त विभाव पुत्र पुत्री आदि, उद्दीपन विभाव उत्तकी अक्षय सरल श्रीद्वार्य, संघारी भाव एवं यर्ष आदि, तथा स्थायी भाव स्नेह होता है । वात्सल्य रस के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं —

- (क) बरबत की पंगति कु र कली जबरायर पस्तक बीरुन की ।  
 अपका अमकै धन बीब जगै छवि भोतिन माल अमोलन की ।  
 सुंदरारि लई लटकै मुख अमर कु दल लोल कपोलन की ।  
 निबछाबर धान करे तुलसी बलि जाऊँ लला इम बीरुन की ।
- (ख) सोस कसै कूल ही पग वैचनि भोतिन माल हिये बधि रो है ।  
 कान्ति कभार लहै मुस्तिदान की दूँ बतियाँ बतियाँ कहि सो है ।  
 मास असोमति गौर लिए बधि मोर समात् नहौँ मुख जो है ।  
 नग की नग बगवत को नग निहाव री मोहन भो मन मो है ॥



- (ग) चंद्र खिलौना सेहों मैया मेरी चंद्र खिलौना सेहों ।  
 खोरी को पत्र पान न करिहों बेनी सर न गुनेहों ।  
 मोतिन माल न मरिहों सिर पर शुभासी कंठ न सेहों ।  
 बँहों लोट अमी बरनी पर खोरी गोद न देहों ।  
 लाल कहैहों नग बबा को खेरो सुत न कहै हों ।  
 काल काय कछ कहत यमोबा दाजहि नाहि धुने हों ।  
 खरबा हू ते भलि सुखर तोहि नवल दुसैया ध्यहों ।  
 खेरी सौह मेरी सुग मैया अबहों ब्याहन बँहों ।  
 सुरबाय' सब सपा बराती पूलन मंगल गैहों ।

### भक्ति रस

भक्ति रस की गचना भी प्राचीन साहित्य सास्त्रियों ने ही रसों के अन्तर्गत नहीं की और इसे प्रधान रसों में नहीं माना । ईश्वर में अनुरक्ति भावना की अतिव्यवस्था से भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है । भक्ति रस के आत्मन्वय विभाव ईश्वर या ईश्वर के लक्ष्य, जहीपन विभाव ईश्वर या ईश्वर के लक्ष्य एवं कार्य संचारी भाव हर्ष निर्वेद, अनुभाव रोमांच तथा स्वामी भाव ईश्वर के प्रति अनुपम होता है । भक्ति रस के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

- (क) मेरे तो निरखर गोपाल हूँसरो न कोई ।  
 जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।  
 छाबुन संग बैठि-बैठि कोक लाल खोई ।  
 अब तो बस फँस गयी जाने सब कोई ।  
 अंशुधन बस सीधि-सीधि प्रेम बेलि खोई ।  
 'मीरा' की लगन छगी हीनो हो धो होई ॥
- (घ) धारें मैं न और ना साँवरे साँस भक्ति सो  
 चाहि जोहि कमला अताप्यो कर भारी ।  
 कहीं रतनाकर मुसकि गय साहस के माप्यो  
 हँस-हेरि नाव भारत अपार लै ।

तन रहिबे को सुख सब बहि बँहँ हाय ,  
 एक बूब भाँसु में तिहारे जो बिचारते ।  
 एक ही कहा है कोटि कल्पानिमान प्राण  
 बाते सबत १ न तुमको पुकारतै ॥

- (ग) मुनि भीर जोगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं ।  
 कहि नेति निगम पुरान जागम जामु कौरति गावहीं ।  
 सोइ रामु ध्यावक बहू भुवन निरुप पति माया बनी ।  
 भवतरेज अपने मगत हित निरु तत्र भित रघुकुल मनी ॥

संक्षेप में रस सिद्धांत की एक पृष्ठ परम्परा है। बही नामह जोस्टुट सद्मट  
 बादि ने किसी न किसी रूप में रस को मान्यता दी है। अन्य सिद्धांतों के अनुगामियों में  
 वामन तथा कुण्डक बादि ने भी रस के महत्व को अस्वीकार नहीं किया है। संस्कृत में  
 रस के इसी सर्वाधिक महत्व की स्थापना के कारण परवर्ती भाषायों ने भी पूर्ववर्ती मन्त्रियों  
 को ही मान्य करते हुए उनसे प्रेरणा ग्रहण की।<sup>१</sup>

रस सिद्धांत के भाषार्य भरत द्वारा प्रवर्तन के परचात भाषार्य आनन्द वर्द्धन ने  
 इसकी स्वरूप गत सम्पूर्णता प्रतिपादित की है।<sup>२</sup> आनन्द वर्द्धन ने रस की विशेष

1 *Neither the Dhvanikar nor Anandvardhan could not at least form the stand point of theoritical consistancy explicitly make this suggestion of Rasa the exculsive end of poetry in so much as the unexpressed may in some cases be matter or an imaginative mood although it can be shown that their views practically trained to such a proposition and probably inspire later theorlist to work out the thesis that the Rasa alone is the essence of peotry ( Some concepts of Alankar Shashtra Dr Raghavan)*

2 *The concept of artistic culture in anclent India arrived at certlan will formulated doctrine of Rasa and it was formulated by Anandvardhan. ( Highways and By ways of Literary Criticism in Sanskrit K. Swami)*

महात्मा प्रबन्ध काव्य में स्वीकार की है। उनका विचार है कि महाकाव्य रस प्रधान होता है इसलिए इसमें रस के अनुसार शोधित्य होगा चाहिए। उन्होंने महाकाव्यों के अन्य प्रकारों की अपेक्षा रस प्रधान महाकाव्य को ही श्रेष्ठता दी है। इसके अतिरिक्त नाटक में भी पूर्ण रस योजना पर उन्होंने गौरव दिया है।

इसी प्रकार से अमिनबुद्ध ने भरत सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने पूर्ववर्ती व्याख्याताओं के विचारों का भी परीक्षण किया है। इस संदर्भ में उन्होंने मूट्ट कोस्कर, संक्रुत तथा भट्टनायक आदि के मतों का भी परीक्षण किया है। उन्होंने रस की प्रतीति को ही रस की अन्तिम समस्या माना है। भारतीय साहित्य शास्त्र में संस्कृत रस सिद्धांत की व्यापक क्षेत्रीय मान्यता इस कारण भी है क्योंकि इस सिद्धांत काव्य में कला तथा भाव पक्षों के संयुक्त और संयोजन पर गौरव दिया है।

### अलंकार सिद्धांत

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख संप्रदायों के अलंकार सिद्धांत भी प्रमुखता रखता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में अलंकार शास्त्र अथवा का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है। अलंकार सिद्धांत की शीर्ष साम्प्रदायिक परम्परा के अर्थ में तो इसका प्रयोग हुआ ही है, परन्तु विविध संप्रदायों की संयुक्त रूप से भी अलंकार शास्त्र के अन्तर्गत पवित्र कर लिया जाता है। मूक रूप से अलंकार संप्रदाय का बहि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाए तो भरत मुनि से लेकर आज तक के विविध संस्कृत रीतिकालीन तथा हिन्दी भाषाई इस संप्रदाय के समर्थकों के रूप में मिलते हैं।

संस्कृत भाषाओं में मुख्यतः भरत मामह बंड़ी तथा उद्भवट आदि ने अलंकार शास्त्र का धर्म्य विवेचन किया है और इसके अनेक भेद-विभेद किए हैं। यद्यपि सर्व प्रथम अलंकार विवेचन मुनि भरत ने किया परन्तु वह अलंकार बाधी नहीं थे। इसी प्रकार से मम्मट जैसे भाषाओं ने अलंकारों का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्म रूप से किया परन्तु उनका पक्ष भी अलंकारवाकियों में नहीं की जाती है। इसके विपरीत अलंकार संप्रदाय के प्रवर्तक भाषाई मामह माने जाते हैं जिनका अलंकार विभाजन अधिक बहू भेदी नहीं है और न ही बहुवच्यक ही है।

अलंकार संप्रदाय का सम्बन्ध समीक्षात्मक दृष्टिकोण से मुख्यतः काव्य के अतिरिक्त

से है। इसलिये अलंकार समन्वय भारतीय समीक्षा शास्त्र का एक विधिवत् सिद्धान्त है जिसकी परम्परा का प्रसार वर्तमान युग तक मिलता है। अलंकार शास्त्र की परम्परा के विकास के साथ ही साथ अलंकारों की संख्या में भी अत्यन्त वृद्धि हो गई है परन्तु नवीन अलंकारों की रचना की जा रही है।<sup>१</sup>

मुनि भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में अलंकारों का वर्णन करते हुए केवल चार अलंकार स्वीकृत किये हैं। ये चारों उपमा, रूपक शीपक तथा यमक हैं। अलंकार सिद्धांत के अनुसार अलंकार ही कविता की श्रेष्ठता का मुख्य साधन है। अलंकार का रूप वैचित्र्यम् अलंकारः है। अलंकार सिद्धांत के सर्वे प्रथम प्रवर्तक मामह माने जाते हैं जिनका समय सातवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। उन्होंने भरत मुनि की स्थापनाओं के विपरीत उस नौ अलंकार शास्त्र के अल्पमत प्रतिपादित किया है।

मामह ने भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पिताने हुए उपमा रूपक शीपक तथा यमक अलंकारों का मान किया तथा आक्षेप, अर्थांतरग्यास व्यञ्जितक तथा विभावना आदि नये अलंकारों के उल्लेख भी किये। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अलंकारों के उल्लेख करते हुए उनके महत्त्व का निर्देशन किया है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में मामह ने काव्य का उद्देश्य कवि के मुख काव्य की परिभाषा काव्य का वर्गीकरण आदि दूसरे परिच्छेद में प्रसाह माधुर्य तथा भोज मुख का विवेचन तीसरे परिच्छेद में अलंकार वर्णन चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में काव्य शेष तथा छठवें परिच्छेद में कवि मित्रा की वर्णा की है।<sup>२</sup>

- 1 *Indeed the multiplication of limitless varieties of poetic figures based on minute differences as well as the making of a large number of sub-varieties of each figure went on through the whole course of the history of discipline and down to the latest time we find traces of new and ever new poetic figures (S K Dey History of Sanskrit Poetics part II p 87)*

सातवीं शताब्दी के ही अन्तिम चतुर्दश में बंदी हुए। बंदी ने भी अलंकार को ही काव्य का प्रमुख गुण स्वीकार किया है। अपने 'काव्यादर्श' नामक ग्रन्थ में बंदी ने लिखा है 'काव्यसोमाकरान् बर्मान् अलंकारान् प्रथमते'। प्रो० काने ने इस उक्त्य की ओर संकेत किया है कि बंदी कृत 'काव्यादर्श' में अलंकार और रीति दोनों का विवेचन होते हुए भी रीति का प्राधान्य है।<sup>1</sup> बंदी ने रस को अलंकार लिखावट के अन्तर्गत माना है। यही नहीं बंदी ने 'नाट्यशास्त्र' में स्वीकृत भाठों रसों की सोबाहरण व्याख्या प्रस्तुत की है।

बंदी के पश्चात् उद्भट ने अपने 'अलंकारसार संग्रह' का प्रथमन किया। उद्भट का यह ग्रन्थ समझी कम्मर कीर्ति का कारण इसलिए तो बना ही कि इसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य शास्त्रियों की बहारिक परम्परा का निर्वाह करते हुए अलंकार शास्त्र के रूप निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योग दिया वरन् इसलिए भी बना कि इसमें किसी सीमा तक इस शास्त्रीय विषय को एक नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न हुआ है।

### अलंकार विभाजन

साहित्य या काव्य के पद्य पद्य भाषि रूपों में अलंकारों का प्रयोग होता है। अलंकार भाषा या वाणी को विभूषित करते हैं। सामान्य रूप से अलंकारों के दो भेद किये जाते हैं शब्दालंकार तथा अर्थालंकार। क्योंकि काव्य रूपी शरीर पर शब्द और अर्थ सभी अलंकार ही शोभित होते हैं। शब्दालंकार उस तबस पर होता है जहाँ पर काव्य शब्द प्रधान रहता है। इसी प्रकार बिन्दु स्वान पर अर्थ पर विशेष गौरव दिया जाता है और जहाँ पर काव्य अर्थ प्रधान रहता है वहाँ अर्थालंकार होता है।

1 *Dandis Kavyadarsha is to some extent an exponent of the Riti school of Poetics and partly of Alankar School. (Introduction to Sahitya Darpan by P V Kane p XXI)*

### शब्दालंकार

किसी काव्य में शब्दालंकार उस स्थल पर माना जाता है, जहाँ विविध शब्दों को प्रयुक्त करके आत्मकारिकता लायी जाती है। यह आत्मकारिकता उन्हीं विविध शब्दों के प्रयोग पर आधारित होती है और उन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को उनके स्थान पर रख देने से उसका लोप हो जाता है। इस प्रकार से यह आत्मकारिकता मूक-सद्व्ययन और सध्वयोजना पर ही निर्भर करती है। शब्दालंकारों के निम्नलिखित प्रमुख भेद होते हैं—अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, इत्येय, चित्र पुनरक्ति प्रकाश, पुनरक्ति वरामास, प्रहेलिका भीन्सा तथा भाषा समक।

#### अनुप्रास—

जहाँ पर व्यंजनों की समता हो वहाँ पर अनुप्रास बलकार होता है यद्ये ही उनके स्वरों में असमानता हो। इसके छेकानुप्रास, बुरयानुप्रास, कृत्यानुप्रास काटानुप्रास तथा बलवानुप्रास नामक छे भेद होते हैं।<sup>१</sup>

#### छेकानुप्रास—

जहाँ एक शब्दवा अनेक शब्दों की आकृति एक या अनेक बार हो, वहाँ पर छेकानुप्रास होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

(क) जन रंजन भंजन अनुज मनुज रूप धुर धूप।

विश्व बदर हूव भूत उदर औवत सोवत सुप ॥

१ व्यंजन सम बह स्वर अलग, अनुप्रासलंकार।  
छेक, श्रुति श्रुति काट बह अंत्य शब्द विस्तार ॥

२ बर्न अनेक कि एक की आकृति एके बार।  
सो छेकानुप्रास है आवि अंत निरवार ॥

- (ख) कुम्ह इन्नु सन बेह जमा रमन कइया मयम ।  
साहि बीन पर नेह करहु कया मशन मयम ॥

वृत्यानुप्रास—

जहाँ पर आदि या अन्त में एक या ज़सेक वर्णों की आवृत्ति ज़सेक बार वृत्तियों के अनुकूल हो, वहाँ वृत्यानुप्रास होता है।<sup>१</sup> वृत्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) उपनागरिका (२) परया और (३) कोमला। इन्हें बँदभीं भीड़ी तथा पाँचाठिका भी कहा जाता है।। इनमें से प्रथम अर्थात् उपनागरिका वृत्ति में माधुर्यगुण सूचक वर्णों तथा सामुदायिक वर्णों की आवृत्ति होती है। द्वितीय अर्थात् परया वृत्ति में ट वर्ण त्रित वर्ण ख और प आदि वर्णों, सन्ने समास तथा संयुक्त वर्णों की आवृत्ति होती है तथा तृतीय अर्थात् कोमला वृत्ति में म, र, स क ब, स ह तथा छोटे समास और समास रहित वर्णों की आवृत्ति होती है। इनमें से उपनागरिका वृत्ति में गृ पार कइम तथा हास्य रस और भीमत्स परया वृत्ति में रीत्र बीर तथा भवानक रस और कोमला वृत्ति में बद्भुत रसों की कविता की रचना के अधिक उपयुक्त होती है। उपर्युक्त तीनों वृत्तियों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

उपनागरिका वृत्तिः—

- (क) रकुन्द मालव कंब दीपाल कंब दसरचरंदरं ।  
(ख) रस सिंगार मञ्जन किये कंबुनु मंजनु देन ।  
मंजनु रजगुनु दिला कज्जल मंजनु मैन ॥  
(ग) रंजन मम मंजन गरव मंजन मंजन सैन ।  
मानस मंजन करन जल, होत निरंजन देन ॥

परया वृत्ति—

जमङ्गि कुडाल में खबाराखान भाए मनि  
भूबन ल्यों पाये सिबरान्न पुरे मन के ।

१ वर्ण ज़सेक कि एक की जहं सरि कंबो बार ।  
को है वृत्यानुप्रास को परे वृत्ति मनुसार ॥

सुनि मरवाने बाजे हय हिहनाने घोर,  
 मूझे तरवाने मुस और घोर मन के ।  
 एक कहै मार मार सामूहिक समर एके  
 म्सेञ्ज गिरे मार बीच बेसाम्हार तन के ।  
 कु बन के ऊपर कवाले उठे ठोर ठोर,  
 खीरन के ऊपर खड़ाके सङ्गान के ॥

दोसरा बतिया—

भारत को सु दरिद्र के कहूँ बरन इंदु उबोत हूँ ।  
 नम शरित से प्रफुलित कुमुद मुकुलित कमलकुल होत हूँ ।  
 कहूँ बाबरी शर कूप राजत बडमनि सोपान हूँ ।  
 बहूँ हरा सारस बचबाक बिहार करत सानान हूँ ॥

पुस्तानुप्रासः—

यहाँ ठामु अठ बाबि एक ही स्थान से उल्लिखित होनेवाले ध्वजनों की समता हो,  
 यहाँ पुरयानुप्रास व्यंजक होता है ।<sup>१</sup> जैसे—

- (क) निसिबासर सात रसातल सों सरसात घने घन बंधन नावरी ।  
 (ख) किस लोचन से किस काल में लख बतल मुरली कल नादिनी ।  
 अवनि में तुम को इतनी मिली मनुष्यता मृदुता नमहादिता ।  
 (घ) शांति न लता के लीके में झुक कर झुके सरोखे से ।

काठानुप्रासः—

यहाँ नर धर्म तथा धर्म के एक ही रहने पर भी अन्वय करता ही भेद हो पाय  
 यहाँ पर काठानुप्रास होता है ।<sup>२</sup> उदाहरण के लिए—

१ यहाँ ठामु कठारि की ध्वजना लवता होय ।  
 लीके मुरयानुप्रास है कहत मुपय कवि लोय ।

२ राम धर्म एक रहै अन्वय करताहि भेद ।

सो काठानुप्रास है—



- (क) तीरथ प्रसन्न सामन कहा जो निरसिन हरिपाल ।  
 तारत बस सामन कहा, बिन निरस बिन हरिपाल ॥
- (ख) परामीन को है नहीं स्वामिमान मुक्त स्वप्न ।  
 परामीन को है नहीं स्वामिमान मुक्त स्वप्न ॥
- (ग) औरन के बाँधे कहा जो बाँध्यों तिवरराज ।  
 औरन के बाँधे कहा बाँधे बाँध्यों तिवरराज ॥

अन्यानुप्रास—

अन्यानुप्रास छन्द के अन्तिम चरण में अन्याशरों की समता को कहते हैं।<sup>१</sup> वे छंद प्रकार के होते हैं (१) चर्वात्म्य (२) समात्म्य विपमात्म्य, (३) समात्म्य, (४) विपमात्म्य (५) सम विपमात्म्य और (६) मिश्रात्म्य । इनमें से प्रत्येक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

चर्वात्म्य—

यह उस रचना में होता है, जिसमें चारों तुकान्त एक से हों । उदाहरण के लिए—

साहित्यं मुक्त की सब भार मुक्ता मुक्तयैव सौं ठानि अचीनी ।  
 मुक्त तीरथ तैज तरनि सौं साहन को कियो पाणिपहीनी ।  
 बारिब वी बनिनी कर बारिब सौं बन ज्यों मुनि त्यों मुक्त कीनी ।  
 वी तिवरराज कियो अस बंद सौं स्नेहन को मुक्तकंजु मसीनी ।

समात्म्य विपमात्म्य—

इसमें पहले और तीसरे तथा दूसरे और चौथे चरण का तुकान्त समान होता है । उदाहरण के लिए—

- (क) जो सुमिरत सिधि होइ पन लायक करिबर बदन ।  
 करत अभुषह सोइ बुधि रासि मुन मुन लदन ॥

१ अर्थगत स्वरपुत एक से जो तुकान्त में होति ।  
 सो अन्यानुप्रास है अथ तुकान्त है भीति ॥

- (ख) मूढ होइ बाबाल पशु बड़इ विरबर पहन ।  
बासु कुना सी बयाल ब्रजउ सछल कलि मल बहन ॥

सबलपः—

इसमें दूसरे और चौथे चरण का तुलान्त समान होता है । जैसे—

- (क) नाथ सुहृद मुठि सरलचित, सील सनेह निधान ।  
सब पर प्रीति प्रतीति जिये, बागिय भापु समाज ॥
- (ख) दिव सरना सों बंग बुदि बंदाबत रजबत ।  
राव अमर गो अमरपुर समर रही रज तंत ॥

विषमात्म्यः—

इसमें प्रथम तथा तृतीय चरण का तुलान्त समान होता है । जैसे—

- (क) बंदउ अकस्य पुआल सत्य प्रेस बेहि राम पव ।  
विपुलत बीनरयाल प्रिय तनु तुन इब बरिहोउ ॥
- (ख) प्रनबउं पवन कुमार, अल बन पाबक प्यानमन ।  
बासु हृदय भाषाए, बसहि राम सर बाप भर ॥

सम विषमात्म्यः—

इसमें प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरण का तुलान्त समान होता है । उदाहरण इस प्रकार है—

- (क) अछाम मुनि बसहि प्रयाग । तिरुहि राम पव अति अगुणग ।  
सापक सन रम बया निधाना । परमारथ पव परम सुजाना ॥
- (ख) कहि अक न सारव सिय नारव मुनह पव पंजग पहे ।  
अत बीनबंशु कृपाल अने भगवत गुन निग मुक कहे ।  
बिल नाद बाटीहि अरनहि बहापुर नारव बए ।  
ते बन्ध तुमसीबाब आय विहाइ के इदि रंय रंए ।

मिथ्यात्वः—

इसमें मिथ्य तुकान्त चरण होते हैं। जैसे—

चतुर है चतुराग्न सा बही सुमय माध्य विभ्रुपित मात है ।  
 तुम बिसे मन में पर काव्य की दरिद्रता चिरपरतापकारी न हो ।

यमक—

जहाँ पर एक ही शब्द का बार बार प्रयोग हो, परन्तु जर्न वैमिष्य हो वहाँ पर यमक बसंकार होता है।<sup>१</sup> उदाहरण के लिए—

(क) तो पर बारीं उरबसी तुनु राबिसे तुनाल ।  
 तु मोहन के उर बसी, ऊँ उर बसी समान ॥

(घ) ऊँके चोर मंवर के अंवर एहनचारी,  
 ऊँके चोर मंवर के अंवर एह्राती हैं ।  
 अंर सुल सोम करे अंर सुल ओर करे  
 तीन बेर जाती ते वै तीन बेर जाती हैं ।  
 सुखन सिबिल अंग सुखन सिबिल अंग  
 बिबन डोलती ते वै बिबन डोलती हैं ।  
 सुखन मनत सिबराज भीर तेरे बात  
 नयन अड़ाती ते वै नयन अड़ाती हैं ।

कुछ विद्वानों ने 'मुक्त पर शब्द यमक बसंकार' या 'सिंहासकोरुम यमक' का भी उल्लेख किया है। इसके प्रत्येक चरण के अन्त में अन्तिम शब्द की आवृत्ति होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

नाल है नाल सिबुर मरो मुख सिबुर चार भी बहि बिलाक है ।  
 चाल है चामुन को कवि बेब सुखोमित चीन कला चरे नाक है ।

१ वही शब्द छिरि छिरि परै, जर्न औरई और ।  
 ओ यमकालंकार है, भेव जनेकन ठौर ॥

मास है बीपत घूरन कोटि सो काइत कोटि कसंकरु जान है ।  
जान है बुद्धि, विवेकन को घह, पारबती को लजायती सास है ॥

बन्धोक्ति —

वहाँ स्वेयार्थी शब्द से अबका काकु के कारण प्रत्यक्षार्थ के स्थान पर भिन्नार्थ की कल्पना की जाय, वहाँ बन्धोक्ति बलकार होता है ।<sup>१</sup> बन्धोक्ति के दो भेद होते हैं (१) बन्धोक्ति दिग्दष्ट और (२) काकु बन्धोक्ति ।

द्विपद बन्धोक्ति.—

इसके दो भेद होते हैं (१) भंगपद और (२) बाधपद । इनमें से भंगपद बन्धोक्ति वहाँ होती है, वहाँ किसी पद को तोड़कर दूसरा अर्थ लगाया जाय ।

उदाहरणार्थ—

गौरवसालिनी प्यारी हमारी छदा तुमही एक इष्ट नहीं ।  
हो न पऊ नहि हो अबसा जलिनो हूँ नहीं अब काहै नहीं ॥

भंगपद बन्धोक्ति वहाँ होती है वहाँ पद को तोड़ा न जाय परन्तु अभीष्ट अर्थ से मिलन अर्थ की कल्पना की जाय । इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) को तुम ? हरि प्यारी, वहाँ जानर को पूर काम ?  
इयाम सलीनी ? इयाम कयि क्यों न डरै तब काम ॥

(ख) एक कबुतर बैच हाथ में पुछा कहुँ अपर है ।  
वसने कहुँ अपर कैसा पड़ है मया समर है ॥

काकु बन्धोक्ति—

काकु बन्धोक्ति वहाँ होती है वहाँ काकु अबका कंठ ध्वनि की विधेयता के कारण दूसरा अर्थ निकलता हो ।<sup>२</sup> इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

- १ होय स्नेय सों काहु सों कसिपत औरे अर्थ ।  
साहि कहत बन्धोक्ति हूँ तिनरे मुकवि समर्थ ॥
- २ वहाँ कंठ ध्वनि मिस से आसय जुनो लसाय ।  
सो बन्धोक्ति काक है कविपर कई बुलाय ॥

१२६ ] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रकृतियाँ

- (क) मैं सुकुमारि नाम बन जागू । तुमहि उचित तप मोकह लीगू ।  
(ख) भरत भूमि सिय राम लखन बन मुनि जानम्य सह्यो ।  
पुर परिजन सबलोक मातु सब सुख तन्वीय सह्यो ॥

स्तेय—

बहाँ पर ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनके अनेक अर्थ हो सकते हों वहाँ पर स्तेय अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसके दो भेद होते हैं (१) अर्थात् स्तेय और (२) धर्मन स्तेय ।

असाध स्तेय—

यह उस स्थल पर होता है, जहाँ शब्दों के दो अर्थ करती पर उन्हें ठोड़ा न काम ।

उदाहरणार्थ—

- (क) रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सुख ।  
पानी गये न ऊबरे मुक्ता मानस भूत ॥  
(ख) बिनाता बन पयी जाँची मयाबह ।  
हुमा बँबल न फिर भी श्याम बन बह ॥  
पिता को बेल तापित सुभितल सा ।  
बरसने अग यमा बहु बारम अस सा ॥

सार्थ स्तेय—

यह वहाँ होता है जहाँ शब्दों के अनेक अर्थ करती के लिए उन्हें ठोड़ा काम ।

उदाहरणार्थ —

कृष्णपाल गुन वसित अकल अनाप । कहीं कृपानिधि राडर कस मुननाप ।

विभ्र—

विभ्र अर्थकार वहाँ होता है जहाँ शब्द रचना इस प्रकार की जाय कि उनसे

१ शीघ्र तील अथ मति बहु आहत धर्मि अर्थ ।  
स्तेय नाम तापी कदत जिनकी बुद्धि समर्थ ॥

कामधेनु कादि चित्त ब्रह्म काम ।<sup>१</sup> इसके क्रमशः ब्रह्म धनुषब्रह्म, तथा कामधेनु ब्रह्म कादि भेद होते हैं । इनकी विशेषता यह होती है कि पूरे छन्द को किसी भी स्वस से पढ़ना आरम्भ किया जा सकता है, और खबेया बनता जाता है । इनमें से कामधेनु ब्रह्म का उदाहरण इस प्रकार है—

ब्रह्म को विस्तार रिनको पुत्र भूयस वाणिबद्धी विरजा विव है ।  
 ब्रह्म को करता रिनको सब भूयस वाणि बद्धी विरजा छिप है ॥  
 पुत्रको भरता रिनको सब भूयस वाणि बद्धी सरजा सिव है ।  
 ब्रह्म को करता इनको सब भूयस वाणि बद्धी भरजा निव है ॥

#### पुनर्वक्तिप्रकाश—

जहाँ पर अर्थ को इच्छित बनाने के लिए एक शब्द को कई बार कहा जाय, वहाँ पुनर्वक्तिप्रकाश अस्कार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मधुनाम में शस ब्रु भीस बिसे मनमोहन भाइहैं भाइहैं भाइहैं ।  
 उजरे इन भोजन को सजनी सुक पंजन छाइहैं छाइहैं छाइहैं ।  
 सब तेरो सो देसी न सक एकक बिषा सब चाइहैं भाइहैं भाइहैं ।  
 बनवयाम प्रया लखिहैं लखिया अखिया सुक पाइहैं पाइहैं पाइहैं ॥

#### पुनर्वक्तिव्यवभासः—

जहाँ पर पुनर्वक्ति आभासित हो परन्तु यथार्थ में पुनर्वक्ति न हो, वहाँ पुनर्वक्ति-व्यवभास अस्कार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ तिस्र लुई अचरभ बड़े रचना होई विविध ।  
 कामधेनु आदि धर्म भूयस भरतत विभ ।
- २ एक शब्द बहु बार अहैं परे रचिता अर्थ ।  
 पुनर्वक्ति परकाश सो भरने बुद्धि लभर्ष ॥
- ३ भासत है पुनर्वक्ति सा महि विद्यान पुनर्वक्ति ।  
 पुनर्वक्तिव्यवभास सो भूयस भरतत पुक्ति ॥

अरिज के बल सैन सगर में समुद्राने  
 दृष्ट दृष्ट शकल के डारें हैं मसान में ।  
 बरबार बरी महातब परिबाह पुरी,  
 बड़त है हाथिन के मर बल बाग में ।  
 भूपन भगत महाबाहु मेरैतिसा मुवाल  
 सुर रवि तम तेक तिच्छन हूपान में ।  
 माल मकरब कुल बन्ध कसा निधि तेरो,  
 सरजा सिबामी बरा बचत बहान में ।

### प्रहेलिका—

वहाँ किसी प्रश्न को घुमा फिरा कर पूछा जाता है, वहाँ पर प्रहेलिका बसंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं। (१) शब्दगत प्रहेलिका और (२) अर्थगत प्रहेलिका।<sup>१</sup> इन दोनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

### शब्दगत प्रहेलिका—

- (क) बेबी एक बनोबी मारी। पुन उरामें एक सबसे मारी।  
पड़ी नहीं यह बचरण भाव। मरना बीना छुटत बताई ॥
- (ख) भादि कटे ते सबको पाली। मय्य कटे ते सबको साली।  
भंत कटे तो सबको मीठा। सो खुतरों में बाँछों बीठा ॥

### अर्थगत प्रहेलिका—

- (क) लक्ष्मी पति के कर बसै पाँच बरन बनि केव।  
पहिला बसर छोड़िछे आप हमे किन केव।
- (ख) ऐसी भूरि बताव सकि बेहि जानत सब कोय।  
पीठि लगावत जामु रस छात्री सीरी होय ॥

१ प्रस्तावित में उत्तर कई कष्टु शब्द के और।  
 सो प्रहेलिका शीघ्र विधि, सम्ब अर्थगत हैर ॥

बीप्सा:—

वहाँ पर बाहर बयबा आश्चर्य सूचक कोई शब्द बनेक बार कहा बाय वहाँ पर बीप्सा बर्लकार होता है ।<sup>१</sup> इसके उवाहरण इस प्रकार हैं —

(क) छिब छिब शिव, कहते हो यह क्या पुमा मत कहना ।  
राम राम यह बाब भूलकर मित्र कभी मत गहना ॥

(ख) हाय । माय रहिये रहिये मत कहिये, यह मत कहिये ।  
हम संकट को देख डरें या उसका उपहास करें ।

भाषा समक:—

सम्बन्धकारों के अन्तर्गत बाबा भगवानदीन बाबि ने 'भाषा समक' बर्लकार का भी उल्लेख किया है । यह बर्लकार वहाँ होता है वहाँ पर बिबिब प्रकार की भाषा में एक ही बिबि के शब्द मनोहर बाक्यों में छिडे बायें ।<sup>२</sup> इसका उवाहरण इस प्रकार है —

बा\_दिन ते बभुना छत्र बाहि बजाबत बासुरी नेक बिहारो ।  
होबम रकत न भाब बबस्त, भरोसे रहे दिन रंग तुम्हारो ।  
'हाफिज' किन्न कुबाम कुमामम कोई उपाय बर्ल न हमारो ।  
छकि कोउ उपाय रको फिरि बारक बैबिय नंबकुमारो ।

### अर्थसंकेत

महर्षि ब्यास ने 'अग्निपुराण' में लिखा है कि जो बर्ल को बर्लकृत करे, वह

१. बाहर बचरक बाबि हित एक शब्द बहु बार ।  
ताहि बीप्सा कहत हैं ते सुकुदि नंडार ॥
२. सम्बन्ध की बिबि एक बहू भाषा बिबय प्रकार ।  
बाक्य मनोहर शोय तहू भाषा समक बिचार ॥



अर्थात्कार कहा जाता है। इसके अभाव में राज्य सौन्दर्य में मनोहरता नहीं होती।<sup>१</sup> अर्थात्कार से अर्थालंकार की भाँति किसी राज्य अथवा किन्हीं व्यक्तियों के कारण चामत्कारिता का आधिपत्य नहीं होता। इसमें चामत्कारिता का समावेश अर्थ के कारण होता है। इसीलिए अर्थात्कारों को अर्थ प्रकाशन की विभिन्न शैलियाँ माना जाता है। अर्थात्कारों के विषय में भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शास्त्रीय दृष्टि से इनकी कोई निर्धारित सीमा रेखा नहीं है।

संस्कृत तथा हिंदी के विभिन्न भाषाओं में अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न अर्थात्कारों की परिभाषाएँ दी हैं तथा उनके सञ्चालन उपस्थित किये हैं। यही कारण है कि अर्थात्कारों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। अर्थात्कारों का वर्गीकरण उसके आधारभूत चामत्कारिक तत्वों के अनुसार किया जाता है। संक्षेप में, ये आधार साम्य विरोध क्रम न्याय कारण, कार्य सम्बन्ध नियेष तथा सूचार्थ प्रतीति भाँति हैं। इन्हीं के आधार पर अर्थात्कारों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है—

#### साम्यमूलक अलंकारः—

इन अलंकारों का सम्बन्ध रूप साम्य अथवा गुण साम्य से होता है। इस वर्ग में उपमा सत्प्रेक्षा रूपक, भ्रम तथा सन्देह आदि अलंकार आते हैं।

#### विरोधमूलक अलंकारः—

इन अलंकारों में विरोध प्रकाशन रहता है। इस वर्ग में अर्धवृत्ति, विषम, विरोधाभास आदि अलंकार आते हैं।

#### क्रममूलक अलंकारः—

इन अलंकारों का सम्बन्ध क्रम अथवा अर्थ क्रम से रहता है। इस वर्ग में कारण माझा, एकावली तथा सार भाँति अलंकार आते हैं।

१ अलंकारममर्थात्कारमलंकार इत्यन्ते ।

तं विना शब्द सौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥

व्यापक अर्थकारण—

इस वर्ग में ब्रह्मसूत्र, काम्यसूत्र, तद्गुण तथा अतिशयोक्ति आदि अर्थकारण आते हैं।

निर्देयमूलक अर्थकारण—

इस वर्ग में अपन्युक्ति, विनोक्ति तथा व्यतिरेक आदि अर्थकारण आते हैं।

मुद्गार्थ श्रुतिमूलक अर्थकारण—

इस वर्ग में पर्यायोक्ति, समासोक्ति, मुद्गा भ्याजनिम्बा भ्याजस्तुति तथा सूत्रम आदि अर्थकारण आते हैं।

उपमा—

यहाँ पर किसी वस्तु के रूप अथवा गुण से सम्बन्ध रखन वाली किसी विशेषता के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से किसी ऐसी वस्तु से उसकी समता बतायी जाय जिसमें वही विशेषता अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष हो यहाँ पर उपमा अर्थकारण होता है। दूसरे शब्दों में यहाँ दो वस्तुओं की शोभा का एक समान वर्णन किया जाय यहाँ उपमा अर्थकारण होता है।<sup>१</sup>

उपमा आदि कथियों ने उपमा को सब अर्थकारणों में मुख्य माना है।<sup>२</sup> उपमा-के आद्य अर्थ होते हैं उपमेय उपमान, वाचक तथा वर्ण। इनमें से जिसका वर्णन किया जाता है उसे उपमेय और जिससे समता दिखायी जाती है उसे उपमान कहते हैं। उपमेय और उपमान दोनों की समता सूचित करने याका ध्येय वाचक तथा उपमेय और उपमान का जो रूप गुण अथवा कर्म साम्य प्रदर्शित किया जाता है उसे वर्ण कहते हैं।

१ यहाँ बुद्धि की वैशिष्ट्य शोभा अर्थात् समान।

उपमा सूत्रम ताहि को सूत्रम कहत सुजात।

२ सूत्रम तत्र सूत्रमनि में उपमहि उत्तम वाहि।

यस्य उपमहि भावि है अरन्तत धक्कत निवाहि ॥

**पूर्वोपमा—**

वहाँ पर उपमा बाचक पर, बर्न उपमेय तथा उपमान चारों विद्यमान हैं वहाँ पर पूर्वोपमा अलंकार होता है।<sup>१</sup> इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) कृषि उठे कमल से लमल हितु के नैन  
 कहूँ 'रघुनाथ' मरे खैन रस सिपरे ।  
 बौरि भाए मौर से करल गुनी गुन पान  
 तिष्ठ से मुकान मुक सापर सो भियरे ।  
 सुरमी सी धुलन सुकवि की धुमति छागी,  
 चिरिया सी जागी चिन्ता जनक के भियरे ।  
 बनुव वै ठाढ़े राम रवि से लसत जाब  
 बीर के से लखत तरिब परे भियरे ॥

(ख) राम लखन सीता लक्ष्मि सोहत परल निकेत ।  
 निमि बासब बस अमरपुर सखी अद्यस्त लमेत ॥

**सुप्तोपमा—**

वहाँ पर उपमाबाचक पर, बर्न उपमेय तथा उपमान में से किसी एक का भी अभाव हो, वहाँ पर सुप्तोपमा अलंकार होता है।<sup>२</sup> इसके निम्नलिखित भेद होते हैं (१) उपमेयसुप्ता (२) उपमानसुप्ता (३) बाचक सुप्ता (४) बर्नसुप्ता, (५) बाचक बर्न सुप्ता (६) बर्नोपमेयसुप्ता (७) बर्नोपमानसुप्ता, (८) बाचकोपमेयसुप्ता (९) बाचकोपमानसुप्ता तथा (१०) बाचकबर्नोपमानसुप्ता। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

**उपमेयसुप्ता—**

(क) साँवरे पीरे घडा घडा से भिहुरे निपलित की बाप कली में ।

१ बाचक साधारण परम उपमेयक उपमान ।  
 ये चारों बंध प्रगट तद्ग पुरज उपमा जाब ॥

२ बाचक साधारण परम उपमेयक उपमान ।  
 इनमें एक दुई तीन त्रिगु सुप्ता विभिन्न विधान ।

(क) पत्नी की बिजली की बिजरास लपेटे ये बच जैसे बाल ।  
कौन छेड़ें ये काले साँप, अवनियति बडेँ जवानक काँप ।

अपमाननुप्ता:—

मुबरन बरन कमक कौमलता, सुधि सुपंख हक होय ।  
तब तुलनीय होय तब मुक सी बय मस बस्तु न कोय ॥

बाबकनुप्ता—

नौक सरीबहु स्याम, तदन असन आरिज नयन ।  
करी सी मय बर बाम सदा नीर छापर सयन ॥

बर्मनुप्ता—

पाबक तुस्य अमीतन को मयी भीतन को मयो बाम मुवा की ।  
बानम् मो गहिरो सपुरे कुमुबावलि तारन को बहुपा की ।  
भूतक माहि बली सिबराज मो मुवन मावत छाडू चुबा की ।  
बंदन तेब त्यो बंदन कीरति सीये सिगार बभू बनुपा की ।

बाबकयर्मनुप्ता—

जमु जमु सलि छारस बयन इंदु बदन घनस्याम ।  
बिबुहास बाकिमबसन बिषापर अभिराम ।

बर्मोपमाननुप्ता—

यद्यपि बच में बहुत है सुख साबक सामान ।  
तबपि कठू कोई नहीं काष्यामन्त्र समान ।

बर्मोपमैयनुप्ता—

त्योर तिरौछे किए मृति संगहि हैरत संभू छरावन मार से ।  
त्यो "लछिराम" बुद्ध कर बान कमान सी मोहै मुबहुवावतार से ।  
सानुहूँ भी भिपिलापति के बदि ठाढ़े सही रघबीर तिगार से ।  
नीलम बंपक भाक से को ? रच्यबर में मुमपाव कुमार से ।

१ ६३४ ] समीक्षा के मान मीर हिबी समीक्षा को विद्विष्ट प्रवृत्तियाँ

वाचकोपमेयमुक्ता—

इत ते जत ते इतं छिन न कहूँ ठहराति ।  
बक न परत बकई मई किरि भावति किरि जाति ॥

वाचकोपमानमुक्ता—

चितवनि बाब भात मर हरणी । भावत हृदय जात नहि बरनी ॥

वाचक धर्म उपमानमुक्ता—

अहै मरूप राम प्रभुताई । बुनि बिबेक बल तरकि न भाई ॥

माकोपमा—

वहाँ पर एक उपमेय के अनेक उपमानों का वर्णन होता है, वहाँ पर माकोपमा अस्कार कहा जाता है । इसके तीन भेद होते हैं (१) विद्य वर्मा, (२) एक वर्मा तथा (३) सुप्त वर्मा ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मरकत से बुतिबंत है रेयान से मुहु बाम ।  
नियत महीन सुतार से कब काकर से स्वाम ॥

एक वर्मा—

सारब सो सैत सो सुबा सो सक बिपुर लो ।  
लुर सरिता सो पूर सति सो बखान है ।  
हंसन सो हीरन सो हिम लो हृषापुब सो,  
हरभिरि हस्यहू सो अपत महान है ।  
मगत 'मुरार' पतसार सरंधमहू लो  
बारब सो पय सो विनाकी सो प्रमान है ।  
बाब पुढ जीत जत तखत महीप तेरो  
बीप बीप बीर्य बीपनातिका समान है ॥

१ वहाँ एक उपमेय को बरने बहु उपमान  
निम्न अतिशयु धर्म से माकोपमा बखान ।

दुष्ट बर्तनः—

दुष्ट ज्विमि शंभ पर, बाहुव सुभंभ पर,  
रावन सुभन पर रघुकुल राज हूँ ।  
पौन बारिबाह पर शम्भु रतिताह पर,  
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हूँ ।  
बाबा कुम बंड पर भीता मुन मु क पर,  
'भूपब' बितु क पर जैसे भुगराज हूँ ।  
तेज तिमिर बंश पर कागह ज्विमि कंस पर,  
त्यौं म्नेकठ बंश पर शेर सिबराम हूँ ॥

रत्नोपमाः—

वहाँ पर कई उपमा अलंकार कमबख्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किये जाय कि क्रमानुसार पहला कहा हुआ उपमेय उपमान होता जाय वहाँ रत्नोपमा अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका अन्वय इस प्रकार है—

यति सो गति नति सी बिनति बिबती सी रति काव ।  
रति सी गति यति सी भगति तो मैं पवन कुमार ॥

अनन्वयोपमा—

वहाँ पर उपमान न हो और एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों का कार्य करे वहाँ अनन्वयोपमा अलंकार होता है । जैसे—

साहि तनै सरजा तव द्वार प्रतिबलन बान की कुकुनि बाली ।  
सूपन मिचकुल मीरन की भृति मोजहूँ से बड़ि मौजनि सार्ज ॥  
राज्यन को पम राजन । को गनै ? साहिन में न इती छवि छात्री ।  
आजु परीब नेबाज मही वर तो तौं तुही सिबराम बिराजे ॥

कर्मोपमाः—

वहाँ पर उपमेय तथा उपमान की समता प्रकट करने के अर्थसे से बम, समान

१ कवित प्रथम उपमेय जहाँ होता जात उपमाव ।

तुल्य भाँति पर न लिखाकर ऐसे पर लिखे जाते हैं, जो उनकी मित्रता अथवा विरोध सूचित करते हैं वहाँ पर क्लिष्टोपमा अर्थकार होता है।<sup>१</sup> इसे लक्ष्योपमा अथवा संकीर्णोपमा भी कहते हैं। इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

साहित्यै सरवा सिवा की समा आ मधि है ।  
 मेखारी सर की समा को निररति है ।  
 भूपव मगत जाके एक एक सिद्धर ते ।  
 कैते भी नवी नव की रेण उत्तरति है ।  
 जोन्ह को हुंसत जोति हीरा मनि मभिरन  
 कम्बरन में छवि कुब्ज की उछरति है ।  
 ऐसो ऊँचो बुरग महाबळी को जानै ।  
 नखतावली सों बहुष बीपावळी करति है ॥

समुच्चयोपमा—

जहाँ अनेक चर्चों के कारण उपमेय और उपमान की समता वर्जित की जाए वहाँ समुच्चयोपमा अर्थकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

बहुबर्षा सहज प्रिया तमगुन हरा प्रमल ।  
 अपमारम बरसावनी सुरज किरन समल ।

उपमेयोपमा—

जहाँ उपमेय का केवल एक ही उपमान हो, वहाँ उपमेयोपमा अर्थकार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

सब मन रंजव हैं जजन से नीन भाळी  
 नीनन से जंजन हु सापत जवन हैं ।

१. जहाँ समता की तुल्य की स्वीकारिक पर होता ।  
 ताहि कहत क्लिष्टोपमा सकल कविन के पोत ॥
२. जहाँ परस्पर हीन है उपमेयो उपमान ।  
 भूपव उपमेयोपमा, ताहि अद्यात जान ॥

जीवन से महा मममोहन हूँ मोहिबे को  
 भीन इनही से लीके लोहत ममस हूँ।  
 मृपत के लोचन से लोचन हूँ रोचन ये,  
 मृपत मृप इनहीं से लोई पकापक हूँ।  
 मूरति निहारि देखी नीके ऐरी प्यारी बू के,  
 कमल से भीन और भीन से कमल हूँ।

विलम्बोपमा:—

यहाँ पर विलम्ब शब्द के समान बर्न कथित हो यहाँ विलम्बोपमा अर्थकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अव्याचल से निकल मंजु मुमुकाल कर बसुबा मगिर को सुम्बर मालोक से  
 मर रेमे वाली लबीन पहली पदा के समान ही जिसका सुम्बर नाम है।

प्रतीप—

प्रतीप अलकार में उपमा का विपरीत रूप वर्ध्या जाता है। प्रतीप यहाँ होता है, यहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान सिद्ध किया जाय तथा अमलकारिक रूप में जगमें से किसी की अस्पष्टता बतानी जाय। प्रतीप अलकार के पाँच भेद होते हैं (१) प्रथम प्रतीप, (२) द्वितीय प्रतीप (३) तृतीय प्रतीप (४) चतुर्थ प्रतीप तथा (५) पंचम प्रतीप।

प्रथम प्रतीप—

यहाँ पर प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान बणित किया जाय, यहाँ प्रथम प्रतीप होता है।<sup>१</sup> उदाहरण इस प्रकार है—

सी तम हो सेस सी तो बसत पताक लोक  
 ऐराबत मर सी ली इग्न लोक सुनिरी।

१ यहाँ प्रसिद्ध उपमान को करि बरनत उपमेय।  
 तर्ह प्रतीप रूपमा कहत मृपन कथिता प्रेय।



दूरि हंस मानसर ताहू तें कैंलात बर,  
 सुया सुरवर सिधु छोड़ि बयी बुनियै ।  
 सुरदामी सिरताज महाराज सिबरान  
 राबरे मुजस समकाज काहिं गुनियै ।  
 सुपन जहां की गति तहां लौ मरकि हारयो,  
 ससियै कछू न केती बातें बित बुनियै ।

द्वितीय प्रतीपः—

जहां ज्ञान्य उपमेय के कारण एक उपमेय का अनादर किया जाय, वहां पर द्वितीय प्रतीप अस्कार होता है ।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—

सिख प्रताप तो तरनि सम अरि पानिप हर मूल ।  
 परज करत कित बिबित है बड़बानल ता तुक ॥

तृतीय प्रतीपः—

जहां उपमेय से उपमान का अनादर हो, वहां पर तृतीय प्रतीप अस्कार होता है ।<sup>२</sup> उदाहरणार्थ—

परज करत कत जाबधी हीरक छीर समान ।  
 कैंली इती समाजगत कीरति सिबा मुमान ॥

चतुर्थ प्रतीपः—

जहां पर उपमेय को पाकर उपमान का अनादर हो वहां चतुर्थ प्रतीप अस्कार होता है ।<sup>३</sup> उदाहरणार्थ—

- १ करत अनादर ज्ञान्य को पाप और उपमेय ।  
 ताहू कहत प्रतीप जे सुपन कबिता प्रेय ॥
- २ आदर अठत अद्वय्य को जहां अर्थ के जोर ।  
 तृतीय प्रतीप अज्ञानहीं तहू कबि कुल सिरमीर ।
- ३ पाप धरन उपमान को जहां न आदर और ।  
 कहत चतुर्थ प्रतीप हूँ भूपन कबि सिरमीर ।

अंधन में नाय मर भद्रयो ह्यन्धनाय  
 विपन्नद्रयो सैयनाय कर्तुं उपमा अक्षत कौ ।  
 मीर बहुरात न कपुर ठहरात मेव  
 सरव उवात वात चापे विस वस कौ ।  
 तम्भु नीलपीव मीर पुण्डरीक ही वसनि  
 सरवा शिवा बी बोल मूयन सरत कौ ।  
 भीरवि में पंक कलानिभि में कलंक  
 पातें क्य एक डंक ये कर्तुं न तैरे वस कौ ।

पंचम प्रतीप—

बहु उपमान उपमेय से हीन होने के कारण नष्ट हो जाय वहाँ पर पंचम प्रतीप होता है ।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—

छाहू करे छितिमंडल में सब ऊपर यों 'मतिराम' भये हैं ।  
 पानिप कौ सरसावत है तिमरे अप के निधि ताप गये हैं ।  
 मुनि पुरम्बर माझ के हाथ पयोवन ही के सुकाव छये हैं ।  
 पंथिन के पय रोकिये की घने बारिद बुम्ब बुधा जगये हैं ।

स्मरण—

पहुँचे बेबी या सुमी हुई किसी वस्तु को देखकर या सुनकर उसी के समान गुणों वाली दूसरी वस्तु स्मरण हो जाने से स्मरण अर्थात् होता है ।<sup>२</sup> इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

ज्यों ज्यों इत वैश्वियत भूरख विमुक्त लोग  
 त्यों त्यों ब्रह्मवासी मुञ्जरासी मन जावे हें ।

- १ हीन होय उपमान सों नष्ट होत उपमान ।  
 पंचम कहत प्रतीप तेहि मूयन सुकवि सुवान ।
- २ सम सोना कबि जान की मुपि भावत जाहि भीर ।  
 स्मृति मूयन तासों कहत मूयन कबि तिरमौर ।

६४० ] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

आरे जन छीछर बुआरे अन्धकूप देखि  
कालिन्धी के कूल काज पग ससचार्य हैं ।  
बैसी मज बीतत छी कहते न बनै बैन  
'वाघर' ना बैन परै प्राण अकुसावै हैं ।  
पूहर पसास देखि देखि श्री हूकरे बुरे हाय  
हरे हरे के तमास सुधि भावै हैं ।

प्राप्तिमान—

जहाँ पर समानता के कारण प्रस्तुत जो बेलने या सुनने से अप्रस्तुत का या फिर अन्य बात में अन्य का भ्रम हो वहाँ प्राप्तिमान बलकार होता है ।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—

पायं महाबल बैन को बाहन बैठी भाय ।  
फिर फिर जानि महाबरी पड़ी मीठत भाय ।

संदिग्ध—

जहाँ पर किसी वस्तु से किसी अन्य वस्तु का सम्बन्ध हो, वहाँ सम्बन्ध बलकार होता है ।<sup>२</sup> उदाहरणार्थ—

करकक के कूट पर बीप सिखा छीती है,  
कि इयाम जनमंडल में दामिनी की धारा है ?  
पामिनी के अंचल में कलापर की कोर है,  
कि राहु के कज्जल पै करक केतु तारा है ?  
'शंकर' कसौडी पर अंचल की लीक है  
कि लेख नै तिमिर के द्विये में तीर मार्य है ?  
काली पादियों के बीच सोझिनी की मान है  
कि हाल पर लड़ा कामदेव का बुआरा है ?

- १ मानवान को मान में होत जहाँ भ्रम भाय ।  
तासौं भ्रम सब कहत हैं मूलन सुकवि नदाय ।
- २ बहु विधि बरगत बर्ष को निपत न लप्य अलप्य ।  
अलंकार संदिग्ध तहँ बरगत हैं मति पथ्य ।

रूपक—

यहाँ पर उपमेय और उपमान में किसी प्रकार का भेद वर्णित न किया जाय, यहाँ रूपक अलंकार होता है।<sup>१</sup> इसके दो भेद होते हैं (१) अमेय रूपक और (२) तद्रूप रूपक। इन दोनों के भी अधिक ग्यून तथा सम तीन भेद होते हैं।

अमेय रूपक—

यहाँ पर उपमेय और उपमान में कोई भेद न दिखाया जाय, यहाँ अमेय रूपक होता है। इसके तीन भेद अधिक अमेय रूपक, ग्यून अमेय रूपक तथा सम अमेय रूपक होते हैं।

अधिक अमेय रूपक—

यहाँ पर उपमेय को उपमान से अधिक सुशबला दिखाया जाय, यहाँ अधिक अमेय रूपक होता है। उदाहरणार्थ—

नम विष्णु विमल तास अघ तोरा । रघुबर किकर कुमुद बकीरा ।  
जबित सरा भयहाँहि कबहुँ ना । घरहि अग नम बिल बिल हूना ।

ग्यून अमेय रूपक—

यहाँ उपमेय को उपमान से ग्यून दिखाकर भी अनेकता रहती है, यहाँ ग्यून अमेय रूपक अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

सबके देखन ध्योम पय ययो सिधु क पार ।  
पच्छिराज यिन पुञ्ज की बीर समीर कुमार ।

१ यहाँ बुद्धन को भेद नहीं बरनत सकबि सुजान  
रूपक भूवन ताहि को, भूवन करत बजाल ।

**समभेद रूपक—**

जहाँ पर उपमेय तथा उपमान में पूर्ण समानता होने पर उनकी अभेदता दिखायी जाने जहाँ सम अभेद रूपक प्रसंग होना है। उदाहरणार्थ—

उदित उदय पिरि सैच पर रघुबर बाल पर्यंत ।  
बिकते संत मरोख सब हुरवे सोचन भूय ॥

**तद्रूप रूपक—**

जहाँ पर उपमा को उपमेय रूप में विहित किया जाने जहाँ तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसके भी तीन भेद होते हैं (१) अधिक तद्रूप रूपक, (२) न्यून तद्रूप रूपक तथा (३) सम तद्रूप रूपक।

**अधिक तद्रूप रूपक—**

जहाँ पर उपमेय और उपमान की तद्रूपता ब्यक्त करते समय उपमेय को अधिक दिखाया जाय जहाँ अधिक तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कवति कलानिधि चांदनी, निशि ही में अनिराम ।  
बीपति का मुखचंद की बिपति साठहूँ नाम ॥

**न्यून तद्रूप रूपक —**

जहाँ उपमेय को उपमान से हीन भुग नाका होने पर भी उनमें तद्रूपता दर्शानी जाय जहाँ न्यून तद्रूप रूपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साहित्य सिंदूराल तो अस भूषण जाब  
दिपर कलंक बंध कर आनिष्णु है ।  
एक ही जानक पंचावन पति तोहि,  
पचानन पन बचन बिना बधाणिष्णु है ।

एक चीस ही सहस्र चीस माग्यी बराबर  
 इहो बृष सी सहस्र बृष मानियतु है ।  
 इहो कर सी सहस्र कर मानियतु तोहि  
 इहो बाहु सी सहस्र बाहु मानियतु है ।

सम तद्रूप रूपकः—

वहाँ उपमेय और उपमान में पूर्ण समानता होने पर सममें से एक का दूसरा रूप दिखाया जाय वहाँ सम तद्रूप रूपक बर्णकार होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

रश्मी बिजाता कुटुम लै सिगरी सोसा साज ।  
 तु सुम्परि रति ब्रह्मरी यह ब्रह्मो सुरताज ।

उपयुक्त भेदों के अतिरिक्त रूपक के तीन भेद और किये जाते हैं (१) सावयव अथवा सांग रूपक (२) निरवयव अथवा निर्दल रूपक तथा (३) परम्परित रूपक। अथवा किये गये वर्गीकरण के अनुसार ये तीनों भेद अन्वेष और तद्रूप दोनों में सम्माध्य हैं। परन्तु ये प्रायः अन्वेष रूपक में ही मिलते हैं।

सावयव अथवा सांग रूपकः—

जहाँ उपमान का उपमेय में अवयवों के साथ आरोप होता है वहाँ पर सावयव अथवा सांग रूपक होता है। कुछ विद्वानों ने इसके भी दो भेद (१) समस्त वस्तु विषयक सांग रूपक तथा (२) एक वेश विभक्ति सांग रूपक किये हैं।<sup>१</sup> इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) मानस कमल जगत् जगन्निवा पवीर पंक ।  
 दसन अनेद कुह ककिका सुखम की ॥

१. 'अलंकार भूषण' लाला जगदानंदीय पृ० ७८ ।

अंजन गयन परबर्ति मृदु कंचलि के ।  
 रंजुल मराठ बाल बल्लत जर्मन की ॥  
 कवि 'अपदेव' मम लल्लत समेत छोई ।  
 आड़े आव धुनरि नवीन गीळ रंग की ॥  
 लाळ भारि जाळ बल्लराज के रिआइये की ।  
 सुग्दरी घरव सिभाई बुचि अंग की ॥

(क) सैद्धम सहित समैह वैह जरि, कामधेनु कलि काठी ।

निरवयव अथवा निरंग रूपक —

जहाँ पर सभी अर्थों का सामान्य आरोपण न होकर केवल एक ही अर्थ का आरोप हो, वहाँ निरवयव अथवा निरंग रूपक होता है। कुछ विद्वान इसके भी दो भेद मानते हैं (१) शुद्ध निरवयव रूपक तथा (२) माला रूप निरंग रूपक।<sup>१</sup> इसके उदाहरण इस प्रकार हैं —

(क) हरि मुख पंकज भू धनुष अञ्जन अञ्जन मित्र ।  
 अक्षर बिम्ब कु बल मकर बसे रहत मो बित ॥

(ख) अवति अक्षिय बन राम पहुँ धरत संव भक्त कीन्ह ।  
 लोक सिन्धु बुद्धता सर्वाह तुम सबलंजन कीन्ह ॥

परम्परित रूपक—

जहाँ पर मुख्य रूपक दूसरे रूपक पर आभित हो वहाँ पर परम्परित रूपक अर्थकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

नामर नयर अपार महा मोह तम मित्र ते ।  
 तुम्हा जता कूडार जीम समुद्र अपस्त्य ते ॥

उत्प्रेक्षा:—

उत्प्रेक्षा से आशय है प्रकृष्ट रूप से देखना या बस प्रापाम्य से देखना (उत् + प्र + ईक्ष्ण) जहाँ पर कोई अपमेय अथवा उपमान कबि अपनी कल्पना से निर्मित कर ले, वहाँ उत्प्रेक्षा बलकार होता है।<sup>१</sup> उत्प्रेक्षा के चार भेद होते हैं (१) वस्तुत्प्रेक्षा (२) हेतुत्प्रेक्षा (३) फलोत्प्रेक्षा और (४) गुणोत्प्रेक्षा।

वस्तुत्प्रेक्षा—

जहाँ पर किसी वस्तु के अनुरूप कोई उपमान कल्पना से निर्मित हो वहाँ वस्तुत्प्रेक्षा बलकार होता है। इसके दो भेद (१) उक्त विषयावस्तुत्प्रेक्षा तथा (२) अनुक्त विषयावस्तुत्प्रेक्षा बताये जाते हैं। उक्त विषयावस्तुत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ पहले विषय बताकर बाद में उसके अनुरूप कल्पना हो तथा अनुक्तविषया वस्तुत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ बिना विषय कहे ही उसके अनुरूप कल्पना कर ली जाय। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

(क) साहित्यी सिबसाहि निहा में निरालि लियो बगुंविष सुहानी ।  
राठबरो को संहार भयो भिरि के सरदार विरुपो उदैमानी ॥  
भुवभ यों समसान भो भूतल पैरत लोपनि मानो मसानी  
जके छत्रज छटा उछटी प्रगटी परमा परमात की मानी ॥

(ख) 'पूरन' कमुना नीर पर यों आतप छबि होति ।  
मानहु कृष्ण शरीर पर पीतपदी की लोति ॥

हेतुत्प्रेक्षा—

जहाँ पर बहुतो को ही हेतु रूप में कल्पित किया जाता है वहाँ हेतुत्प्रेक्षा बलकार होता है। इसके भी दो भेद माने जाते हैं। (१) सिध्यास्पद हेतुत्प्रेक्षा तथा (२) असिध्यास्पद हेतुत्प्रेक्षा। इनमें से सिध्यास्पद हेतुत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो तथा असिध्यास्पद उत्प्रेक्षा वहाँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार न सिद्ध हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं

१ बस लों जहाँ प्रचागता करि देखिय उपमान ।  
उत्प्रेक्षा भुवन तहाँ कहुत सुकवि मतिमान ॥



१४६ ] समीक्षा के मान और द्विती समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

- (क) मोर मुकुट की अङ्गकति यों राजत संवन्ध ।  
मनु सति सेखर को अकसकिय सेखर सतवन्ध ॥
- (ख) मुख भुजंग सरोज मयननि, बदन विष जित्यो सरनि ।  
एहे बिबरनि, उल्लस मन उपमा अपर दूरी डरनि ॥

### फलोत्प्रेक्षा

जहाँ हर अफल को फल माना जाता है वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है। इसके भी दो मोड़ होते हैं (१) सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा और (२) असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा। इनमें सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा बहूँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध हो तथा असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा बहूँ होती है जहाँ उत्प्रेक्षा का आधार न सिद्ध हो। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

- (क) नाता सरोवर छिछे नव फलजों को ।  
के अंक में बिहँसते मन मोहते थे ॥  
मानो प्रसार अपने सहस्र करों को ।  
वे मागते धरद से सुबिभूतियाँ थे ॥
- (ख) मीठ मयी मियझापुर में अदुरंग बूम सबि भाई बरस्त है ।  
एयों उछलै ते जवाहिर की सरई दूई तुरंगम के सहस्रस्त है ॥  
रुक्मन्तराम का यों बघारल्य लिये निब गोद न मोद अमात है ।  
नाम मिठाइबे के हित मानो पपीहरा स्वाती कै बुब नहात है ॥

गम्योत्प्रेक्षा, पुप्तोत्प्रेक्षा या प्रतीपमाना उत्प्रेक्षा—

जहाँ पर 'मानो' तथा 'बनु' आदि सम्बन्धी भावों बहूँ पर गम्योत्प्रेक्षा या पुप्तोत्प्रेक्षा होती है। इसका उदाहरण—

बहु भी एक विद्याल मोतियों की लड़ी ।  
स्वर्ष बँड से छूट परा पर विर पड़ी ।  
सह न सकी मरताप मजानक निबल घपी ।  
हिम होकर भी इबित एही कल बल मबी ॥

### सापग्लोस्त्रेसा—

उत्प्रेक्षा के उपयुक्त भेदों के अतिरिक्त एक और भेद माना जाता है सापग्लोस्त्रेसा । यह अस्कार नहीं होता है, वहाँ अपग्लुति सहित उत्प्रेक्षा होती है । इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

जन प्राची जननी ने अग्नि मित्रु को जो दिया डिठीना ।  
जसको कसक कहना यह नी मानो कठीर ठोना है ।

### अपग्लुति—

यहाँ पर प्रस्तुत या उपमेय को छिपाकर प्रस्तुत या उपमान की स्थापना हो वहाँ अपग्लुति अस्कार होता है । अपग्लुति अस्कार के छे भेद होते हैं—

(१) शुद्धापग्लुति (२) हेत्वापग्लुति (३) पर्यस्तापग्लुति, (४) भ्रान्त्यापग्लुति (५) छेकापग्लुति, (६) केतवापग्लुति ।<sup>१</sup> इसमें से प्रारम्भ के पाँच अर्थात् शुद्धापग्लुति हेत्वापग्लुति पर्यस्तापग्लुति भ्रान्त्यापग्लुति तथा छेकापग्लुति के निषेध सूचक शब्दों का तथा अन्तिम अर्थात् केतवापग्लुति में 'मिस' का प्रयोग अनिवार्य होता है ।

### शुद्धापग्लुति —

यहाँ पर वास्तविकता को छिपाकर उसके स्थान पर किसी अन्य वस्तु का आरोप हो, वहाँ शुद्धापग्लुति अस्कार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

- १ निम्ना कीर्ति सत्य कीं सत्य नु निम्ना होत ।  
अपग्लुति यद् भेद कीं बरनत है कवि बौत ।  
पुठ हेतु परबरत भ्रम छेका केतव बेखि ।  
ना बाबक है पाँच की केतव की मिति लेखि ॥
- २ भाग बात आरोपिये साँची बात छिपाय ।  
मुग्धापग्लुति कहत है मुयन कवि कबिराय ॥

ऊनी यह सुखों तो संवितो कहि बीबी मली  
हरि सों हमारे हर्षा न फूले बन कुब है ।  
बिमुक्त मुलाह कबनार और मनारन की,  
बारन पर मे डोलत मनारन के पुब है ।

हेत्वापत्तुति —

जहाँ पर हेतु से प्रस्तुत को छिपाकर अग्य बात का आरोप किया जाय, वहाँ पर हेत्वापत्तुति का बलकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

रस्त मांस रवि होत नहि ससि नहि तीब मुलाय ।  
उठी लजन मचनोकिये बारिबि सों बड़बाग ॥

पर्यास्तापत्तुति—

जहाँ पर प्रस्तुत को छिपाकर उसके बर्ण का आरोप अप्रस्तुत में किया जाय, वहाँ पर्यास्तापत्तुति बलकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भीष में नहि प्रीत सबनी कस्तकहि बहि प्रेम ।  
एक मति गति एक बत यह मरत ही में नेम ॥

भ्रात्यापत्तुति—

जहाँ पर अग्य बात का भ्रम होते ही तुरन्त बचार्थ बात कह कर उसका निवारण कर दिया जाय, वहाँ भ्रात्यापत्तुति बलकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ जहाँ प्रस्तुत सों भ्रम कों कीबे अग्य छियाय ।  
हेतु अपत्तुति कहत है सुपन कबि समुदाय ॥
- २ अस्तु बोप ताकी बरम और अस्तु में रोपि ।  
पर्यास्तापत्तुति कहत कबि सुपन मति बोपि ।
- ३ संक और की होत ही अहि भ्रम करिये दूरि ।  
भ्रात्यापत्तुति कहत है, तहि सुपन कबि दूरि ।

केर पीती बुति झलक परी अबर पर जाय ।  
बुनी होय न बतुर तिय क्यों पट पौछो जाय ।

धैर्यापमृति—

यहाँ पर किसी बन्धु-बात का भ्रम होते ही वारंवारिकता को छिपाया जाय यहाँ धैर्यापमृति असंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तिमिर बंल हूर, असन कर जायी सजनी मोर ।  
सिब सरजा भुप रहि सखी सरज घुर तिरमोर ॥

कैतवापमृति—

यहाँ पर किसी बात को कैतव ध्याय या मिस आदि के द्वारा छिपाया गया हो । यहाँ कैतवापमृति असंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साहितन सरजा भूपान सलरेह पास कीनी कुब केत कीसि भीर अचलन सौं ।  
भुवन मलत करि करम बहानी, रन परनि सुमान करि प्रान बँ बलन सौं ।  
समर के नाम के बहाने सी ममरपुर बंहावत करि सिबराज के इलन सौं ।  
सरजाजा बाबही नबि काजी के बहाने बाहू राज उमराज बभुचारी के छलन सौं ॥

विशेषापमृति—

अपमृति असंकार के उपयुक्त भेदों के अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने इसका एक और विशेषापमृति भी माना है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ यहाँ मोर की संक लें साँधि छियावत बात ।  
धैर्यापमृति कहत हूँ भुवन नति अबबात ।
- २ यहूँ कैतव छल ध्याय मिस इनसों होत बुराद ।  
मुँ कैतवापमृति कहत भुवन कवि रसमाद ॥
- ३ 'काव्यदर्पण' रामदहिज विषय पृ० ३६९ ।

६५० ] समीक्षा के मात और हिंदी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

वे मुस्कराते बूझ नहीं जिनको भाता है मुरझाना ।  
वे तारों के दीप नहीं जिनको भावा है बुझ जाना ।  
वे नीलम से मेघ नहीं जिनको है वृत्तने की बाध ।  
वह अमल प्रचुराज नहीं जिघने देखी माने की राह ।

अतिशयोक्ति—

वहाँ पर किसी बर्ष विषय की अतिरिक्त रूप में प्रस्तुत किया जाय और इस प्रकार से लोक सीमा का अतिशयन किया जाय वहाँ पर अतिशयोक्ति बर्णकार होता है । अतिशयोक्ति बर्णकार के निम्नलिखित भेद होते हैं— (१) भेदकातिशयोक्ति, (२) सम्बन्धातिशयोक्ति (३) अपकातिशयोक्ति (४) अक्रमातिशयोक्ति, (५) रूपकातिशयोक्ति और (६) अत्यातिशयोक्ति ।<sup>१</sup> इन छे के अतिरिक्त इसका एक भेद घापन्हुषा तिशयोक्ति भी माना जाता है ।

भेदकातिशयोक्ति—

वहाँ पर किसी बात का वर्णन किसी अन्य भाँति किया जाय वहाँ भेदकातिशयोक्ति बर्णकार होता है ।<sup>२</sup> उदाहरणार्थ—

और कष्ट अतबनि अकनि और मुनु मुसकानि ।  
और कष्ट मुष देत है सब न बीन पकानि ॥

सम्बन्धातिशयोक्ति—

वहाँ सम्बन्ध और अयोग्य में असम्बन्ध और अयोग्यता तथा असम्बन्ध और अयोग्य में सम्बन्ध तथा योग्यता बर्णनी जाय वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति बर्णकार होता

- १ वह अत्यन्त सराहियो भातिशयोक्ति मुकहृत ।  
भेदक सम्बन्धी अपन अक्रम रूप अत्यन्त ॥
- २ अहि अहि आतहि भाँति की अरमत बात कष्टक ।  
भेदकातिशयोक्ति सी सुवन कहत अष्टक ।

है। इसी बर्गीकरण के अनुसार उसके दो भेद किये गये हैं—(१) योग्य में अयोग्यता तथा (२) अयोग्य में योग्यता। इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

योग्य में अयोग्यता—

क्रान्त कृष्ण प्रमोद बितान मरै कस फूल गुण्य बिसाये ।  
बाबली के धरबिदन पै मकरंद मालिक समे सुम गाने ।  
एवो कछिराम "तरंगन" यो सरजू के कड़े सुर सावि विमाने ।  
बीचपुरी महिमा जो बित अमरावति को हम क्यों सममाने ॥

अयोग्यता योग्यता में—

भासन बांस कठीती हुती जो पयो बुपटी बेहि बीवत सीवत ।  
धोकल छानी छरी परी मीति रहे बित बहन के गन बीवत ।  
पाम सुबामा बहुते हरि सों बेहि बेबिए बेबि विपम्पति पीवत ।  
बैठि बिलै पन चाटक के बन बाँच बजाय कैं पीवत ।

अप्रमादिस्योक्ति—

वहाँ पर किसी कारण की चर्चा से ही कार्य हो जाय, वहाँ पर अप्रमादिस्योक्ति अस्कार होता है। उसे अचसादिस्योक्ति भी कहते हैं।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मैं भी लौलने का करती उपचार स्वयं तुम जाती हूँ ।  
मुचकता पसा कर भर तब से मुले सी सोके जाती हू ।

अप्रमादिस्योक्ति —

वहाँ पर कारण और कार्य एक साथ हो वहाँ पर अप्रमादिस्योक्ति अस्कार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ वहाँ हेतु करना हि सें काज होत ततकाल ।  
अचसाति तप उकिछों सुपन कहत रसात ॥
- २ वहाँ हेतु अथ काज मिलि होत बु एकहि साथ ।  
अप्रमादिस्योक्ति उचित तो कहि सुपन कविनाय ।

वे मुस्कराते कूछ नहीं जिनको माता है भुखाना ।  
 वे तारों के शीप नहीं जिनको माता है बुल जाना ।  
 वे भीकम से भिय नहीं जिनको है फुलने की चाह ।  
 वह अमलत पुरुराज नहीं जिसने बैधी जाने की राह ।

### अतिशयोक्ति—

वहाँ पर किसी बर्ण्य विषय को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाय और इस प्रकार से शोक क्षीमा का अतिशयन किया जाय वहाँ पर अतिशयोक्ति अर्थकार होता है । अतिशयोक्ति अर्थकार के निम्नलिखित भेद होते हैं— (१) भेदकातिशयोक्ति, (२) सम्बन्धातिशयोक्ति (३) अपसातिशयोक्ति (४) अक्रमातिशयोक्ति (५) रूपकातिशयोक्ति और (६) अत्यातिशयोक्ति ।<sup>१</sup> इन छे के अतिरिक्त इसका एक भेद सापन्हुवा तिशयोक्ति भी माना जाता है ।

### भेदकातिशयोक्ति—

वहाँ पर किसी बात का वर्णन किसी अन्य बाति किया जाय वहाँ भेदकातिशयोक्ति अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> उदाहरणार्थ—

भीरे कछु बितबनि बरुनि भीरे मुहु मुसकानि ।  
 भीरे कछु मुल देत है सरुं न बैन बरुनि ॥

### सम्बन्धातिशयोक्ति—

वहाँ सम्बन्ध और योग्य में असम्बन्ध और अयोग्यता तथा असम्बन्ध और अयोग्य में सम्बन्ध तथा योग्यता बर्णनी जाय वहाँ सम्बन्धातिशयोक्ति अर्थकार होता

- १ वहाँ अत्यन्त सराहियो जातितयोक्ति लुक्लुत ।  
 भेदक सम्बन्धी अपल अक्रम रूप अत्यन्त ॥
- २ वहाँ वहाँ भावति भाति की अत्यन्त बात कलुक् ।  
 भेदकातिशयोक्ति छी मुबन लहुत अथुक् ।

है। इसी वर्गीकरण के अनुसार उसके दो भेद किये गये हैं—(१) योग्य में अयोग्यता तथा (२) अयोग्य में योग्यता। इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

योग्य में अयोग्यता—

कामल कुब्ज प्रमोद बितान भरै फल फूल गुणब बिछाने ।  
बाबली के भरबिबल वै मकरंद मलिब सगै सुम गाने ।  
स्यों लछिराम "तरंगन" यो सरजू के कड़े गुर सावि बिमाने ।  
बीचपुरी महिमा भी बित ममराबति को हुम क्यों सनमाने ॥

अयोग्यता योग्यता में—

जासन बाँध कठौती हुती भी फटी बुपडी कैहि बीतत सीबत ।  
योकरु छानी छरी परी मीति रहे बित बहन के मन बीबत ।  
घाम मुशामा कहुँ हुरि सों कैहि बेकिए बेकि रिगम्पति पीबत ।  
बैठि बितै मन जातक के मन बौब बलाय छै पीबत ।

अपसात्तिघयोक्ति—

वहाँ पर किसी कारण की वहाँ से ही कार्य हो जाय, वहाँ पर अपसात्तिघयोक्ति अर्थात् होता है। उसे अपसात्तिघयोक्ति भी कहते हैं।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मैं भी सीकने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हू ।  
भुजकता फटा कर भर तब से झूठे सी शोके जाती हूँ ।

अभ्यन्तरीययोक्ति—

वहाँ पर कारण और कार्य एक साथ ही वहाँ पर अभ्यन्तरीययोक्ति अर्थात् होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ वहाँ हेतु करना ही तें काज होत ततकाल ।  
अभ्यन्तरीय सम उचितों भूषण कहत रत्नाल ॥
- २ वहाँ हेतु अब काज मिलि होत नु एकहि साथ ।  
अभ्यन्तरीयन उचित सो कहि भूषण कबिनाय ।



६५२ ] समीक्षा के मान और द्विती समीक्षा की विभिन्न प्रवर्तित्या

बानासमते राबरे भान विवम रमुनाथ ।  
बस सिर सिर पर से छुटे बोक एकहि साप ॥

क्यकातिशयोक्ति —

वहाँ पर उपमान से उपमेय का बोध हो वहाँ पर क्यकातिशयोक्ति अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बंजन सुक कपोत मृग मोला । मनुष्य निकर कोकिला प्रबीला ।  
कु ब कली बाडिम धामिनी । सरब कमल लसि बहि मामिनी ।  
बसन पास मनोज घनु हुंसा । गम केहरि निब मुदत प्रसंसा ।  
बीकल कमल कबलि परछाहीं । भेकु न संक लकुच मन भाहीं ।  
मुनु बालकी लीहि बिनु भाबू । हरये सकल पाप लनु रामू ॥

अत्यन्तातिशयोक्ति—

वहाँ पर कारण के पूर्व ही कार्य हो जाना बधित किया जाय वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

संवल मनोरथ की धानी प्रबनहि लोहि,  
कामबेनु कामतथ लै पनाइपतु है ।  
याते तेरे लब पुन पाहू को लकत कबि,  
बुद्धि अनुत्तार कचू कचू पाइपतु है ।

- १ जान करत उपमेय की बहू केवल उपमान ।  
क्यकातिशयोक्ति लो मुचन कहत मुचान ।
- २ वहाँ हेतु के प्रबन ही प्रबन होत है काब ।  
अत्यन्तातिशयोक्ति लो कबि मुचन कबिराम ।

भुयन कहे को छाहितन सिवराम  
निज बसत बड़ाइ करि सोहि क्याइयतु है ।  
बीजता कीं जारि और अपीनता बिचारि  
बीह बारिह कीं मारि नरे द्वार आइयतु है ।

सापह्वातिचयोक्ति —

वही पर अपह्मुतिमुक्ति रूपकातिचयोक्ति होती है वही पर सापह्वातिचयोक्ति  
अलंकार होता है । उदाहरणार्थ —

अहि सति मंडस पै लसे द्विय पताक जिन जानु ।

तुस्ययोगिता—

वही पर अनेक उपमेयों या उपमानों का एक ही धर्म बतित किया जाय वही पर  
तुस्ययोगिता अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

गुननि सों इनहू को बरिय क्याइयतु पुनि,  
गुननि सों उनहू को बरिय क्याइयतु है  
पाप गहे इनहू को रोख आइयतु भव  
पाप गहे उनहू को रोख आइयतु है ।  
भुयन भगत भन महाराज सिवराम लेरी,  
रस रीस एक भाति ही को क्याइतु है  
बोहा के कहे तें कबि जोग क्याइयतु है,  
स्यों बीहरी के कहे तें अरि जोग क्याइयतु है ।

ऊपर तुस्ययोगिता अलंकार का सामान्य उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । इसके चार  
भेद माने जाते हैं (१) अर्थों में समान धर्म का आरोप (२) अवस्थाओं में समान धर्म का

१ द्वित अहितन सों एक लो अहि बरगत ध्योहार ।  
तुस्ययोगिता और ती भुयन प्रबबिचार ।

१२४ ] समीक्षा के मा० और हिंदी समीक्षा की विद्विष्ट प्रवृत्तियाँ

भारोप (३) बर्षों की एकता में उत्कृष्ट गुणों का योग तथा (४) हिंदू तथा बहिर्दू में समान धर्म का आरोप ।

बर्षों में समान धर्म का आरोप.—

वहाँ पर अनेक उपमेयों का समान धर्म कथित हो वहाँ प्रथम तुल्ययोमिता व्यञ्जकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

सय कर ससय अय अज्ञानु । गद महोपग कर भसिमालु ।  
भुपुपति केरि मय गदमाई । मुनि मुनिवरन केरि कबराई ।  
सिय कर सोप जतक परितापा । रातिन कर बासन बुस बापा ।  
संभु थाप यह बोहित पाई । अई जाइ सब संय वमाई ॥

अबर्षों में समान धर्म का आरोप—

वहाँ अनेक उपमालों में समान धर्म का आरोप किया जाय वहाँ पर द्वितीय तुल्य योमिता व्यञ्जकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

जबल चम्ब विपुप मभुवक गुह्यपयोनिभि छोम सो पागे ।  
पुनो की राति में कैरब कै दग सेत सरोरई छवि जामे ।  
मारब हार तुवार पहार कपूर के मारब हूव के ज्ञाये ।  
पसे क्ये सब ही के बिजास पु राम महीपति के जय जामे ॥

बर्षों की एकता में उत्कृष्ट गुणों का योग—

वहाँ पर अर्घ्यों को समान धर्म वाला बर्णन करके उन्हें उत्कृष्ट गुणों युक्त बताया जाय वहाँ तीसरी तुल्ययोमिता होती है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

१ धर्म्यन को अंतु धम एक प्रथम सहुत कवि लोम ।

२ धर्म अचन्यन को वहाँ एक बिधि ठहराय  
तुल्ययोमिता दूसरो ताहि कहै कबिराय ।

३ सम करिए उत्कृष्ट गुण अहु के एक महु लाय  
तुल्ययोमिता तीसरो ताहि कहै कबिराय ।

सौरज में परिपूरण केनकी मालती, मोलसिरो और गृह है ।  
 पीरता में कलकत्तन केसरि और गृह है गनी सबहू है ।  
 बानक में 'रघुनाथ कड़े रति रंभा और गृह है देवी महू है ।  
 देवी रचनी बिधि भावती लोहि न तेरी घुडी मर जाय कहुँ है ।

हिन्दू तथा अहिन्दू में समान धर्म का आरोप—

जहाँ पर हिन्दू तथा अहिन्दू में समान धर्म का आरोप किया जाय वहाँ पर अतुल्य पुरुषभक्ति बर्लकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बंदी संत समान भित, हित अनहित वहि कोउ ।  
 अंकलि पठ सुख सुमन अिनि समनुपय कर होउ ॥

बीपक—

जहाँ पर उपमेय तथा उपमान दोनों में एक ही धर्म का आरोप किया जाय वहाँ बीपक बर्लकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कामिनि संत सों जानिनी बंद सों बापिनि पाबत मेघ घटा सों ।  
 कीरति बाल सों सुरति बाल सों प्रीति बड़े सबमान महा सों ।  
 भूपन भूपन सों तन ही मलिनी नक भूपनदेव प्रभा सों ।  
 बाहिर बाहिरुँ मोर बहान लर्म हिनुरमान पुमान तिषा सों ।

बीपक बर्लकार के निम्नलिखित भेद हैं (१) मादुलि बीपक (२) कारक बीपक,  
 (३) नाला बीपक तथा (४) देहरी बीपक ।

- १ हिन्दू में अनहिन्दू में जहाँ करिए एक धर्म ।
- २ धर्म अन्वयन की धरम कृति धरमन है एक ।  
 ताको बीपक कहत हैं भूषन सुकवि बिदेह ।

**आवृत्ति शीपकः—**

जहाँ पर एक ही अर्थ वाले पदों की अनेक बार आवृत्ति हो जहाँ पर आवृत्ति शीपक अलंकार होता है।<sup>१</sup> इसके तीन भेद होते हैं (१) पदावृत्ति शीपक (२) अर्थावृत्ति शीपक तथा (३) पदार्थावृत्ति शीपक।<sup>२</sup>

**पदावृत्ति शीपकः—**

जहाँ पर एक पद की आवृत्ति कई बार हो, परन्तु अर्थ में भिन्नता हो, जहाँ पर पदावृत्ति शीपक अलंकार होता है।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बहूँ बहिर सरिता बहूँ किरवाने कङ्कि कोस ।  
वीर्य बरहि बरांभना बरहिह सुमठ रण रोव ॥

**अर्थावृत्ति शीपकः—**

जहाँ पर समान अर्थ वाले विभिन्न पदों का प्रयोग किया जाय, जहाँ पर अर्थावृत्ति शीपक अलंकार होता है।<sup>४</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सिब सरजा तुब बान की करि को सकत बखान ।  
बहुत नबीगन बान अल उमड़त नर बज बान ॥

- १ बहूँ कों औरे पर जहाँ फिरि फिरि करत बखान ।  
आवृत्ति शीपक ताहि कों सुपन कहत सुबान ॥
- २ शीपक आवृत्ति तीन विधि पदावृत्ति एक आनु ।  
अर्थावृत्ति दुको तृतीय पर अर्थावृत्ति आनु ॥
- ३ अर्थे दोस पर एक की आवृत्ति करिए जीन ।  
पदावृत्ति शीपक तहाँ कहिए मति के मीन ॥
- ४ अर्थे पृथक एक अर्थे जहाँ सु आवृत्ति सित ।  
अर्थावृत्ति शीपक तहाँ कहै सुकवि करि हैत ॥

पदार्थावृत्ति बीपक —

बहुत पर एक ही पर का एक ही अर्थ में अनेक बार प्रयोग किया जाय, बहुतावृत्ति बीपक अलंकार होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अटल रहे हैं विय अंतन के भूप धरि  
 रीपत को जय निज देस देस कर के।  
 रामा रछ्यो अटल बहाना धरि सुतह को  
 याता धरि भूपत कछुत पुन धरि के।  
 हाहा रामवर कछवाहै गोर और रहे,  
 अटल बिकता की बमाऊ धरि डरि है।  
 नवल तिया की रछ्यो किन्तो को निबधि,  
 धीर धरि पौड़ धरि पड़ धरि लेव धरि के।

कारक बीपक—

बहुतावृत्ति अनेक नियमों में एक ही कारण का योग दिखाया जाय बहुतावृत्ति बीपक अलंकार होता है।<sup>१</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

बरत विद्यो तो मित्रवर, मामो बँठी पाल  
 कुतल क्यो निज बचन की बाईं तिए तुलाल।

माता बीपक—

बहुतावृत्ति बीपक और एकावली दोनों मिला जाय बहुतावृत्ति बीपक अलंकार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

- १ पर अथ अर्थ दुहरान की भावृत्ति फिर फिर होय।  
 कहुत पदार्थावृत्ति तेंहि बीपक सब कवि ज्ञेय ॥
- २ कम तें किया अनेक को दर्ता एते होय।  
 कारक बीपक ताहि को बरमत हू सब ज्ञेय ॥
- २ बीपक अथ एकावली मिलै बहुतावृत्ति बीपक  
 बरमत कवि कोविद सकल माता बीपक होय ॥

६३५ ] समीक्षा के मान और द्विती समीक्षा की विविष्ट प्रवृत्तियाँ

घन में सुन्दर बिजली सी बिजली में चपल चमक सी  
 जाँकों में काली पुतली सी पुतली में क्याम झलक सी ।  
 प्रतिमा में सबीबता सी घटा गयी मुछबि जाँकों में  
 पी एक लकीर हृदय में जो अलग रही जाँकों में ।

देहरी बीपक:—

जहाँ पर दो वाक्यों के बीच में एक ही क्रिया का प्रयोग हो वहाँ देहरी बीपक  
 अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कहा राम ने अगुज करो तपार पिता को  
 छय पति को हू इसे मिली को नहीं पिता को ।  
 पिता मरण का शोक न सोता हर जाने का  
 लम्बन हा है शोक गुम्र के मर जाने का ॥

प्रतिबस्तूपमा:—

जहाँ पर उपमेय और उपमान वाक्यों का भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा समान अर्थ  
 कथित हो वहाँ प्रतिबस्तूपमा अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साधु संव पापहु नहीं उस को लक्ष्यन जाय ।  
 सुधा पिघायहु अहि नहीं तजत मरण दुखदाय ॥

दृष्टान्त:—

जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यों का पार्श्व बिंब प्रतिबिंब भाव से प्रकट किया  
 जाय, वहाँ पर दृष्टान्त अर्थकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ परे एक पर बीच में कुछ विसि लार्ने सीई ।  
 सो है बीपक देहरी जानत है सब कोई ॥
- २ वाक्य न को सुय होत अहं एउँ अरय समान ।  
 बुबो बुबो करि भाषिए प्रतिबस्तूपमा जान ॥
- ३ सुयल वाक्यन को अरय अहि प्रतिबिंबित होत ।  
 ताहि कसत दृष्टांत हैं भूबन सुकबि उबोत ।

प्राण श्रेय सब लोक के हृदय में भावत लोच  
 मनुष्य राजपद पाय के भीरु न मांगत लोच ॥

निदर्शना—

जहाँ जो बातों में अर्थ वैधिम्य होता है परन्तु उनमें समता आरापित की जाती है, वहाँ निदर्शना असकार होता है।<sup>१</sup> निदर्शना असकार के पाँच भेद बताये जाते हैं (१) पहली निदर्शना, (२) दूसरी निदर्शना (३) तीसरी निदर्शना (४) चौथी निदर्शना और (५) पाँचवीं निदर्शना ।

पहली निदर्शना—

जहाँ पर जो सो, के, से आदि पदों द्वारा असमान बातों में समता का आरोप किया जाय वहाँ पर पहली निदर्शना होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कीरति सङ्गित को प्रताप सरजा में सहु  
 माच्छंभ मध्य तैय चौरनी तो जाती हैं।  
 जोमित पद्धारता सुदीसता कुमान में सु  
 कचन में सुदुता सुसंपता ब्रजानी हैं।  
 सुपन कहत छय शिगुन को माग किई  
 बड़ें से सुमति अवकता किरान सानी में।  
 चाहि के सुपेद बीनी करतारु वीर पैठ,  
 तिबा सु में सोई हैंद हिमुमान पानी में ॥

१ सहुम भावय कुन अरप को करिये एक अरोच ।

सुपन ताहि निदर्शना कहत बुद्धि से औप ॥



६६० ] समीक्षा के मात और हिबो समीक्षा की विधिष्ट प्रवर्तिका

दूसरी निवर्तना—

अहाँ पर एक ही क्रिया से एक अर्थ तथा अन्व अर्थ दोनों का बोध कराया जाय, वहाँ पर दूसरी निवर्तना होती है।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

आहत निरमुन को जानबंत की जान ।  
प्रपठ करत निरमुन तपुन सिवा निबाअत जान ॥

तीसरी निवर्तना—

अहाँ पर उपमेय क गुण का आरोप उपमान में क्रिया जाय वहाँ तीसरी निवर्तना होती है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

भारती को देखा नहीं केंसी है रमा का रूप  
केवल रूपानों में ही मुने कसे माते हैं ।  
सीता की का सील सत्य बीषण सखी का कहीं  
किसी ने लिखा ही नहीं प्रान्न ही यताते हैं ।  
धीन समर्थती की सहज सीकता की कथा  
मूठी है कि सखी धीन जाने कबि पाते हैं ।  
इन्दुपुर बासिनी प्रकाशनी मस्तार बंध  
मातु की अहिम्मा में समी के पुन पाते हैं ॥

चौथी निवर्तना—

अहाँ पर पदार्थों के सद् या असद् व्यवाहार से ही सद् या असद् का ज्ञान हो, वहाँ पर चौथी निवर्तना होती है।<sup>३</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

- १ एक क्रिया से निज अरथ और अर्थ को ज्ञान ।  
ताहु से अ निवर्तना मूलन शुद्धि सुमान ।
- २ आपिय पुन उपमेय को उपमानहि के अर्थ ।  
साकई ब्रितिय निवर्तना कहिए सुमति समय ॥
- ३ अपने सद् व्यवाहार से औरहि सिद्धी ज्ञान  
से सद् अर्थ निवर्तना माने सब बुद्धिमान ।

पर कर हियमुक्त सब समताई । पाप कमल अहिमिति नहिं लाई ।  
 कौच कौच बसि बस तिपललाई । नमि को बसै ऊच पर पाई ॥

पाँचवीं निदर्शनाः—

बही पर सद् या असद् क्रिया के द्वारा सद् या असद् का बोध कराया जाय बही पाँचवीं निदर्शना होती है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

राज विरोधी ममत है यों जय की दरसात ।  
 बंद जय सें तमनि कर, छिन छिन छोगत जात ॥

अन्तरग्यास —

बही पर काम्य में ध्वनित होने वाले अर्थ की पुष्टि के लिए किसी दूसरे अर्थ की सर्वा हो, बही अर्थात्तग्यास अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> यह दो प्रकार का होता है । प्रथम य सामान्य की पुष्टि विशेष से और द्वितीय में विशेष की पुष्टि सामान्य से की जाती है । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

सामान्य की पुष्टि विशेष से—

कारण ते कारण कठिन होय सोय नहि मोर ।  
 कुतिल मरिच तें उपसते सोह करार कठोर ।

विशेष की पुष्टि सामान्य से—

भूरि बड़ी नन पीन प्रसंग ते कीच मई अठ टंगत पाई ।  
 फूल मिलै नृप वै पठु बे हनि काँटन संग अनेक उपमाई ।

- १ अतस्त क्रिया निज सों असत् अर्थ बनारै कोय ।  
 पंचम असद् निदर्शना तहि भाषत सब कोय ॥
- २ कष्टो अर्थ ताहूँ तिये और अर्थ उत्तैय ।  
 बी अर्थात्तग्यास सो कहि सामान्य विशेष ॥

बंदन संय सुबाह गुण्य छुँ नौव प्रसंग सही कब्यई ।  
 "बात नू देखो सही सब डोरन संगति को यन होय सबाई ।

व्यतिरेकः—

वहाँ पर समान सोमा से मुक्त को वस्तुओं में से एक का वर्णन बढ़ा कर किया जाय वहाँ व्यतिरेक बर्णनकार होता है ।<sup>१</sup> यह बर्णनकार प्रायः दो प्रकार का होता है । प्रथम वहाँ उपमेय का वर्णन बढ़ा कर किया जाय तथा द्वितीय वहाँ उपमान का वर्णन बढ़ा कर किया जाय । इसके उदाहरण निम्नलिखित हैंः—

उपमेय की उत्कृष्टता—

बादन गुणन दुरजोषन तें अबरम  
 सुयन भगत अय राखी छनु मड़ि ई ।  
 परम अरम बल भोस पैन पण्ड क्य बहूस  
 अकिल सहदेव तें तूँ मड़ि ई ।  
 साहि के सिवा की पाबी बाह्यो बिस्नी हू तें,  
 चंड पांडनामिहू तें पुकराच तू मड़ि ई ।  
 मुने लाल सीन तें क्येँ बै राति पाँधिते  
 तू सीस लाल बीकी तें अकैलें आयी कड़ि ई ।

उपमान की हीमता—

अम्भ सिधु पुनि बंधु बिप बिन मलीन सकलक ।  
 सियमुष समता पाव किमिचंद्र बापुरो रक ।

सहोक्तिः—

वहाँ पर 'सह' शब्द या अर्थ सूचक अन्य शब्दों से यह भाव प्रकट किया जाय

१ सम छवि वाले गुह्य में अहि अरमत बड़ि एक ।  
 सुयन कवि कोचिब सबक ताहि कहत व्यतिरेक ।

वहाँ पर सहीरिक्ति बर्तकार होता है ।<sup>१</sup> इस बर्तकार का उदाहरण निम्नलिखित है—

जनक निरस्ता बुष्ट नृपन की आसा  
 बुरजन की उवासी सोक रनिबसा ममु के ।  
 बीरम के गख परर मरपूर सब भम,  
 मोह आवि मुनि कौसिक के सनु के ।  
 'हरिचर तब देव मग के पुहुपि तार  
 बिकल बिचार सब पुरनारी बनु के ।  
 संका निधिसेत की सिपा के डर पूरु सदै  
 तीरि डारे रामचंद्र सापे हर मनु के ॥

बिनोक्ति—

जहाँ पर बिना कियो वस्तु के कियो वस्तु को अर्थ या हीन बयित किया जाय वहाँ पर बिनोक्ति बर्तकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

करिये जीवन सुकल वलि देलहु भाग बिसंक ।  
 घरघ मनोहर मनु बहु मुक मयक बिनु अंक ।

समासोक्ति —

जहाँ पर किसी अन्य वस्तु का वर्णन करने से किसी अन्य वस्तु का बोध हो वहाँ पर समासोक्ति बर्तकार होता है ।<sup>३</sup> इसे सामान्यतः दो रूपों में (१) क्लिप्त सम्बन्धोद्देश्य तथा (२) अरिक्लृप्त सम्बन्धोद्देश्य द्वारा प्रकट किया जाता है । इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

- १ वस्तुन की भारतत जहाँ जन संजत सह पाउ ।  
 ताहि कहत सङ्गति है नृपन के कवि राज ।
- २ बिना कछु अहं बरनिदे की मोको की हीन ।  
 ताहि कहत बिनउक्ति है नृपन सुकवि प्रयोग ॥
- ३ बरमत कीर्न भाग को ज्ञान ज्ञान को होइ ।  
 ताहि समासोददेश्य कहत नृपन कवि तब कोई ॥

- (क) तुही साँच द्विराज है तेरी कला प्रमाण ।  
तौ पर सिब किरपा करी आत्म्यों सकस बहान ॥
- (ख) जग के दुप ईग्य घमन पर यह कला बाला  
रे कज से जाप रही बह जाँसु की नीरख माला ।  
पीली पड़ निर्बल कोमल बेह लता कुम्हसाई  
बिबसना काज में लिपटी साँसों में दूम्य समाई ॥

#### पर्यायोक्तिः—

यहाँ पर किसी इच्छित बात का भिन्न प्रकार से वर्णन किया जाता है, यहाँ पर्यायोक्ति अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—(१) किसी बात को सीधे न कहकर रचनापूर्वक वर्णित करना तथा (२) किसी कार्य की पूर्ति किसी अन्य आचार से करना।<sup>१</sup> इस अलंकार के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

- (क) आली मुलाबलि झूमनि छों झुकि जाति कबी सतनाति सकोरे ।  
बँबल बँबल की जपला बल बेनी जड़ी सो गड़ी बित जोरे ।  
या बिधि झूलत बेनि बयो तब ते कबि 'बेब' सनेह के जोरे ।  
झूलत है हियरा हरि को हिय भाहि तिहारे हार के हिजोरे ॥
- (ख) बेकन मिस मृग बिहप तब किरें बहोरि बहोरि ।  
निरखि निरखि रम्बीर छवि बाढ़ी प्रीति न जोरि ॥

#### परिचरः—

यहाँ पर अतिशय सहित विशेषण का प्रयोग हो यहाँ पर परिचर अलंकार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ पर्यायोक्ति प्रकार हैं कुछ रचना छों बात ।  
मिस करि कारख साधियु भी हितचितहि सोहात ।
- २ अतिशय विशेषण परिचर मूढन जान ।

तनु विविध कायर बचन नहि अहार मन मोर ।  
तुलसी हरि मये पछापर ताते कहत सब मोर ॥

परिकरान्कुरः—

वहाँ पर जमिप्राय संहित विशेष्य का प्रयोग हो, वहाँ पर परिकरान्कुर अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बामा मामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस ।  
प्यारी कहत सजात नहि पावस अस्त विदेस ।

प्रासस्तुतः—

वहाँ पर स्तुति में निम्ना और निम्ना में स्तुति आभासित हो वहाँ पर ध्यावस्तुति अलंकार होता है ।<sup>२</sup> यह अलंकार चार रूपों में भिन्नता है (१) निम्ना से स्तुति, (२) स्तुति से निम्ना (३) एक की निम्ना से दूसरे की निम्ना तथा (४) एक की स्तुति से दूसरे की स्तुति । इन चारों प्रकार के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) पीरी पीरी हनि तुम बेत हो मगाय हमें  
मुवरन हम सों परधि करि सेत ही ।  
एक पल ही में कास कबन सों सेत लोय  
तुम राजा हूँ के काय बेबे को साधेत ही ।  
भूपन मनत महाराज शिबरान बड़े  
बानी बुनी अमर कहाए कौने हेत ही ।  
रीसि हस हाथी हमें सब कोऊ देत  
कहा रीसि हसि हाथी एक तुमही ये बेत ही

(ख) राम साधु तुम साधु गुजाना । राम मालु तुम भक्ति पहचाना ।

- १ सामिप्राय विशेष्य में परिकर अंकुर आन ।
- २ निम्ना में स्तुति कहत नहि, स्तुति निम्ना में होइ ।  
ध्याव स्तुति तासों कहै भूपन कवि सब कोइ ॥

६९६ ] सनीला के मान और हिंदी सगीला की विविध प्रवृत्तियाँ

- (क) बई बिरबई हाँ मई 'बास बड़ीयै भूत ।  
कमल मुखो के बिन कियो हिय कठिनई बतुल ।
- (ख) या बुम्बावन बिपिन में बड़नागी मम काम ।  
बिन मुरली की तान मुनि किय हवित मम काम ॥

आश्लेषः—

जहाँ पर कारण के प्रारम्भ में ही उसका निषेध किया जाय, वहाँ आश्लेष अर्थात् होता है ।<sup>१</sup> इसके तीन भेद होते हैं (१) अश्लेष, (२) निषेधाश्लेष और (३) व्यक्ताश्लेष ।<sup>२</sup>

उत्क्राश्लेष—

जहाँ पर पहले किसी बात को कहने के बाद फिर उसका निषेध किया जाय वहाँ पर उत्क्राश्लेष अर्थात् होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

तुम मुझ विमल प्रसन्न भति रहो कमल छो कृति ।  
नहिं नहिं पूरन अब सो कमल कहाँ में नृति ॥

निषेधाश्लेष—

जहाँ पर किसी बात का निषेध करने के बाद फिर उसी की पुष्टि की जाय, वहाँ पर निषेधाश्लेष अर्थात् होता है ।<sup>४</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

- १ कारण के आरंभ ही जहाँ कीजै प्रतिषेध ।  
आश्लेष तातो कहत तातु तीन हैं भेद ॥
- २ अश्लेष तु प्रथम है कृतिम निषेधाश्लेष ।  
तीनों सब कवि जन कहैं तुम्बर व्यक्ताश्लेष ।
- ३ जहाँ कथित निज बात की समुक्ति करिय प्रतिषेध ।  
अश्लेष व जहाँ कहैं कविजन मतिउतयेष ।
- ४ पहले करै निषेध को फिर ठहरावै ताहि ।  
कहत निषेधाश्लेष तैहि कविजन सकल सराहि ।

हों न कहति तुम जानि हीं, साज बाल की बात ।  
 अंतुबा अबुगल परत ई होन बहुत पतपत ॥

व्यस्तान्तप—

वहाँ पर प्रकट में कार्य की इच्छा तथा व्यस्त रूप में उसका निवेद्य किया जाता है, वहाँ व्यस्तान्तप अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कोर कह अब बिधि रति मुख कीम्हा । सार भाग सति कर हरि सीम्हा ।  
 छिद्र छों प्रकट ईहु जर माहीं । सेहि मत देखिय मन परछाहीं ॥

सामान्य निबन्धना—

वहाँ किसी सामान्य कथन के माध्यम से विशेष का बोध कराया जाता है, वहाँ सामान्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है । उदाहरणार्थ—

जालन बंध निहारि निहारि महीं तन श्री मन जीबन बारें ।  
 बाब बितीनि बुमी 'मतिराम' हिपु मति को यहि ताहि बिघार ।  
 क्यों करि बौं पुरकी मनि कु डल मोर पला मतिराम बिघार ।  
 ते बनि भे बजराम कछे, गृह काब करे अब साज संमारें ॥

विशेष निबन्धना—

वहाँ पर किसी विशेष कथन के माध्यम से सामान्य का बोध कराया जाय, वहाँ पर विशेष निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है । उदाहरणार्थ—

कादि सेत तब बाइई सुबे सुबे जोय । जब में बनि बून को कपत है नहि कोय ॥

सार्वभ्य निबन्धना—

वहाँ पर अप्रस्तुत के कथन के माध्यम से प्रस्तुत का बोध कराया जाय, वहाँ पर सार्वभ्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है । उदाहरणार्थ—

१ करिबे की आज्ञा प्रकट छिप्पों निवेद्य बु होय ।  
 व्यस्तान्तप कहैं तहाँ कवि कोविद तब कोय ।



मानस साक्षि सुधा प्रतिपाली । निर्दे कि लक्षण पयोषि मरासी ।  
नव रत्नाल बन बिहरन सीला । सोहू कि कोकिल बिपिन करीला ॥

विभाषणः—

वहाँ पर बिना कारण के ही कार्य का होना बर्णित हुआ वहाँ पर विभाषणा अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसके छे भेद होते हैं (१) प्रथम विभाषणा (२) द्वितीय विभाषणा, (३) तृतीय विभाषणा (४) अपूर्ण विभाषणा (५) पञ्चम विभाषणा, (६) षष्ठ विभाषणा ।

प्रथम विभाषणा—

वहाँ पर कारण के अभाव में कार्य का सिद्ध होता बर्णित हो, वहाँ पर प्रथम विभाषणा अलंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साहित्य सिवसाह की सह्य टेक यह ऐन ।  
अनरीसे बारिब बसहि अनलीसे जरि सेन ॥

द्वितीय विभाषणा—

वहाँ पर अपूर्ण कारण होने पर भी कार्य पूर्ण हो जाना ब्रिहामा जाय वहाँ पर द्वितीय विभाषणा अलंकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बीन न हो बोये सुनो बीन नहीं गारी कभी  
पूत बधा सूति अह मन से लरीर से  
कीन हुवा बन में लुधा से मैं बियोव सब  
मुझको बचाया भातु जाति मे ही कीर से ॥

- १ मयी काच बिनु हेतु ही बरगत है केहि ठीर ।  
तई विभाषणा कइतु हैं भूबन कवि किरमीर ।
- २ कारण बिन ही होत है कारण कीनो सिद्ध ।
- ३ हेतु अपूर्ण से वहाँ कारण पूरन होय ॥

आधा जब मार मुझ मारने को बार बार,  
अधरा अनीदनी सज्जते हेम तीर से ।  
तुम तो यहाँ की ध्यान बीर हो तुम्हारा  
वहाँ बूझा मुझे पीछे कर पंच धर बीर से ।

### द्वितीय विभावना —

वहाँ पर प्रतिकूल परिस्थिति के होने पर भी कार्य की पूर्ति होती दिखायी जाती है वहाँ पर द्वितीय विभावना असकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तुम बेनी नागिन रहै, बाँधी पुनन बनाय ।  
तरु नाम बनचर्य को बराबरी बसि जाय ।

### तृतीय विभावना.—

वहाँ पर यथार्थ कारण के अतिरिक्त किसी अन्य कारण द्वारा कार्य की पूर्ति दिखानी जाय वहाँ पर तृतीय विभावना असकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्न लिखित है—

जपक की कतिका तें सुबास भुमासती की पसरे सुख बैन री ।  
कोल के कोस से यप पुलाज की आबत है सखि बायक खेत री ।  
'पोकुलनाय' कुट्ट निधि में यह राका की राति की बहि बहैन री ।  
बेजु कपोत के कंठ आकी कइँ ते कस कोदिल को बर बैन री ॥

### चतुर्थ विभावना:—

वहाँ पर प्रतिकूल कारण से कार्य की सिद्धि अथवा की जाय वहाँ पर चतुर्थ विभावना असकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

- १ प्रतिबंधक के होत हू होय काज वैहि ठौर ॥
- २ आकी कारण जो नहीं अपजत ताते तीन ।
- ३ बरनत हेतु बिचड तें अपजत है कइँ काज ॥

६७० ] समीक्षा के माल और हिंदी समीक्षा की विद्विष्ट प्रवृत्तियाँ

साहब लिहारे कम की निपट बनौतो बाल ।

अधिक सलोनी है तऊ समय मबुर अक्षियाल ॥

पष्ठ विभावना:—

वहाँ पर कार्य से कारण की उत्पत्ति होती है, वहाँ पर पष्ठ विभावना अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भयो तित्तु ते बिबु छुक्कि बरगत बिना बिचार ।

उपयो तो मुळ इन्दु ते, प्रेम पयोबि अवार ॥

विशेषोक्ति:—

वहाँ पर समर्थ कारण के होते हुए भी कार्य पूर्ण न होना बिसाया भाव वहाँ पर विशेषोक्ति अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है:—

भाली इन लोचनन की उपजी बड़ी बजाय ।

और भरे नित प्रति रई तऊ न प्यास बुझाय ॥

व्याजात:—

वहाँ पर किसी कार्य के कर्ता द्वारा कोई अन्य कार्य होना बताया जाय, वहाँ पर व्याजात अर्थकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है:—

१ कारण सँ बहू होती है, कारण की उत्पत्ति ॥

२ वहाँ हैतु समरप्य हू अरुड होत नहि काज ।  
साहि विशेषोक्ती कहत सुवन कबि सिरताज ॥

३ और काज करता वहाँ करे औरई काज ।  
साहि कहत व्याजात हू सुवन कबि सिरताज ॥

तासों काकृत अथवा के बंधन हीन बयास ।

ता चित्तबन्धि सों तियन के मन बांधत पोषास ।

असंगति—

वहाँ पर कारण कार्य आदि में विरोधाभास दिखाया जाय, वहाँ पर असंगति अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम असंगति, (२) द्वितीय असंगति, और (३) तृतीय असंगति ।

प्रथम असंगति—

वहाँ कारण अथवा स्वान पर तथा कार्य अथवा स्वान पर हो, वहाँ प्रथम असंगति अलंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

कारण कहुँ कारण कहुँ अकारण कहत नैन न ।

असि तो पीबति रगत ये होत रगत सुख नैन ।

द्वितीय असंगति—

वहाँ पर किसी कार्य की आवश्यकता नहीं हो और उसे किया जाय अथवा वहाँ पर द्वितीय असंगति अलंकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बंसी पुन पुनि बज अपू बली बिसार बिचार ।

भुज भुवन पहिरे पपनि भुजन लयेटे हार ॥

- १ कारण कारण को वहाँ लखी विरोधाभास ।  
ताहि असंगति आनिये कबिजग संहित हुमास ।
- २ हेतु अथवा ही होत अहि काम अथवा ही होइ ।  
ताहि असंगति कहत मुकबि सिरमौर ।
- ३ और और करनीय से करे और ही और ।  
ताहि असंगति औरतू कहत मुकबि सिरमौर ।

तृतीय असंगति—

वहाँ पर कोई कार्य आरम्भ किया जाय, परन्तु सिध कोई दूसरा काम हो जाय, वहाँ पर तृतीय असंगति अर्त्तकार होता है।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

तस्त पितृहि तुम प्राप्य पिपारे बेकि मुक्ति नित करित तुम्हारे ।  
राज बेन कहै सुन बिन साया । कहैव जान वन केहि अपराधा ॥

बिरोधामास—

वहाँ पर यथार्थ में बिरोध न हो परन्तु बिरोध का आभास हो, वहाँ पर बिरोधामास अर्त्तकार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

करन कमल बंभी हरि राई ।  
जाकी कृपा पंगु पिरि लंघे बंघे को सब कुछ बरसाई ॥  
बहिरो सुने मूक पुलि बोलै रंघ बलै तिर छत्र बराई ।  
'सुरदास' स्वामी कस्नामद बार बार बबौ सेहि पाई ॥

कारणमासा—

वहाँ कारण से उत्पन्न कार्य कम्बु कारण बनता जाता है वहाँ पर प्रथम कारण माका<sup>३</sup> तथा वहाँ कार्य से उत्पन्न कारण कार्य बनता जाता है वहाँ पर द्वितीय कारण माका<sup>४</sup> अर्त्तकार होता है। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

- १ करन कबे धोरई कसू करे और ही काव ।  
यहाँ असंगति होत है कहै महाकविराज ।
- २ अहं बिरोध सो जागिय साब बिरोध न होय ।  
तहं बिरोधामास कहि बरगत हैं सबकोय ॥
- ३ कारण ते कारण प्रगधि कारण छई छई जात ।  
तेहि कारणमासा कहै वे कविवर बिद्ययात ।
- ४ कारण को कारण बुसो कारण छई छई जाय ।  
कारणमाका ताहु को कहै तफल कविराज ।

प्रथम कारणमात्रा—

यत्न से परम धर्म से जांचन सीधन से मान्य ।  
इक धर्म से ही पा सकते नर पुरन परमान्य ।

द्वितीय कारणमात्रा—

राम कृपा से परम पद कहत पुराने ज्ञेय ।  
राम कृपा है मक्ति से मक्ति माग्य तें होय ।

एकावली—

जहाँ पर किसी वर्णन को आरम्भ करके छोड़ दिया जाय और अर्थात् न भंग हो, वहाँ पर एकावली असंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सोमति तो न समा अहं बुद्ध न बुद्ध न तो बु पड़े काए नार्हीं ।  
से न पड़े जिन साधु न साबित बीहू बया न हिरे मन मांही ।  
धो न बया बु न धर्म धरे धर धर्म न सी अहं बान कृपा ही ।  
बान न सो अहं सांच न 'केसव' सांच न सो बु बरी छल छांही ॥

त्रिपय—

जहाँ पर असम्बद्ध वस्तुओं का सम्बन्ध दर्शाया जाय, वहाँ पर त्रिपय असंकार होता है । इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम त्रिपय (२) द्वितीय त्रिपय और (३) तृतीय त्रिपय ।

प्रथम त्रिपय—

जहाँ पर श्रेष्ठ वस्तुओं का वर्णन किया जाय वहाँ पर प्रथम त्रिपय असंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ प्रथम धर्मि पुनि छोड़िये जहाँ अरय की पाति ।  
अरयत एकावली कहै कवि भूपन इहू माति ।
- २ धर्मिक अतमिक वस्तु को, वर्णन है बेहि ठौर ।  
प्रथम त्रिपय तेहि कहत है सकल मुकवि तिरवीर ।

१७४ ] तमीसा के मान और हिंदी तमीसा की विद्विष्य प्रवृत्तियाँ

मे के बा मिलती करी, मान ठानि बुझ दीन ।  
कहाँ मधुर मृदु मुख कहाँ, कठिन काठ से दीन ।

द्वितीय विषय—

जहाँ कारण और कार्य में रूप वैमिश्य हो वहाँ पर द्वितीय विषय अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

श्याम धीर बोज मूरति लछिमल राम ।  
इगटे मइ सित कीरति जति अनिराम ॥

तृतीय विषय—

जहाँ सुप्रयत्न करने पर भी कुफल की प्राप्ति दिखायी जाय वहाँ पर तृतीय विषय अलंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

धीप सिंसा रंज पीन ते नून कइत भति श्याम ।  
धैत सुजत छाये जपत प्रपद भ्रान्ते श्याम ॥

सम—

जहाँ पर दो वस्तुओं की पारस्परिक एकता का वर्णन अधिकतमपूर्वक ढंग से किया जाय वहाँ पर सम अलंकार होता है ।<sup>३</sup> इसके तीन भेद होते हैं (१) प्रथम सम, (२) द्वितीय सम और (३) तृतीय सम ।

१ कारण धीरे रूप को कारण धीरे रूप ।  
विषय अलंकृत हुतरो बरनत है कवि सुप ॥

२ धीर जलो उद्यम कियो होत बुरी फल जाय ।  
साहि विषय तोबो कहत बुद्धिबंत कविराय ॥

३ जहाँ गुहन अनुकम को करिये उचित बखान ।  
सम सुपन तासों कहत नूनन सकल बखान ॥

प्रथम सम—

यहाँ जैसा सम्बन्ध हो, यदि जैसा ही बन्धित किया जाय, तो यहाँ प्रथम सम बलकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

येहि बिधि रघ्यो मोबास तैह छकुराइन राबिका ।  
रजि बख होत निहास समसरि बुहुल फितोर की ।

द्वितीय सम—

यहाँ पर कारण और कार्य की समरूपता का वर्णन किया जाय यहाँ पर द्वितीय सम बलकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मनुष्य बाह्यपन ही पयो बूब पूतना केर ।  
ताही ते बासी रबी यामें कछू न केर ॥

तृतीय सम—

यहाँ पर उद्यम से किसी कार्य का पूर्ण होना बताया जाय, यहाँ पर तृतीय सम बलकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अति अतंय पिरि पावप लीकहि लेहि अजय ।  
आनि बेहि नन नीकहि रचहि ते तेतु बनाय ॥

१. अतन्त यहाँ विद्युत् नति यथा घोष्य को अर्थ ।  
प्रथम समबलकार तैहि भावत बुद्धि अतन्त ॥
२. कारण के सम अतन्त कारण को येहि ठौर ।  
देकि अतन्त गुन क्य तहं अतन्त है 'सम' और ॥
३. ताकी सिद्धि अनिष्ट विनु, उद्यम आके अर्थ ।  
ताकी अन्त तीजो कहीं अन्तकी बुद्धि अतन्त ॥



साध—

वहाँ पर बर्ष्य विषय का निरन्तर उत्कर्ष अथवा अपकर्ष बर्धित हो वहाँ धार अलंकार होता है।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सिखा कठोरी काठ से तारों छोड़ कठोर ।  
ताड़ू से कीमूँ कठिन मन तुष मँबकिसोर ॥

यथाक्रम—

वहाँ पर क्रमानुसार किन्हीं वस्तुओं का वर्णन हो तथा फिर उची क्रम से उनसे सम्बन्धित वस्तुओं का वर्णन किया जाय वहाँ पर यथाक्रम अलंकार होता है।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जमी हुकाहूक मर घरे स्वित प्रपाम रत्तनार ।  
बिपत मरत झुकि झुकि परत केहि बितकत एक बार ॥

परिसंख्या—

किसी वस्तु को यदि किसी एक स्थान से हटाकर अन्य किसी विशेष स्थान पर रखा जाय, वहाँ पर परिसंख्या अलंकार होता है।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

केसन ही बुदिकता संचारित में संक ।  
रुखी राम के राज में हुक ससि माहि कलंक ॥

- १ अर्धन को अतर्क्य जाइ भाये भाये होत ।
- २ क्रम सों कहि गिनके अरवक्रम लों बहुदि मिसाय ।  
यथा संख्य यों कहत है भूपन के कबिराय ।
- ३ जगत मैदि कचु वस्तु अहं वरगत एकहि ठौर ।  
ताहि कहत परिसंख्य हूँ भूपन कवि बिलबीर ।

मुद्रा—

वहाँ पर किसी वस्तु के प्रस्तुत विवरण से कोई अन्य अर्थ भी व्यक्त होता है वहाँ पर मुद्रा अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

कबिकुल विद्याधर सकल कलाधर राजराज बर बंस वर ।  
मनपति सुप्रदायक पसुपति कामक घूर सहायक कौन पर ।।  
सेनापति हुबहुन ममल गुस्सन धर्मराज मम बुद्धि मनी ।  
बहु सुम मनसाकर कस्नामय धर सुरतरंगिनी सोम सनी ।।

काव्यशिल्प—

वहाँ पर समर्पण करते योग्य वस्तु का समर्पण किया जाय वहाँ पर काव्यशिल्प अलंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

धन न मोहि डर बिघन को करत कौनहु काम ।  
गननायक धीरी कलय ममो सहायकबाज ।

शल्प—

वहाँ पर अस्पृष्टता के वर्णन में अमलकारिकता का समावेश हो या वहाँ लघु आकार से भी लघु आशय का वर्णन हो, वहाँ पर अल्प अलंकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

बस जीवन की है कपि आज न मोहि ।  
कन गुरिया को मु बरी कपना मोहि ।

- १ प्रकृत अर्थ में निकटि पर औरहु नाम प्रकाश ।  
मुद्रा तासों कहत हैं कवि जन सहित तुलास ।
- २ विद्यादे को अरम है ताको करत विद्यास ।  
काव्यशिल्प तासों कहत मूयन जे कबिराज ।
- ३ अति छोटे आशय से अति छोटी आकार ।  
ताहि अल्प अर्थ कहें जे मुद्रा आकार ॥

अधिकः—

वहाँ पर आचार से आशय का या आशय से आचार की अधिकता का वर्णन किया जाय वहाँ पर अधिक अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित हैः—

तुम पुष्पति कहि मुत्रिके मीन होति यहि नाम ।

कंपन की परबो बई तुम बिन बा कहराम ।

सूक्ष्म—

वहाँ पर दूसरे के हृदय की बात जान कर उन्हीं के अनुसार शक्यों द्वारा उत्तर दिया जाय वहाँ पर सूक्ष्म अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार हैः—

बहुरि बचन बिभु अंचक झांकी । प्रिय लन धिर्त मोह करि बल्की ।

अंजन अंजु तिरीसे बँतनि । निज प्रिय कह्यो तिनहि सिव सेतनि ॥

तत्पुनः—

वहाँ पर अपने गुण का परिचय कर अन्य के गुण को स्वीकारता बताया जाता है वहाँ पर तत्पुन अर्थकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार हैः—

अबर बरत हरि के परत मीठ बीठि पर जोति ।

हरे बांस की बांसुरी, इन्ह बभ्रुव रंग होति ॥

- १ वहाँ बड़े आचार से बरतत बड़ि आशय ।  
ताहि अधिक सूक्ष्म कहत जानि सुपुनः प्रमेय ।
- २ पर के मान की जानि नत अनिप्राय लिये काब ।  
बरत ततच्छिन कहत हैं सूक्ष्म सो कबिराज ।
- ३ वहाँ आपुनो रंग तबि यहि ओर को रंग ।  
ताछो तत्पुन कहत हैं सूक्ष्म बुद्धि अंतम ।

**अतद्व्युत्पन्नः—**

वहाँ पर संगति में जाने वाली वस्तु का कोई गुण ग्रहण न करना बर्णित हो वहाँ अतद्व्युत्पन्न बर्णकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

साकं वासं मनुराय सौं रपत रीकं सत्रं नम ।  
तत्र न त्रांशुत पावरो क्व सावरो रंय ।

**पुर्वं क्व—**

वहाँ पर पहले क्व का लोप तथा फिर उसके प्राप्ति का वर्णन होता है, वहाँ पर पुर्वं क्व बर्णकार होता है ।<sup>२</sup> यह दो प्रकार का होता है (१) प्रथम पुर्वं क्व और द्वितीय पुर्वं क्व ।

**प्रथम पुर्वं क्व—**

वहाँ पर संगति से आये हुए क्व के लुप्त हो जाने पर पुर्वं क्व का प्रकट होना दिखाया जाय, वहाँ पर प्रथम पुर्वं क्व बर्णकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सकतं पीकमतिं होतं क्विं करं विद्रुमं ठहरत ।  
मुक्ता को मुक्ता बहुरि, सक्यो तोहिं मुनुकत ।।

**द्वितीय पुर्वं क्व—**

वहाँ पर वस्तु का विनाश हो जाने पर भी उसके समान गुण वाली दूसरी वस्तु से पिछली का गुण बना रहे, वहाँ पर द्वितीय पुर्वं क्व बर्णकार होता है ।<sup>४</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

- १ नहिं संयत मे जीर को गुण नहीं गहिं सेत ।  
साहिं अतद्व्युत्पन्न कहत हैं भूयनं शुक्ति मुचेत ।
- २ प्रथम क्व निदिं जातिं नहिं फिर बैतोई होइ ।  
भूयनं पुरख क्व सो कहत उपाने लोइ ।
- ३ बहुरिं सिर्कं गुण आपनों वहाँ जान के संय ।  
पुरख क्व तहाँ प्रथमं नार्यं भुयतिं जलंय ।
- ४ वस्तु विना सेह, बहुरिं तत्त्वं पीकतो होत ।  
इसी वृत्तकण सेहिं वरगतं भविष्यं गीत ।

६८० ] समोसा के माग और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

बदन बन्द की चाँदनी देह शीप की जोति ।  
राति बितेहु काल बहि, मौन राति सी होति ।

मीसित—

वहाँ पर समान गुण वाली वस्तु में मिल जाने पर कोई भी स्पष्टता से कसित न की जा सके, वहाँ पर मीसित अर्थकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

पाव पीक अबरान में लकी लकी नहिं जाय ।  
कजरारी अंजियान में कजरारी न लजाय ।

अमीसित—

वहाँ पर पहले कोई समान गुण वाली वस्तु बूझरी में मिल जाय तथा बाद में किसी प्रकार पहचानी जाय, वहाँ पर अमीसित अर्थकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है —

अबक तन अब बरन बर रह्यो रंग मिलि रंग ।  
बानी बात सुबास ही केसर जाई अंग ।

सामाग्य—

वहाँ पर दो वस्तुओं में इतनी समानता दिखानी जाय कि उनका भेद न स्पष्ट हो, वहाँ सामाग्य अर्थकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

भरत राम एक अनुहारी सहसा कबि न सके नर नारी ।  
लखन छत्रपुवन एक क्या नखधिक से सब अंग अनूपा ॥

- १ सहस्र वस्तु में मिलि जहाँ होत न नैक लछाई ।  
मीसित तासो कहत हैं मूपन के कबिराई ।
- २ सहस्र वस्तु में मिलत पुनि जागत कौनहु होत ।  
अमीसित तासो कहैं मूपन धुकधि सुबेत ।
- ३ भिन्न अंग अब सहस्र में भेद न जायो जाइ ।  
ताहि कहत सामाग्य है मूपन कबि समुबाय ।

विशेषक—

यहाँ पर दो वस्तुओं में समानता होने पर भी किसी प्रकार का भेद न दिखायी दे, यहाँ पर विशेषक अलंकार होता है ।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

मम मीहूत मममयम को हूँ कहती को जान ।  
को इगू कर कुमुन को होती जान कसाम ।

विशेषकोन्मीलित—

यहाँ पर विशेषक और उन्मीलित दोनों का योग मिले यहाँ विशेषकोन्मीलित अलंकार होता है ।<sup>२</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सति में मुझ में भेद कछु मेहु न परत लजाम ।  
दिन कलंक अब बास में सिय मुझ जानो जाय ।

प्रसन्नोत्तर—

यहाँ पर पहले कोई बात पूछी जाय और तब उसका उत्तर दिया जाय यहाँ पर प्रसन्नोत्तर अलंकार होता है ।<sup>३</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

को बताता को रत यज्ञो को अब पालन हार ।  
कवि सुपन उरार विपी तिव नृप हरि भवतार ॥

यहाँ पर प्रमुख सम्बन्धकारों एवं अर्थकारों का चरित्र किन्ना गया है । उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य अलंकारों के लक्षण एवं उदाहरण विभागों में दिये हैं परन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं । एक कवि को अधिभ्यक्ति की कला

१. निम्न रूप अर्हि सहा में लक्ष्ये कद्रुक वितेय ।  
साहि विशेषक कृत है रूपन सुपति जकेत ।
२. यहाँ विशेषकोन्मीलित है भिन्न भेदीह प्रगटे भाष ।  
सह विशेषकोन्मीलित है कृत कुकवि लमुदाय ॥
३. कोऊ वृत्ते बात कछु, कोऊ उरार देत ।  
प्रसन्नोत्तर साको कहुत नृपन मुकवि लकेत ॥

एवं प्रौढ़ता की माप करने के लिए अलंकार एक महत्वपूर्ण मान है। इसे सर्वत्र से ही भाषा में आकर्षण उत्पन्न करने का सर्वाधिक प्रभावशाली साधन माना गया है। इसके अतिरिक्त अलंकार को काव्य की एक ऐसी विशेष्य के रूप में भी मान्य किया जाता है जिसके अनुसार काव्य विशिष्ट अर्थ से युक्त शब्दों का संयोज होता है जो अलंकरण की सीसी के कारण सौन्दर्ययुक्तता प्राप्त करता है।<sup>1</sup>

प्राचीन संस्कृत भाषायों ने अलंकार शास्त्र के विकास की परम्परा को विशेष रूप से समृद्ध बनाने में योग दिया। बीसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम शास्त्री भरत मुनि ने चार अलंकार ही मुख्य स्वीकार किये हैं। क्रमशः विकास को प्राप्त होते होते इन अलंकारों की संख्या चौकड़ों तक पहुँच गयी। यह स्पष्ट ही इस बात का प्रमाण है कि अलंकार सिद्धांत को आचार्य भामहू द्वारा आरम्भ किये जाने के पश्चात् निरन्तर माग्धता मिलती रही, एवं कवियों द्वारा प्राण स्वीकार किया गया। अलंकार सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादकों में भामहू के अतिरिक्त बंसी, चण्ड, प्रतिहारेन्दुराज आदि हैं। इस सिद्धांत की प्रधानता का एक प्रमाण यह भी है कि बहुधा समीक्षा शास्त्र को अलंकार शास्त्र ही कहा जाता है। संक्षेप में, संस्कृत समीक्षा द्वारा निर्धारित प्राचीन साहित्यिक मानकों में से एक प्रमुख मान 'अलंकार' है।

### रीति सिद्धांत

रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य बामन ने किया। बामन के अतिरिक्त भी संस्कृत के अनेक साहित्य शास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में रीति की विवेचना की है। इन शास्त्रज्ञों विशेष रूप से बामन ने रीति सिद्धांत की वैज्ञानिक और शास्त्रीय व्याख्या करते हुए उसकी महत्ता की जीवन्ता की है। उन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा माना है। 'रीति' का शाब्दिक अर्थ मार्ग या पथ है।

1 *Poetry consists of a verbal composition in which a definite sense must prevail and which must be made charming by means of certain terms of expressions to which the name of Poetic figure is given* (History of Sanskrit Poetics, Vol II, S. K. Dey, Page 47)

प्राचीन युग में काव्य क्षेत्रीय वी मार्ग माने जाते थे । प्रथम वैदर्भी मार्ग एवं द्वितीय गौडीय मार्ग । इनमें से प्रथम स्वीकार्य एवं द्वितीय त्याग्य माना जाता था । वामन ने तीन रीतियाँ मानी । प्रथम वैदर्भी, द्वितीय गौडीय एवं तृतीय पाँचाशी । इन तीनों मार्गों के गुणों की सन्तुष्टि पुष्पक-पुष्पक व्याख्या की है । राजसेखर ने भी अपने 'कपूरमञ्जरी' नामक ग्रन्थ में ये ही तीन रीतियाँ मानी हैं । छट ने इन तीन रीतियों में एक चौथी रीति 'आटीया' को जोड़ दिया । भोज ने इनके जाने भी 'आवृत्ति' तथा 'मागवी' रीतियाँ मान्य कीं ।

इस प्रकार से रीतियों की संख्या तो यद्यपि छै हो गई, परन्तु इनमें से वामन द्वारा मान्य तीन रीतियों को ही अधिकोद्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत किया गया । इस प्रकार से इस रीति विदात को परवर्ती काल में व्यापक प्रसार मिला । ऐतिहासिक दृष्टि से रीति विदात का प्रवर्तन नहीं शताब्दी में किया गया यद्यपि उससे पहले भी विद्वानों को इस का ज्ञान था ।

“रीति” की व्याख्या:—

रीति का प्रयोग सर्व प्रथम वामन ने किया है । वामन ने ही सर्व प्रथम “रीति” का विश्लेषण किया । वामन के अनुसार रीति उसे कहते हैं जो काव्य छोटा कारणक बंधनार्थ वयों से युक्त पद रचना हो । वामन के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने बताया कि सम्यक पद रचना को ही रीति कहते हैं । आनन्दवर्धन के पश्चात् राजसेखर ने रीति की व्याख्या करते हुए उसे बचन विन्यास का क्रम' कहा है । कुन्तक ने रीति को कवि प्रस्ताव हेतु बताया है । भोज ने रीति का अर्थ कवि गमन मार्ग बताया है । ग्रन्थ के विचार से रीति नियत बर्ण व्यापार है । विश्वनाथ ने 'पदों की संघटना' को रीति कहा है ।<sup>१</sup>

रीति विभाजन के आसार:—

वामन ने स्वयं यह निर्दिष्ट किया है कि विविध रीतियों का नामकरण उनके विशिष्ट प्रदेशों में विशेष प्रयोगों के आधार पर किया गया है । उदाहरण के लिए वैदर्भी में वैदर्भी, गौड़ में गौडीय तथा पाँचाशी में पाँचाशी रीतियों का विशेष प्रयोग मिलता है ।

१ "बचन विन्यास क्रमो रीति"

२ "पद संघटना रीति"



परन्तु इसके साथ ही साथ बामन ने यह भी स्पष्ट रूप से बताया है कि ये रीतियाँ पूर्णतः प्रादेशिक प्रभावों से मुक्त नहीं हैं क्योंकि कोई भी काव्य शैली किसी इन्द्र के समान बलवानु विशेष की उपज नहीं होती।

अतः, मान भामह तथा बख्शी के विचारानुसार मरुपि प्रादेशिक रीति विभाजन को कभी सर्वमान्य नहीं किया गया परन्तु उनका प्रारम्भिक विभाजन विविध प्रादेशिक मामों के आधार पर ही हुआ था। कुम्भक का विचार है कि रीति का आधार कवि का स्वभाव है। अपने इसी मत के अनुसार कुम्भक ने रीतियों का विभाजन कवि स्वभावानुसार सुकुमार, विचित्र और मध्यम ही किया। इस प्रकार से उपर्युक्त भाषाओं में स प्रायः सभी ने रीति विभाजन के प्रादेशिक आधार को मुख्यता नहीं दी है।

रीति तत्त्व—

बामन ने रीति के गुणों को ही रीति के तत्त्व माना है। उन्होंने छन्द तथा वर्ण के विभाजन के अनुसार इन्हें दो वर्गों में विभक्त कर दिया है। (१) शब्द गुण तथा (२) वर्ण गुण। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध शब्द सौन्दर्य से तथा द्वितीय का वर्ण सौन्दर्य से होता है। बख्श ने रीति का मूल तत्त्व समास को माना है और लघु मध्यम तथा दीर्घ समासों के अनुसार पाँचासी, छाटीया और गौड़ीया रीतियों की व्याख्या की।

आत्मस्वर्चन के विचार प्रदाय माधुर्य तथा भोज गुण रीति के आन्तरिक तथा समास बाह्य तत्त्व हैं। राजवेकर ने समास और अनुप्रास को रीति के तत्त्व माना है। भोज का मत भी राजवेकर के समान ही है। मम्मट और विश्वनाथ के विचार से मुख स्वजनक वर्ण कुम्भक रीति तत्त्व हैं। विश्वनाथ ने बताया है कि समास वर्ण योजना और शब्द कुम्भक तीनों रीति के तत्त्व हैं।

रीति विवामक हेतु—

बामन ने रीति को स्वतन्त्र सप्तमूलक माना है। आत्मस्वर्चन ने रस को रीति का विवामक हेतु बताया है। उनके विचार से रस के साथ ही बहु बीषिय भाष्य बीषिय तथा विषय बीषिय नामक तीन और रीति निवामक हेतु होते हैं। इनमें से प्रथम को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि बला कवि या कवि निबद्ध (दो प्रकार का) हो सकता है और कवि निबद्ध (बला) भी रस भाव (आदि) से रहित बचना रस नाबलुक्त (दो प्रकार का) हो सकता है। रस भी कथा नामक मिष्ठ और उसके विरोधी (प्रति भावक, मिष्ठ (दो प्रकार का) हो सकता है। कथानामक भी बीरोचात्तादि भेद से

विभिन्न मुख्य नामक अर्थों वाले उसके 'बाह' का (उपनायक पीठमर्) हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा के अनेक विकल्प हैं।<sup>१</sup>

इसके साथ ही वाच्य औचित्य की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है "इसी प्रकार वाच्य (अर्थ भी) ध्वनि रूप (प्रधान) रस का रस्य (अभिव्यक्त) अथवा रसा भास का रस्य (अभिव्यक्त), अग्निनेयार्थ या अनभिगमार्थ उत्तम प्रकृति में अभिहित अथवा उसके मिश्र (मध्यम, अथवा) प्रकृति में अभिहित इस तरह नाना प्रकार का हो सकता है।"<sup>२</sup>

विषये औचित्य की स्पष्ट करते हुए उनका कथन है "मुक्तक पर्यायवाच्य परि कथा अर्थ अर्थों 'सकल कथा, सर्गबन्ध (महाकाव्य) अग्निनेयार्थ (रस्य) वाक्याविका 'और कथा अर्थ (कार्य के) अनेक प्रकार हैं। इनके माध्यम से भी सञ्चयना या रीति में नेचेन्ही जाया है।"<sup>३</sup>

रीति का अर्थ अर्थों से भेद—

रीति के समान कुछ अन्य कार्यांग भी प्रयुक्त होते रहे हैं। इनमें से तीन प्रमुख हैं—प्रवृत्ति वृत्ति तथा रीति।

रीति और प्रवृत्ति—

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रवृत्ति का विवेचन सर्वे प्रथम भरत ने किया। भरत के अनुसार प्रवृत्ति वह विद्येयता है जो विभिन्न वैधीय वेद्य भाषा तथा आचार का स्थापन करती है।<sup>४</sup> भरत की इस परिभाषा से रीति और प्रवृत्ति का भेद स्वयं स्पष्ट हो जाता है। रीति का सम्बन्ध केवल भाषा से ही होता है जबकि प्रवृत्ति का वेद्य तथा आचार से भी रहता है। भरत के अतिरिक्त प्रवृत्ति का विवेचन रामधर भोज तथा 'धर्मसूत्र' ने भी किया है। संक्षेप में चूंकि रीति के स्वल्प निर्धारक से पूर्व ही

१ 'हिन्दी व्याख्यान', पृ० २४४।

२ वही, पृ० २४४।

३ वही पृ० २४३।

४ प्रविष्ट्यां नामा वेद्य वेद्य भाषाचारवर्ता एवाप्यतीति प्रवृत्तिः।

प्रवृत्ति का अस्तित्व या अथ रीति प्रवर्तन में प्रवृत्ति के स्वरूप का भी प्रभाव प्रेरणा रूप में अवश्य कार्यशील रहा होगा।

**रीति और वृत्ति—**

वृत्तियों के दो रूप हैं (१) नाट्य वृत्तियाँ अर्थात् भारतीय शास्त्रीय, केंद्रीकी एवं आरभटी तथा (२) काव्य वृत्तियाँ अर्थात् उपनादिका, पद्या तथा कोमला । आत्मस्वर्धन के विचार से व्यवहार का नाम ही वृत्ति है ।<sup>१</sup> अमिनवकुप्त के अनुसार पुस्तार्थ साधक व्यापार को वृत्ति कहते हैं ।<sup>२</sup> कबूतर के मत से सर्व व्यवहार को ही वृत्तियाँ कहा जाता है । खट ने वृत्ति को समास के आश्रित माना है । परवर्ती काष्ठ में वृत्ति और रीति में कोई वैशिष्ट्य सूचक भेद नहीं रहा । बहुत से भाषाओं में उन्हें एक ही माना है, यद्यपि कुछ के विचार से वृत्ति रीति से भिन्न तथा स्वतंत्र है । खट भी इस मत के पोषक हैं । अमराज तथा मम्मट ने इन्हें एकार्थक माना है । वामन ने वृत्ति को रीति का अंग माना है ।

**रीति और शैली—**

शैली की व्याख्या विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है । 'शैली' की व्युत्पत्ति 'शील' शब्द से मानी जाती है । शील का अर्थ स्वभाव है । रीति और शैली दोनों में रूपगत कोई विशिष्ट भेद नहीं है । परन्तु शैली में व्यक्ति तत्व का महत्व अधिक होता है रीति में कम । वामन तथा आत्मस्वर्धन आदि ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है । पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में इस तत्व को भारतीय मतों के विपरीत अत्यधिक प्रधानता दी गयी है ।

**रीति के भेद—**

वामन ने रीति के तीन भेद माने हैं (१) वैदर्भी रीति (२) कौड़ीया रीति एवं (३) पांचाशी रीति ।

**वैदर्भी रीति—**

विद्वान् आदि शैलों में प्रचलित होने के कारण इसे वैदर्भी कहा जाता है । यह

१ व्यवहारों हि वृत्तिरित्युच्यते ।

२ तस्माद् व्यापार पुमर्थसाधको वृत्तिः ।

समस्त गुणों से भूषित होती है। विद्वान् प्रदेश के कवियों ने इस गुणों से अर्कहृत इस रीति को विशेष रूप से प्रयुक्त किया है। वैद्वान् रीति के तीन मूल तत्व हैं (१) मातृवर्ण्य बर्ण, (२) कठिण पर रचना तथा (३) अल्प समास।<sup>१</sup>

### पौड़ीया रीति—

पौड़ भाषि देशों में प्रचलित होने के कारण इसे पौड़ीया कहा जाता है। इसमें वैद्वान् रीति वाले गुणों का समावेश रहता है। इसके मूल तत्व हैं (१) ओज, (२) प्रकाशक बर्ण, (३) आहम्बरपूर्व बन्ध तथा (४) समासों की बहुलता। ओज और कान्ति से युक्त पौड़ीया रीति में मञ्जुता और सुकुमारता का समावेश रहता है। इसकी परावर्ती कठोर होती है।<sup>२</sup>

### पांचाली रीति—

पांचाल भाषि देशों में प्रचलित होने के कारण इसे पांचाली कहा जाता है। इसमें मञ्जुता तथा सुकुमारता का समावेश रहता है। चूंकि इसमें ओज और कान्ति नहीं होती अतः इसकी परावर्ती कोमल होती है। यह रीति श्रीहीन ही होती है। पांचाली रीति अल्प बंध पुराण शैली की अनुकृतिनी मञ्जु तथा सुकुमार होती है।<sup>३</sup>

शामन के काम्य के लिए वैद्वान् रीति को ही प्राह्य बताया है क्योंकि यह सर्व-गुण सम्पन्न है। पौड़ीय और पांचाली रीतियाँ चूंकि अल्पगुण युक्त होती हैं अतः अपसंजीव्य हैं। अतः वे रीति की जो व्याख्या की है उसका आचार निम्न है। उन्होंने रीति, जो काम्य की आत्मा नहीं माना है। उन्होंने रीति के चार भेद किये हैं (१) वैद्वान् (२) पांचाली, (३) कठिण और (४) पौड़ीय। इनमें से प्रथम को उन्होंने समास रहित द्वितीय को लघु समास बाधी, तृतीय को मध्यम समास बाधी तथा चतुर्थ को शीघ्र समास बाधी बताया है।

स्पष्ट यह वर्गीकरण शामन की भाँति गुणों पर आधारित है। राजपेक्षर तथा

१ मातृवर्ण्यबर्णो रचना कलितालिका ।

अल्पवृत्तिरवृत्तिर्वा वैद्वान् रीतिरिष्यते ॥ (साहित्य दर्पण पृ० २२६)

२ ओज प्रकाशकवर्णो बन्ध आहम्बरः पुनः समास बहुला पौड़ीया—

३ अतिसूक्ष्मरचनाया तां पुरस्कृत्यायवाधिताम् ।

मञ्जुता सुकुमारता पांचाली कवयो विदुः (काव्यालंकार सूत्रसूत्र)

भोज के विचार से बर्तनी रीति, छास हीन, पांचामी मत्स्य समास मुक्त तथा पीड़ीय बीर, समास से, मुक्त होती है। कुम्भक से रीति का वर्गीकरण प्रादेशिक विशेषताओं के आधार पर नहीं किया है। उन्नीति कवि, स्वभाव के अनुसार तीन भागों का विवेक रखते हैं, उसी के अनुसार निम्नलिखित विभाजन किया है (१) सुकुमार मार्ग, (२) विचित्र मार्ग तथा (३) मध्यम मार्ग।

#### सुकुमार मार्ग—

इसमें स्वाभाविकता पर आधारित विशेषताएँ रहती हैं। इस सुकुमार मार्ग की विशेषताएँ सरसता भावपूर्णता, नैसर्गिकता आदि हैं जिनमें बिलंबकारों का समावेश किया जाता है, वे प्राकृतिक और स्वतः जन्मते होते हैं। यह सुकुमार मार्ग सत्कविओं का मार्ग बताया गया है।

#### विचित्र मार्ग—

इसमें कालकारिकता, चामत्कारिकता तथा कलात्मकता आदि विशेषताएँ रहती हैं। यह मार्ग स्वाभाविक न होकर कृत्रिमतायुक्त है जिसमें प्रवलपूर्वक शब्दों, वर्णों तथा पदों में चमत्कार समावेशित किया जाता है।

#### मध्यम मार्ग—

इसमें प्रथम तथा द्वितीय दोनों मार्गों की विशेषताएँ सम्मिश्रित रहती हैं। यह सन्तुलित एवं समन्वित मार्ग है। इसमें न तो अतिशय स्वाभाविकता रहती है और न अतिशय कृत्रिमता बल्कि दोनों का सन्तुलित संयोजन रहता है।

विश्वनाथ ने भी रीतियाँ चार प्रकार की मानी हैं (१) बर्तनी, (२) पीड़ीय (३) पांचामी तथा (४) आटीय। उनके रीति वर्गीकरण का आधार कुल, वर्ण, संघटन एवं वृत्ति है। बर्तनी उन्नीतेन उच्च रीति को कहा है जो वृत्तिहीन वा मत्स्यवृत्ति युक्त होती है, तथा मातृवर्ण गुण की व्यवस्था करती है।<sup>१</sup> पीड़ीय रीति बहु होती है जो

१ सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान्य हेतवः ।

सुकुमारो विचित्रस्य मध्यमवयोमयात्मकः ॥ (बुद्धोक्ति जीवित्म)

२ मातृवर्णव्यवस्थाने रचना सन्नितात्मिका । आवृत्तिरव्यवृत्तिर्वा बर्तनी रीतिरिष्यते ॥

बीरः प्रकाशकैर्द्वैतैश्च आदित्यः पुनः

कोय गुण की व्यंजना करने वाले बयों से युक्त होती है तथा जिसमें छों का प्रयोग, बहुलता से होता है ।<sup>१</sup> पांचासी-रीति बहू होती है जो पांच छः समास युक्त परबन्ध, रचना होती है ।<sup>२</sup> साटीय रीति बहू होती जो बीसवीं तथा पांचासी के मध्य की होती है तथा जिसमें इन दोनों के बीच का सन्तुलित या समन्वित मार्ग ग्रहण किया गया होता है ।<sup>३</sup>

## दीप्ती

दीप्ती को विचारों का परिवान कहा जाता है । इसके दो तत्व होते हैं, (१) व्यक्ति तत्व और (२) वस्तु तत्व । इसमें से प्रायः प्रथम तत्व की ही प्राथमिकता ही जाती है । दीप्ती काव्य रचना की एक विशेषता है । इसका प्रकासन कवि के व्यक्तित्व, शब्द योजना बर्णकार निरूपण आदि के पक्षस्वरूप होता है । दीप्ती विविध कवियों की रचनाओं का विशिष्टीकरण भी करती है । दीप्ती का आधार कवि के जीवन के संस्कार होते हैं । दीप्ती का निर्धारण कवि के व्यक्तित्व बर्णन विषय एवं वातावरण आदि के द्वारा होता है ।

यों तो प्रत्येक साहित्यकार की दीप्ती में कुछ वैयक्तिक गुण होते हैं परन्तु उसमें कुछ ऐसे सामान्य तत्व भी रहते हैं जो किन्हीं बयों के अन्तर्गत आते हैं । संक्षेप में दीप्तियों के निम्नलिखित प्रमुख भेद किये जा सकते हैं (१) मरुत दीप्ती (२) मधुर दीप्ती (३) क्लिप्त दीप्ती (४) विरगट दीप्ती (५) उदार दीप्ती तथा ध्वंस्व दीप्ती । इनमें से प्रत्येक दीप्ती के लक्षण तथा उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

मरुत दीप्ती—

मरुत दीप्ती रस का निरूपण करती है । यह प्रसार गुण से युक्त होती है । इस

१ लयाम बहुला गोड़ी बर्ण देये गुनबंद्यो ॥

२ लमरत पंचपदो बन्ध पांचासिका मला ।

३ साटी तु रीतिबीसवीं पांचासोरुत्तरे स्थिता ।

१९० ] समीक्षा के भान और द्विती समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

शैली का प्रयोग वास्तविक भवसूति पुरुषोद्धार मीरा तथा मैपिली सरण गुप्त आदि ने किया है। इस शैली का एक उदाहरण इस प्रकार है—

अभी री मोहि कोउ न समुझाई ।  
 राम समग साँचो किचो सपनो उर परतोति न जाई ।  
 कनेइ रहत इन नैबनि जाने राम कखन अर सीठा ।  
 तबनि न मियत बाहू या तन को बिदि ओ मयेउ विपरीता ।  
 बुझ न रई रनुपतिहि बिलोकत तन न रई बिनु देखे ।  
 करत प्राण प्रबाध सुकठु सकि समुझि बरी यह केखे ।  
 कोठिया के बिरह अवन सुनि रोइ कठी लख रामी ।  
 तुलसिदास रघुबीर बिरह की पीर न जाति बखली ।

मधुर शैली:—

यह शैली मधुर धम्यावली से शुरू होती है। इसमें संनीवारमक कवियों द्वारा उप नागरिका वृत्ति के प्रयोग से कोमल भावनाओं को अधिकभक्ति ही जाती है। इस शैली का प्रयोग बचबैच, विद्यापति नन्ददास, बैच तथा सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने किया है। इस शैली का उदाहरण इस प्रकार है:—

कुहन का रंज कीको लखे झरुके बंसि अंजन बाब जोराई ।  
 आखिन में अकसानि बितीनि में मंजु बिलासन की मधुराई ।  
 को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लखे अंधियान सुनाई ।  
 क्यों ज्यों निहारिये मेर छूँ नैननि त्यों त्यों करी निकसै है बिकारै ।

कठिन शैली:—

इस शैली में कठोरमकता अधिक रहती है। इसमें सामकारिक कल्पना सूक्ष्म वर्णन एवं आकंकारिक भाषा का प्रयोग किया जाता है। इस शैली का प्रयोग काकि-दास बिहारी रत्नाकर तथा अयसकर “मसाब” आदि ने किया है। इस शैली के उदाहरण निम्नलिखित हैं:—

नर्मर की सुमधुर मधुर ध्वनि अति पुंजित पद्यों की किम्बदि ॥  
 भर पर बलि में अस्त्य तरंगिनि तरक रजत की धार बहा है,  
 मुहुनिमत में सखनी । किहुंइती धी बल्लत रबनी ।

विश्व धर्म—

इस धर्म में अस्पष्टता होती है। इसमें उक्ति अथवा प्रतीक रूप में किसी भावना को अभिव्यक्ति दी जाती है। इसका अर्थ पूछा जाता है। इस धर्म का प्रयोग मारुति भाष, केदार, तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी "भिराजा" आदि कवियों ने किया है। इस धर्म का उदाहरण इस प्रकार है—

कौन तम के पार ? (रे कह)  
 अखिल पद के जोत बस जय  
 पवन धन धनसार (रे कह)  
 पान्ध व्याकुल कूल उर सर,  
 कहर कर कर कमल मुख सर  
 हर्ष बलि हर स्पर्श सर, सर  
 गूँज बारबार । (रे कह)

उदात्त धर्म—

उदात्त धर्म अथवा धर्म से शुरू होती है। इसमें बीरता तथा उत्साह आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। यह उदात्त धर्म होती है। इस धर्म का प्रयोग बाबू भद्र चन्द बरदायी, भूपति तथा रामचारी सिंह "दिनकर" आदि ने किया है। इस धर्म का उदाहरण निम्नलिखित है—

सूर्यो का बीरा जोरावर आसफजम  
 अब सूर्यो कारतलक का मानहु अमाल है ।  
 सुपन भगत सूर्यो पुना में सायस्तजान,  
 पड़ति में सूर्यो त्यों नहीइन को जाल है ।  
 हेरि हेरि करि सरुहेर बीच सिंगवार  
 येरि येरि सूर्यो सब करक कराक है ।  
 भालो हय हाथी उमरकर करि लाक,  
 अबरंय करि सिवा जी की भैरत रजाल है ।

धर्म्य धर्म—

इस धर्म में कोई बात धर्म्यात्मक रूप में कही जाती है। इसी कारण से इसका वाक्यार्थ धर्म और धर्म्यात्मक मुख्य होता है। इस धर्म का प्रयोग तुलसीदास, भूरदास,



विहारी तथा निराका आदि अनेक कवियों ने किया है। इस शैली का उदाहरण इस प्रकार है—

तुलसी पंडित के 'संनय' बरी कोकिलन मीन ।  
 अब तो बंधु-कोकिल हूँ हमें सुखि है 'कोम' ॥

संक्षेप में, ऊपर कुछ प्रमुख शैलियों की उदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है। शैलियों का उपयुक्त वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म न होते हुए भी अपने आप में पूर्ण है।

### गुण

गुणों के विषय में विविध भाषायों का भिन्न दृष्टिकोण है। भरत मुनि ने गुणों की संख्या दस मानी है—(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता, (४) समाधि (५) माधुर्य, (६) ओज (७) पर सुकुमारता (८) अर्थ व्यक्त, (९) उदारता तथा (१०) कान्ति।<sup>१</sup> इसी प्रकार से दंडी ने भी काव्य गुणों की संख्या दस बतायी है जो उपर्युक्त ही हैं।<sup>२</sup>

भरत और दंडी की गुण विवरण बारम्बारों में मुख्य भव यह है कि भरत ने गुणों को मात्रवत् विधेयताएँ माना है तथा दंडी ने गुणों को मार्ग के आधार पर ग्रहण किया है। कामर ने रीति को गुण पर ही आधारित माना है।<sup>३</sup> कामर ने दंडी की अपेक्षा गुण को अधिक महत्त्व का निर्दिष्ट किया है। भरत के विचार से गुण काव्य शैली को समृद्ध करते हैं। ये गुण रस पर आभित होते हैं।

दंडी ने गुण को अलंकार का समानवर्मा माना है। उनके विचार से गुण रस पर आभित नहीं होते वैसे कि भरत ने बताया है— वरन् काव्य के स्वतंत्र अंग होते हैं। कामर के अनुसार गुणों से काव्य की कीर्ति होती है और उनके अभाव में काव्य

- १ श्लेष प्रसाद समता समाधि माधुर्योज परसुकुमार्यम् ।  
 अर्थस्य च व्यक्तिस्वारता च कान्तिस्य काव्यस्य गुणा दसैते ॥ (नाट्यशास्त्र १७।१६)
- २ श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता  
 अर्थव्यक्तिस्वारत्योज कान्तिसमाधय (काव्यादर्श १।४१)

भीड़ों को बाँटा है। मम्मट के विचार से गुण रस के धर्म हैं किन्तु रस का उत्कर्ष होता है। आनन्दबर्धन ने गुणों का काम्य का धर्म बताया है काम्यों का नहीं। जयन्नाथ ने गुणों को काम्य की प्रगढ़ शम्भु का धर्म माना है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मम्मट ने केवल तीन गुण (१) माधुर्य (२) बोध तथा (३) प्रसाद माने हैं रस नहीं क्योंकि उनका विचार है कि रस में से जनेक प्रमुख गुण इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। उन्होंने यह भी निर्दिष्ट किया है कि माधुर्य बोध तथा प्रसाद गुण रसास्वादा के समय तीन अवस्थाओं (१) श्रुति (२) शीघ्र तथा (३) प्रसन्नता द्वारा निश्चित किये जाते हैं। इनमें से प्रथम अवस्था माधुर्य समाप्तहीन अवस्था अस्य समाप्त कुछ होता है। यह चित्त को इतित करने वाले भाव से युक्त होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

शुशुभ मूरि मु मरो कु ख टवि पु जल टाई ।  
 पु जल मनु ममिन्व मेनु जगु मरति सुहाई ।  
 मुरुर ककन किकिनि करतल मरुक मुरसी ।  
 ताल मूर्य उपग खंग एकहि सुर मुरजी ।

द्वितीय गुण अवस्था में संयुक्त वर्णों का प्रयोग बहुलता से रहता है तथा इसकी व्यवस्था समान युक्त रहती है। यह दीप्तिकारक होता है। इसका उत्कर्ष प्रायः बीजस्य तथा रोह में होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जब जमु उ जय मंडमु इर्मंडासुरर्षडिनि ।  
 जय सुरलक बी रलक बीग बिड्डास बिहंडिनि ॥  
 बी तिगु म शु मरुक्ति तनि भूपन बी बी मनि ।  
 तरगा सगाथ सिबराग कहुं देहि बितय बी रागरामनि ॥

तृतीय गुण अवस्था प्रसाद से भरपूर रहती है। इसे समस्त रसों में देखा जा सकता है। यह चित्त को प्रसन्न करने वाला गुण होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जाये रही भावना बीती । प्रभु मुरति देखि तिन सीती ।  
 देखहि भूप महा रन सीरी । मनुषुं बीर रस मरे सीरी ।  
 मुरवासिन देखें होउ आता । नर भूपन सीवन मखवाता ॥

गुणों के आधार—

बैसा कि ऊपर संकेत किया गया है संस्कृत के कुछ भाषाचार्यों ने गुणों को सव्य का धर्म और कुछ ने धर्म का अर्थ माना है। उससे यह ध्वनि निकलती है कि सव्य धर्म लकार तथा धर्म धर्मलकार ही गुणों के आधार हैं। बाद में गुणों को रस का धर्म भी मान लिया गया है और उसे चित्त वृत्ति माना गया।

गुण और रीति—

वंशी के अनुसार गुण रीति का मूल तत्त्व है। वामन का भी इस सम्बन्ध में यही मत है। व्यानम्बरधर्म ने गुण और रीति की बौद्धानिक तथा विस्तृत व्याख्या की। उन्होंने गुण और रीति के सम्बन्ध एवं आधन आदि की विवेचना करते हुए लिखा है कि यदि गुण और संघटना (रीति) एक तत्त्व हैं जलवा संघटना के आधित गुण रहते हैं तो संघटना के समान गुणों का भी अनिमित्त विवरण हो जायगा। गुणों का तो विषय नियम निश्चित है। जैसे, कश्चि और विप्रसन्न शृंगार में ही माधुर्य और प्रसार का प्रकर्ष (होना) है जोर रीति और अद्भुत विषय में ही प्रभावत रहता है। माधुर्य और प्रसार रस भाव और तशामास विषयक ही होते हैं। इस प्रकार (गुणों का) विषय नियम बना हुआ है। (परन्तु) संघटना में वह विगड़ जाता है। क्योंकि शृंगार म भी धीरे-धीरे समास (रचना संघटना) पाई जाती है जोर रीतिरि रसों में भी समास सहित (रचना पाई जाती है।) इसलिए गुण न तो संघटना कम है और न संघटनाधित है।<sup>१</sup>

गण और अलंकार—

वामन ने सर्वप्रथम गुण और अलंकार के तात्त्विक भेद का स्पष्टीकरण करते हुए बताया कि काव्य शोभा के कारण धर्म गुण<sup>२</sup> तथा काव्य शोभा के अतिशय हेतु अलंकार होते हैं।<sup>३</sup> वामन ने गुणों को काव्य की शोभा के लिए आवश्यक माना है। वामन ने लिखा है कि गुण और अलंकार में पारस्परिक समानता भी है और विषमता भी। उनमें समानता यह है कि ये दोनों ही शब्द धर्म तथा अर्थ धर्म हैं। साथ ही ये दोनों काव्य का उत्कर्ष करते हैं। इनमें विषमता यह है कि गुण सव्य अर्थ के धर्म हैं, जब कि

१ द्वितीय व्याख्याकोक पृष्ठ २३३।

२ काव्य शोभाया कर्तारी धर्मा गुणा।

३ तदतिशयहेतुत्वअलंकारा-

अलंकार उनके अनित्य बर्णन गुणों से काव्य की शोभा की सृष्टि होती है जबकि अलंकार उसकी वृद्धि का साधन ही होते हैं यदि ।

मानन्दबर्णन के अनुसार जो अंगी रस के आभिन्न रूढ़ते हैं वे गुण हैं, तथा जो उसके अंग में आभिन्न रूढ़ते हैं वे अलंकार हैं । मम्मट के विचार से जो अंगी रस का उत्कर्ष करने वाले बर्णन हैं वे गुण तथा अलंकार अलंकार कहे जाते हैं । विश्वनाथ के अनुसार अलंकार अलंकार अर्थ के शोभासिद्धायी अस्थिर बर्णन हैं । गुण उनके स्थिर बर्णन होते हैं ।

### दोष

मरत ने बताया है कि दोष की स्थिति आचारमक है तथा मूल उसका विपर्यय है ।<sup>१</sup> मम्मट के अनुसार दोष काव्य के विफलता के कारण होते हैं । इसलिये काव्य में इनका परिहार होना चाहिए । उन्होंने दोषों के तीन बर्णन किये हैं (१) सामान्य दोष, (२) बाणी के दोष तथा (३) दोष के मुख्य साधन । बामन ने निर्दिष्ट किया है कि गुण के विपर्यय का नाम दोष है ।<sup>२</sup> निष्कर्षतः जिससे रस की हानि होती हो, वही दोष है । मरत मुनि ने दोषों की संख्या दस मानी है (१) सुकार्य दोष, (२) अर्थांतर दोष, (३) अर्थहीन दोष (४) निस्कार्य दोष, (५) एकार्य दोष (६) अमिमुत्तार्थ दोष (७) न्यायाद्वैत दोष, (८) विषय दोष, (९) विसम्बि दोष तथा (१०) शब्दहीन दोष ।<sup>३</sup>

मम्मट ने दोषों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है (१) सामान्य दोष, (२) बाणी दोष तथा (३) अर्थ दोष । इनमें से सामान्य दोष के अन्तर्गत उन्होंने ६ दोष नेवार्य दोष क्लिष्ट दोष अस्वार्थ दोष अपुक्तिमत् दोष तथा गूढ़ अर्थ दोष बाणी दोष के अन्तर्गत चार दोष भुक्ति दुष् दोष अर्थ दुष् दोष कल्पना गुप्त दोष तथा

१ एत एव विपर्ययता युषा काव्येषु कीर्तिता (भाट्टसाहस्र ७, १५)

२ मूल विपर्ययात्मनो दोषा-

३ त्रिगुणपर्यान्तरवर्णन निस्कार्यकार्यमिमुत्तार्थम् ।

न्यायाद्वैतं विषयं विसम्बिदशब्दभ्रुतं च वा काव्यदोषाः (भाट्टसाहस्र)

भृति कष्ट दोष एवं अन्य दोषों के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रकारह दोष—अपार्थ दोष, व्यर्थ दोष, संसृज्य दोष अपक्रम दोष शब्दहीन दोष यति भ्रष्ट दोष त्रिल्ल वृत्त दोष विसम्बि दोष, देश काष्ठ कला लोक कल्याणम विरोधी दोष तथा प्रतिज्ञा हेतु वृष्टान्त हीन दोष माने हैं ।

एही में भी दोषों की संख्या पच ही मानी है जो इस प्रकार है — (१) अपार्थ दोष (२) व्यर्थ दोष (३) एकार्थ दोष (४) संसृज्य दोष, (५) अपक्रम दोष (६) शब्दहीन दोष (७) यतिभ्रष्ट दोष, (८) त्रिल्ल वृत्त दोष (९) विसम्बि दोष तथा (१०) देश काष्ठ कला लोक कल्याणम विरोधी दोष । ग्रामर ने दोषों के चार भेद किये हैं (१) पर दोष (२) परार्थ दोष (३) बाध दोष तथा (४) बाधार्थ दोष । इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने असाधु दोष कष्ट दोष भ्राम्य दोष अप्रतीत दोष तथा अतर्क दोष द्वितीय के अन्तर्गत अर्थार्थ दोष नैयार्थ दोष तथा गुणार्थ दोष तृतीय के अन्तर्गत भिन्न वृत्ति दोष, यति भ्रष्ट दोष तथा विसम्बि दोष एवं चतुर्थ के अन्तर्गत अर्थ दोष एकार्थ दोष संबिग्न दोष अप्रयुक्त दोष, अपक्रम दोष श्लोका दोष तथा विद्या विरुद्ध दोष माने हैं । संक्षेप में ऐसा कि उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है दोष सम्बन्धी भेदों में पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों में यद्यपि कुछ अंतर मिलता है परन्तु उनके मूल तत्त्वों की दृष्टि से उनमें पर्याप्त साम्य भी है ।

ग्रामर के रीति सिद्धांत को परवर्ती युगों में कितनी मान्यता मिली यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि कितने अधिक विद्वानों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया और इस क्षेत्र में अपना योग दिया । इसका महत्त्व इससे भी स्पष्ट है कि संस्कृत-तन्त्र भाषाओं के साहित्यकारों ने रीति सिद्धांत को किंचि भीमा तक अपनाया । इस प्रकार से रीति सिद्धांत प्राचीन संस्कृत समीक्षा के पांच प्रमुख मानकों में से एक है जो जनेक दृष्टान्तों से पूर्ण तथा मान्य है ।

### वक्रोक्ति सिद्धान्त

संस्कृत साहित्य शास्त्र में वक्रोक्ति सिद्धांत का प्रवर्तन आचार्य कुन्तक द्वारा हुआ । उन्होंने ग्रामर के ध्वनि सिद्धांत का विरोध करके अपने सिद्धान्त की स्थापना की । इस सिद्धान्त के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य की धारणा है । सर्व प्रथम वक्रोक्ति का प्रयोग बाण भट्ट ने अपनी 'काव्यम्बरी' नामक कृति में किया है । ग्रामर अपने

‘काव्यालंकार’ में ब्रह्मोक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया। उन्होंने ब्रह्मोक्ति में शब्द तथा अर्थ दोनों की ब्रह्मता का अन्तर्भाव माना है।<sup>१</sup> उनके विचार से शब्द ब्रह्मता तथा अर्थ ब्रह्मता का सम्मिलित रूप ही ब्रह्मोक्ति है।<sup>२</sup>

सामान्य न ब्रह्मोक्ति का प्रयोग अतिशयोक्ति के अर्थ में किया है। उन्होंने बताया है कि ब्रह्मोक्ति शब्द अथवा अर्थ की विचित्रता ही है। उन्होंने ब्रह्मोक्ति का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया है कि ब्रह्मोक्ति के अभाव में अलंकार या काव्य अपने गुणों से हीन रह जाता है।

दही ने ब्रह्मोक्ति को वाङ्मय का नेत्र माना है। उन्होंने बताया है कि वहाँ पर वर्णन में सरलता के स्वाम पर ब्रह्मता अथवा सामकारिकता हो वहाँ पर ब्रह्मोक्ति होती है। दही ने भी ब्रह्मोक्ति को प्रायः अतिशयोक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है। उनका मत है कि शब्द सभी अलंकार इसी के माहित होत हैं। उन्होंने ब्रह्मोक्ति को काव्य के लिए अनिवार्य बताया है।

सामान्य न ब्रह्मोक्ति को अर्थालंकार माना है। उनके विचार से ब्रह्मोक्ति सामान्य अलंकार न होकर विशिष्ट अलंकार है। द्रष्टव्य ब्रह्मोक्ति को न सामान्य अलंकार माना न अर्थालंकार। उन्होंने उसे अर्थालंकार का एक नेत्र माना। उन्होंने ब्रह्मोक्ति के दो नेत्र दिये (१) काव्य ब्रह्मोक्ति और (२) अर्थ अथवा ब्रह्मोक्ति।

जागरूकवर्णन न ब्रह्मोक्ति को अर्थालंकार ही माना है। परन्तु उन्होंने इसका मर्यादित रूप ही स्वीकार्य प्रतिपादित किया है। अभिनवगुप्त ने भी ब्रह्मोक्ति को एक सामान्य अलंकार ही माना है। मम्मट न ब्रह्मोक्ति को विशिष्ट अर्थालंकार माना है। उन्होंने इसके तीन अर्थ दिये हैं (१) काव्य ब्रह्मोक्ति, (२) अर्थ अथवा ब्रह्मोक्ति तथा (३) अर्थ अथवा ब्रह्मोक्ति। इसी प्रकार से इयमक ने भी इसे एक विशिष्ट अलंकार ही माना। परबर्ती भाषायी ने भी उपयुक्त न मनों को ही विविध प्रकार से स्वीकार किया है।

ब्रह्मोक्ति के प्रकार—

कृष्णक के विचार से प्रसिद्ध कथन से निम्न वर्णन देवी को ही ब्रह्मोक्ति कहा

१ काव्यमिषेयशास्त्रोक्तिरिष्यावाक्यामलंकारि (काव्यालंकार १।६)

२ वाचा ब्रह्मार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय काव्यते (वही, २।६)

जाता है। कुन्तक ने बताया है कि यह वर्णन हींसी लोक व्यवहार से निम्न रखी है। उनके विचार से काव्य हींसी तथा लोक व्यवहार की हींसी का अन्तर मर्यादित तथा स्वाभाविक है। कुन्तक ने ब्रह्मा में ही काव्य सीमार्थ की निहिति मानी है और इन्हें एक ब्रह्मे का पर्याय स्वीकार किया है। उनके विचार से ब्रह्मोक्ति के छे मूक भेद हैं (१) वर्ण विन्यास ब्रह्मा (२) पदपूर्वार्थ ब्रह्मा (३) परपरार्थ ब्रह्मा (४) वाक्य ब्रह्मा (५) प्रकरण ब्रह्मा तथा (६) प्रबन्ध ब्रह्मा।<sup>१</sup>

वर्ण विन्यास ब्रह्मा —

कुन्तक के अनुसार वर्ण विन्यास ब्रह्मा छे कहते हैं जिसमें एक या अधिक वर्ण को थोड़ा अन्तर देकर इसी प्रकार से प्रमित किया जाता है।<sup>२</sup> कुन्तक ने इस वर्णो विन्यास ब्रह्मा के छे भेद किये हैं (१) वर्णान्त से युक्त स्पर्श। ककार से सेकर मकार पर्यन्त वर्ण के वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। इनके अन्त के ककार आदि के साथ संयोग जिनका ह्ये वे वर्णान्त योगी हैं। इनकी पुन पुन आवृत्ति वर्ण विन्यास ब्रह्मा का प्रथम प्रकार है। तलमाधय अर्थात् तकार ककार और नकार आदि भिन्नक वर्णो ज्युत्व रूप में दो बार उच्चारित होकर वहाँ बार बार निबद्ध हो वहाँ ब्रह्म प्रकार है। इन दोनों से निम्न सेप व्यंजन सङ्कट वर्ण एक आदि से संयुक्त रूप में वहाँ सिद्ध हो, वहाँ तीसरा प्रकार है। इन सभी भेदों में पुन-पुन निबद्ध व्यंजन बोद्धे अन्तर वाले अर्थात् परिमित व्यवधान वाले होने चाहिए यह सबके साथ सम्बद्ध है।<sup>३</sup>

इस प्रकार से, कुन्तक ने काव्य का प्रथम आधार वर्णों को ही माना है। वर्ण विन्यास ब्रह्मा के अन्तर्गत विभिन्न शब्दाङ्कारों विभिन्न वृत्तियों एवं विभिन्न लय नुक्तों की पनना की जाती है। कुन्तक ने बताया है कि वर्ण योजना आदि विषय को अर्द्धकृत रूप में अभिव्यक्त कर सकैगी तभी वह चमत्कारयुक्त भी होगी।

१ वर्णविन्यास ब्रह्मत्वं परे पूर्वार्थं ब्रह्मा । यजतायाः परोप्यमित प्रकारः प्रथमाधयः ॥  
वाक्यस्य ब्रह्मभावोऽप्यो मिथ्यते यः सहजभा । यत्रालंकारवर्णोऽपि सर्वोप्यन्तर्धविप्यति ॥  
ब्रह्मभावतः प्रकरणं प्रबन्धे वापि याह्यः । लप्यते लह्यताह्वार्यं (श्रीकुमार्यं नलोहर) ॥

२ एकी द्वो बहुषो वर्णाः सध्ममाता पुन पुन ।

स्वस्यान्तरास्मिन्ना लोत्तय वर्ण विन्यास ब्रह्मा ॥ (ब्रह्मोक्तिप्रदीपितम्)

३ हिन्दो ब्रह्मोमित औचित ।

परपूर्वार्थ ब्रह्मा:—

परपूर्वार्थ ब्रह्मा का आशय मूल शब्द की ब्रह्मा है। इसके दस रूप हैं (१) रुद्रि वैश्विभ्य ब्रह्मा, (२) पर्यायब्रह्मा (३) उपचार ब्रह्मा, (४) विशेषक ब्रह्मा (५) संवृति ब्रह्मा (६) प्रथम ब्रह्मा (७) वृत्ति ब्रह्मा (८) भाववैश्विभ्य ब्रह्मा (९) किम वैश्विभ्य ब्रह्मा तथा (१०) क्रिय ब्रह्मा।

रुद्रिवैश्विभ्य ब्रह्मा:—

इसमें रुद्रि वा परम्परा का वैश्विभ्य होता है। जहाँ पर अर्धमात्र्य अर्थ का भावोप होता है वहाँ भी रुद्रि वैश्विभ्य ब्रह्मा होती है क्योंकि इससे एक प्रकार के लोकोत्तर अर्थकार की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ:—

(क) परनिमुता वीरज परपो समय फसमय विचारि।

(ख) तव ही पुन सोमा कर्हि सहुदव जर्वाहि सराहि।

कमल कमल हूँ तर्वाहि जब रचिकर सौँ बिकसाहि॥

(ग) सीता हरब ताठ जनि कहहु पिता सब जाइ।

जो मैं राम सो कुल सहित कहुहि बसतन जाइ॥

पर्यायब्रह्मा:—

पर्याय पर आश्रित ब्रह्मा पर्याय ब्रह्मा कही जाती है। इसमें किसी एक शब्द के ऐसे पर्याय का प्रयोग किया जाता है जो अर्थकार की सृष्टि करता है या अर्धमात्र्य अर्थ की बुझना देता है। कुत्तर के अनुसार 'जो वाक्य का अन्तरगत उसके अतिशय का पोषक, सुन्दर घोभास्त्र के स्पर्श से उस वाक्यार्थ को सुसोमित करने में समर्थ है स्वयं (विना विशेषक के) अथवा विशेषक के योग से भी अर्थने सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर है और जो अर्धमात्र्य अर्थ के आधार रूप से भी वाक्य होता है, जो अर्थकार से संस्कृत होने अथवा अर्थकार का घोभावाक्य होने से मनोहर रचना से युक्त है ऐसे पर्याय अर्थात् संज्ञा शब्द (के प्रयोग) से परमोत्कृष्ट पर्याय ब्रह्मा होती है।' इतने उदाहरण इस प्रकार हैं:—



(क) एक कनक एक कामिनी पुष्यम घाटी होय ।

(ख) अक्षता जीबन हाय तुम्हारी यही कहानी  
भाँचक में है ब्रूम और बीरों में पानी ।

उपचार ब्रह्मा—

वहाँ किसी वस्तु के साथ किसी मिस वस्तु का अभेद बताया जाता है, वहाँ पर उपचार ब्रह्मा होती है। इसके अनेक भेद होते हैं जैसे बमूर्त पर मूर्त का आरोप अचेतन पर चेतन का आरोप क्यक आदि बलकारों की मूक आधार उपचार ब्रह्मा आदि। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

सींगुर के स्वर का प्रचार तीर केवल प्रसाप्ति को रहा चीर ।  
सम्प्रा प्रसाप्ति को कर गंभीर ।  
इस महासाप्ति का उर उबार, बिर जाकांता की तीम्न पार  
ज्यों बैच रही हो आर पार ।

विशेषणब्रह्मा—

वहाँ पर विशेषण के विद्विष्ट प्रयोग के कारण कारक वा क्रिया में कमत्कार घृष्टि होती है वहाँ पर विशेषण ब्रह्मा होती है।<sup>१</sup> इसका उदाहरण इस प्रकार है—

संज्ञकित ज्योत्सना सी बुपचाप अङ्कित पर नमित पक्षक बुम पात,  
पास अब आ न सकीमी प्राण मधुरता में सी मरी अजान ॥

वृत्ति ब्रह्मा—

वहाँ पर किसी सर्वनाम आदि के द्वारा किसी वस्तु को छिया कर कमत्कार की घृष्टि की जाती है वहाँ पर वृत्ति ब्रह्मा होती है। इसके उदाहरण इस प्रकार है—

अभियारे बीरय नयन किटी न सधनि समान ।  
बहु चित्तचनि बीरे कसू बैहि बस होत मुजान ॥

१ विशेषणस्य साहसन्वात् क्रियाय कारकस्य वा ।  
ज्योत्सकित साधन्य सा विशेषण ब्रह्मा ॥

प्रत्यय ब्रह्मता—

जहाँ पर प्रत्यय से किसी वस्तु में ब्रह्मकार सृष्टि होती है वहाँ पर प्रत्यय ब्रह्मता होती है । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

सोने के डूँडों सी रूप यह सबम्बर की  
 उल्ल साधन में भी उतरती होगी,  
 सीपी के डालों पर केसर की बहरी सी  
 पोरे कर्मों पर किसली होगी बिन आहुत  
 बबराहुत बन बन डली होगी जनों में ।

सिद्धवैचित्र्य ब्रह्मता —

जहाँ पर सिद्ध विषयक प्रयोगों में ब्रह्मकार की सृष्टि हो, वहाँ पर सिद्धवैचित्र्य ब्रह्मता होती है । इसके कई उदाहरण हैं, जैसे भिन्न भिन्न सिद्धों का समानाधिकरण स्वी किय का प्रयोग विधिष्ठ सिद्ध का प्रयोग आदि । सिद्धवैचित्र्य ब्रह्मता के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

तुम कबराधि हो हीन विद्या ।  
 तुम धीमि सुन्दर तुम कमल कली ।  
 तुम ही मुलाक का कूल हमारे उर पदचन में रहो छिली ।

क्रियावैचित्र्य ब्रह्मता—

जहाँ पर क्रिया का प्रयोग ब्रह्मकारपूर्वक रूप से किया जाय वहाँ पर क्रिया वैचित्र्य ब्रह्मता होती है । इसके कई उदाहरण हैं, उदाहरणार्थ क्रिया का कर्ता अविद्य हो । जहाँ पर क्रिया से किसी कर्ता की विचित्रता सूचित हो वहाँ पर क्रिया का ब्रह्मकार विषेयक पर आधारित हो, वहाँ पर क्रिया का अनेक रूपों में उपचार हो तथा वहाँ पर क्रिया के कर्म संवरण द्वारा ब्रह्मकार हो आदि । क्रिया वैचित्र्य ब्रह्मता के उदाहरण इस प्रकार हैं:—

बतरत कालक काल की, मुरली धरी लकाय ।  
 सौह करे मोहन होने देन कहूँ नहि जाय ।

### पदपरार्थ ब्रह्मा

पदपरार्थब्रह्मा में पदों के उत्तरार्थ में प्रकट हुई विचित्रता के क्लेश होते हैं। इसके छे भेद होते हैं (१) कालबैचित्र्य ब्रह्मा (२) कारण ब्रह्मा (३) संख्या ब्रह्मा (४) पुरुष ब्रह्मा (५) उपग्रह ब्रह्मा तथा (६) प्रत्यय ब्रह्मा।

#### काल बैचित्र्य ब्रह्मा—

जहाँ पर काल के प्रयोग पर ही बैचित्र्य निर्भर करता हो जहाँ पर काल बैचित्र्य ब्रह्मा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

जा बल कीगुहे बिहार अनेकन ता बल काँकारी बैठि सुम्यो करै ।  
जा रसना सों करी बहु बालन ता रसना सों खरिज सुम्यो करै ।  
जासम खोन से कू बन में करी केकि तहाँ अब सोस सुम्यो करै ।  
जागन में जो सबा रहते तिनकी अब जान कहानी सुम्यो करै ॥

#### कारण ब्रह्मा—

जहाँ पर कर्ता को कर्म या कारण का रूप और कर्म या कारण को कर्ता का रूप देकर अमलकार की सृष्टि की जाय जहाँ पर कारण बैचित्र्य ब्रह्मा होती है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

कोमल अंबल ने पोछा मेरी मीठी बाँधों को ।  
बागु उड़ा से पाई कहीं रंगीन मुहुल पाँधों को ॥

#### संख्या ब्रह्मा—

संख्या ब्रह्मा को बचन ब्रह्मा भी कहते हैं। जहाँ पर बचन का विपर्यास करके अमलकार की सृष्टि की जाय जहाँ पर संख्या ब्रह्मा होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

अननित ब्रह्मा की रंग पाग उठ जाई ।  
ऐसी मुसकान कि जैसे बाँधनियाँ छिप्यीं ।  
सरत मूर्धों को छूती मादक पुरवाई ॥

पुरुष ब्रह्मा—

जहाँ पर उत्तम या मध्यम पुरुष का प्रतिफल प्रयोग करके ब्रह्मकार काया काय  
जहाँ पर पुरुष ब्रह्मा होती है । पुरुष ब्रह्मा का उदाहरण इस प्रकार है—

करके व्याप्त आत्मा इस जगत् का निरूपण मे प्रस्तुतकामे ।  
कूल उठे हैं कमल जलर से ये शेषक सुहाये ॥

उपग्रह ब्रह्मा—

जहाँ पर काव्य में ब्रह्मकार सृष्टि के द्विण आत्मनैपद या परस्मैपद वातु का  
प्रयोग हो, जहाँ पर उपग्रह ब्रह्मा होती है । इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

हीं तो याही शीघ्र में विचारत ही रही की ।  
काहे बर्षन हाथ ते न छिन बिसरत है ।

प्रत्यय ब्रह्मा —

जहाँ पर विविध प्रत्ययों के प्रयोग से काव्य में ब्रह्मकार की सृष्टि की काय  
जहाँ पर प्रत्यय ब्रह्मा होती है । इसके उपसर्ग ब्रह्मा तथा नियात ब्रह्मा को भेद भी  
माने गये हैं । इसका उदाहरण इस प्रकार है—

पिय सौं कहेहु संवेद्यका हे मौरा हे काग ।  
बह बनि बिरही बरि मुई तेहिछ भुआ हम लाग ॥

वाक्य ब्रह्मा

वाक्य ब्रह्मा उसे कहते हैं जिसमें किसी वस्तु की उत्कर्षता का केवल शब्दों  
द्वारा वर्णन हो । इसके दो भेद बताये गये हैं—सहजा तथा आहार्य ।<sup>१</sup> कृत्स्न का यह

१ "सेवा सहजाहार्यभेदमिहा वर्णनीयस्य वस्तुनी द्वि प्रकारस्य ब्रह्मा ।"

वर्गीकरण उनके वाक्य विषयक दृष्टिकोण पर आधारित है। वाक्य ब्रह्मा के अन्तर्गत मुख्यतः दो प्रकार के वर्णन आते हैं। प्रथम प्रकार के वर्णन स्वाभाविकता युक्त होते हैं एक द्वितीय प्रकार के कवि प्रतिभा से उत्पन्न विकसलतायुक्त। यह वाक्य ब्रह्मा गुण तथा अर्थकार आदि से भिन्न होती है।

कृत्तिक ने बताया है कि काव्य के विषय सहज और आहार्य दो के होते हुए भी उत्कर्षयुक्त होते हैं। कवि अपनी स्वेच्छा से काव्य के विषय का चयन करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसके स्वाभाविक धर्मों की उल्लेख करे। कृत्तिक ने वर्म विषयों की सूक्ष्म और विस्तृत विवेचना करते हुए बताया है कि कवि अपनी प्रतिभा से सहज विषयों में आत्मकारिका का समावेश करने में सफल होता है।

सहज और आहार्य के अतिरिक्त कृत्तिक ने काव्य विषयों के दो और भेद अंतर्गत एवं अचेतन भी किये हैं। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने प्रधान और अप्रधान दो और भेद किये हैं। प्रधान में वैद्यता मनुष्य आदि को तथा अप्रधान में पशु पक्षी आदि को रखा है। द्वितीय अथवा अचेतन के अन्तर्गत उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों को रखा है। उन्होंने इनमें से प्रत्येक की मर्यादा का निर्धारण करते हुए काव्य में इनकी उपयोगिता निश्चित की है।

### प्रकरण ब्रह्मा

प्रकरण ब्रह्मा का सम्बन्ध किसी प्रसंग विषय के अधिार्य को अधिक प्रभाव युक्त बनाने से है। कृत्तिक के विचार से 'वहाँ अपने अनिश्चय को अनिश्चय करने वाली और अपरिमित संसाह के व्यापार से सोमायमान व्यवहर्ताओं (कवियों) की प्रवृत्ति होती है वहाँ और प्रारम्भ से ही निर्वाक रूप से उठने या उठाने की इच्छा होने पर (अर्थात् वहाँ प्रारम्भ से ही निर्गम होकर अपने अथवा अपनी रचना को उठाने की अर्थम्भ इच्छा हो, वहाँ) वह प्रकरण ब्रह्मा निस्सीम होकर प्रकाशित हो उठती है।'

कृत्तिक ने प्रकरण ब्रह्मा के ली भेद बताये हैं। प्रथम प्रकरण ब्रह्मा वहाँ पर होती

है जहाँ पर किसी बाबपूर्व स्थिति की उद्भावना से पाशों का आधिभिक उत्कर्ष होता हो, द्वितीय प्रकरण ब्रह्मा जहाँ पर होती है जहाँ कवि किसी काव्य प्रसंग में कल्पना की गभीरता और मौलिकता द्वारा विशेष समीक्षा से जाता है तृतीय प्रकरण ब्रह्मा जहाँ पर होती है जहाँ पर कवि किसी ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा करके उसी प्रसंग में कोई सामकारिक तत्व समावेशित किया जाय अतुर्ष प्रकरण ब्रह्मा जहाँ पर होती है, जहाँ पर किसी प्रबन्ध की वस्तु योजना एवं प्रकरण विभाजन का समुत्सह इतना सुन्दर होता है कि वे एक दूसरे के उपकारक उपकार्य का कार्य करते हैं। पंचम प्रकरण ब्रह्मा जहाँ पर होती है, जहाँ पर किसी सामान्य प्रसंग का अतिरंजित एवं विस्तार मुक्त वर्णन होता है, षष्ठ प्रकरण ब्रह्मा उस स्थान पर होती है जहाँ पर कवि अपने काव्य में किसी स्पष्ट विशेष पर किसी प्रसंग विशेष की कल्पना करके उसकी सीम्हर्म वृद्धि करता है अष्टम प्रकरण ब्रह्मा जहाँ होती है जहाँ कवि अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी धीन प्रसंग की कल्पना करता है।

### प्रबन्ध ब्रह्मा

प्रबन्ध ब्रह्मा नाटक तथा प्रबन्ध काव्य में ही मिलती है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण प्रबन्ध से होता है। विविध ब्रह्माओं में प्रबन्ध ब्रह्मा ही सर्वाधिक विस्तृत क्षेत्रीय होती है। इसके भी अनेक भेद हैं। प्रथम ब्रह्मा जहाँ होती है जहाँ पर कवि किसी ऐतिहासिक विवरण में इस प्रकार से गभीर कल्पना तत्व की समावेशित करता है जिससे प्रबन्ध की सोना एक धान्य में बद्धि होती है। द्वितीय प्रबन्ध ब्रह्मा जहाँ होती है जहाँ कवि ऐतिहासिक बहू कथानक के केवल उस अंश को अपने प्रबन्ध का विषय बनाता है, जो सर्वाधिक रोचक और सरल होता है। तृतीय प्रबन्ध ब्रह्मा जहाँ पर होती है जहाँ कवि अपने प्रबन्ध में एक मुख्य ध्येय को सामने रखकर उसका आरम्भ करता है परन्तु ज्यों ज्यों वह पतिष्ठील होता है, त्यों त्यों उसका प्रबन्ध पाद के महान् व्यक्तित्व के फलस्वरूप अन्य बहू ध्येयों की भी पूर्ति होती चलती है। अतुर्ष प्रबन्ध ब्रह्मा जहाँ पर होती है जहाँ पर कवि अपने प्रबन्ध का सामकार्य किसी विविष्ट प्रतीक या घटना विशेष के आधार पर रखकर उसके सीम्हर्म की वृद्धि करता है। पंचम प्रबन्ध ब्रह्मा जहाँ पर होती है जहाँ पर कवि किसी ऐसे प्रबन्ध और प्रचलित कथानक को अपने प्रबन्ध का विषय बनाता है। जिस पर अन्य अनेक कवि काव्य रचना कर चुके हों परन्तु अपनी मौलिक दृष्टि द्वारा उसे एक गभीर स्वरूप प्रदान करता है।

इस प्रकार से बक्रोक्ति सिद्धान्त काव्य में समानेष्टित सामकारिक तत्त्वों को निरूपित करने वाला सिद्धान्त है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह एक जति व्यापक सिद्धान्त है जिसका क्षेत्र विस्तार काव्य के संतुलन अंग से लेकर महानतम स्वरूप तक है। कुम्भक द्वारा प्रतिपादित यह काव्य सिद्धान्त सम्पूर्ण काव्य सीढियों का निरूपक है। कुम्भक ने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रमुख सिद्धांतों का परीक्षण करने के पश्चात् उनकी एकां पित्तियों का बहिष्कार करते हुए इस सिद्धांत का प्रवर्तन किया। इसी कारण परवर्ती आचार्यों पर कुम्भक के इस विशिष्ट सिद्धांत का व्यापक प्रभाव पड़ा और उन्होंने इसके प्रेरणा ग्रहण की।

भारतीय काव्य शास्त्र के इतिहास को देखने से इस तथ्य का पता चलता है कि बक्रोक्ति के समान व्यापक मार्गों से युक्त काव्य सिद्धांत अल्प नहीं है। यह तथ्य भी इसे सिद्धांत की महत्ता और व्यापकता का परिचायक है। संक्षेप में काव्य में साम कारिक तत्त्वों के विश्लेषण और सूक्ष्म परीक्षण की दृष्टि से यह एक सर्वांगीण मान्य है।

### ध्वनि सिद्धान्त

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा 'ध्वनि' है। इसके प्रमुख प्रवर्तक आत्मदर्शन हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में इस सिद्धांत का विशदता से प्रतिपादन किया है। ध्वनि सिद्धांत के विचार से ध्वनि काव्य ही सर्वोच्च कोटि का काव्य है। ध्वनि सिद्धांत की प्रमुख विशेषता इसका क्षेत्र विस्तार है। ध्वनि सिद्धांत को इस दृष्टि से एक सम्पूर्ण काव्य सिद्धांत कहा जा सकता है। इसमें काव्यालोचन विषयक सभी सिद्धांतों का तत्त्वमत् समानेष्टित मिलता है।

ध्वनि काव्य को स्पष्टतम बताते हुए ध्वनि सिद्धांतियों ने गुणीयुत ध्वन्य को मध्यम एवं ध्वन्यहीन को अधःष्ठ काव्य प्रतिपादित किया। ध्वनि काव्य वह काव्य बताया गया है जिसमें अर्थ तथा अर्थ अपने वास्तविक स्वरूप को न प्रकट करके उस अर्थ को प्रकट करते हैं जो काव्य का परम रहस्य है। चूंकि ध्वनि का अर्थ विभिन्न प्रकार के अर्थों—वाच्यार्थ, ध्वन्यार्थ आदि से है अतः इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के पूर्व अर्थ शक्ति की परिचयात्मक व्याख्या आवश्यक है।

शब्द

शास्त्र में जो वाक्य है, उसी को शब्द कहा गया है। भारतीय मनीषियों ने शब्द को 'आकाश तत्व का पुत्र माना है। किसी शब्द के उच्चारण से आकाश में धारों और झर्रों फैलने से वह शब्द स्थापित होता है जैसे कदम्ब का मुकुट सभी ओर से विकसित होता है, एवं अक्ष की तरंगें सभी ओर बढ़कर होती हैं।<sup>१</sup>

शब्द के चार प्रकार प्रकृति प्रत्यय, निमित्त तथा उपसर्ग माने गये हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसके अन्तिम भेद को न मानकर केवल तीन ही भेदों को मान्यता दी है।<sup>२</sup> इनमें से प्रथम भेद के अनुसार उद्ये अपने द्वारा यच्छिद्य किसी अर्थ की अभिव्यक्ति कराना चाहिए।<sup>३</sup> द्वितीय भेद वह शब्द होता है जो स्वतंत्र रूप से किसी अर्थ की व्यव्यक्ति कराने की क्षमता से रहित होता है एवं किसी अन्य शब्द की युक्तता से ही अभिव्यक्ति कर सकता है।<sup>४</sup> इसके चार भेद सप्तिह, कर्बत तथा तथित् बढाये गये हैं। तृतीय भेद के अनुसार शब्द प्रत्येक शब्द के साथ सम्बद्ध होकर अपनी अभिव्यक्ति नहीं करा पाता है।<sup>५</sup> परन्तु कोई भी शब्द किसी वाक्य में प्रयोग किये जाने से ही सम्यक् रूप से अर्थ बोध कर सकता है।<sup>६</sup>

- १ सव शब्दो नमोवृत्ति भोभोत्वप्रस्तु मुह्यते ॥  
 बीबी तरंग म्याप्येन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।  
 कदम्बपोककम्यादानुत्पत्ति कस्माभिम्यते ॥ (कारिकावली १६३, ६९)
- २ प्रकृति प्रत्ययश्चोति निमित्तश्चेति स विद्या ।  
 ( दाम्बसक्ति प्र० कारिका ६ पृ० २९ )
- ३ स्तोत्रस्वाप्यपरास्य बोधने यत्न निश्चय ।  
 तत्त्वेन हेतुरन्वा प्रकृति सा तर्बिका ॥ (वही पृ० ५१)
- ४ इतरत्ननिश्चितो स्वार्थो बोधनात्मक ।  
 तिङ्कार्थस्य निमित्तानुमः स वा प्रत्यय उच्यते ॥  
 (वही ११, पृ० ३३)
- ५ स्वार्थं प्राधान्यतर्बस्य तादात्म्येनान्बवात्मक ।  
 (वही ११ पृष्ठ ३३)
- ६ वाक्य वाचनवाप्तस्य स्वार्थकर्यावबोधत ।  
 तन्पद्यते शब्दबोधो न तन्वाचस्य बोधत ॥ (वही १२, पृ० ३५)



### शब्द शक्तियाँ

किसी शब्द से उसका जो अर्थ व्यक्त होता है, उसे प्रकाशित करने वाली शक्ति को शब्द शक्ति कहते हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण शब्द का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है। ये शक्तियाँ किसी शब्द के उल्लिखित होने पर मनुष्य के हृदय पर उसका पूर्ण प्रभाव डालती हैं। यह प्रभाव मुख्यतः किसी शब्द के अर्थ से सम्बन्ध रखता है। यह अर्थ शक्ति के कारण ही अपना प्रभाव भवण करने वालों पर डालता है।

शब्द शक्ति को शब्द तथा अर्थ का अर्थ सूचित करने वाला सम्बन्ध कहा जा सकता है। इसे शब्द का अर्थगत व्यापार भी कहा जाता है। शब्द शक्तियों के तीन भेद माने गये हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा तथा (३) व्यञ्जना। इन्हीं तीनों शब्द शक्तियों के सम्बन्ध से तीन प्रकार के शब्द भी बटायें गये हैं। (१) वाचक (२) लक्षक तथा (३) व्यञ्जक तथा तीन ही प्रकार के अर्थ भी (१) वाच्यार्थ (२) लक्ष्यार्थ तथा (३) व्यञ्ज्यार्थ। संस्कृत काव्यशास्त्र में उपर्युक्त आम्बिक भेदों शब्दार्थों तथा शब्द शक्तियों का बहुत सूक्ष्म विस्तारयुक्त एवं शास्त्रीय विवेचन करते हुए उनके भेदों प्रभेदों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

### अभिधा

वित्त शब्द शक्ति क इाप चासात् संकेतित अर्थ की अवगति होती है उस अभिधा<sup>१</sup> कहते हैं। अभिधा के युक्त शब्द को वाचक कहा जाता है।<sup>२</sup> अभिधा को मुख्य या अभिधा भी कहा जाता है क्योंकि उससे मुख्य या अहित अर्थ की प्रतीति

- १ कविचर शेष ने अभिधा को ही मुख्य शब्द शक्ति प्रतिपादित करते हुए कहा है—  
अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणातीत ।  
अथवा व्यञ्जना रस विरस उल्लेखी तथील ॥
- २ 'साक्षात्संकेतितं योर्धननिर्दिष्टं च वाचक । ( काव्य-प्रकाश ८ वृ० ३९ )

होती है। जो शब्द इस शास्त्रात् संकेतित अर्थ की अवगति कराता है उसे वाचक कहा जाता है। इसी प्रकार से वाचक से उत्पन्न होने वाले प्रमुख अर्थ को वाच्यार्थ कहा जाता है। अभिप्राय से मुख्यतः तीन प्रकार के वाचक शब्दों की अर्थ प्रतीति होती है— (१) ऋक अथवा समूह शक्ति बोधक (२) यौगिक अथवा अर्थ शक्ति बोधक तथा (३) योगस्य अथवा समूहाय शक्ति बोधक। इनमें से प्रथम कोटि के अर्थात् ऋक शब्द माने जाते हैं जिनकी कोई व्युत्पत्ति नहीं होती या प्रकृत प्रत्यय रूप अवयवों का कोई अर्थ नहीं होता, उदाहरणार्थ पेड़, पौधा, चोड़ा तथा पशु आदि।

द्वितीय कोटि के अर्थात् यौगिक शब्द माने जाते हैं जिनकी व्युत्पत्ति समझ होती है या जिनमें प्रकृति तथा प्रत्यय का संयोग होकर अवयव अर्थ युक्त समुदाय का अर्थ की अवगति होती है उदाहरणार्थ—भूपति, वाग्धान् उद्वीची पशुतुल्य आदि। तृतीय कोटि के अर्थात् योगस्य के अर्थ होते हैं, जो यौगिक शब्दों की तरह अवयव अर्थ से युक्त होते हुए भी किसी विशेष अर्थ की अवगति कराते हैं। उदाहरणार्थ—पगनायक, अन्नकर पशुपति आदि। वाचक शब्द से जो संकेतित अर्थ व्यक्त होते हैं वे चार प्रकार के बताये गये हैं (१) वाचि रूप अर्थ (२) गुण रूप अर्थ, (३) क्रिया रूप अर्थ एवं (४) यद् दृष्टता रूप अर्थ। ये चारों क्रमशः वाचिवाचक शब्दों, गुण वाचक शब्दों, क्रिया वाचक शब्दों तथा द्रव्य आदि का बोध कराते हैं।

### लक्षणा

जहाँ पर प्रधान अर्थ में बाधा होने पर कड़ि की सहायता से प्रधान अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला कोई अन्य अर्थ संकेतित हो, वहाँ पर लक्षणाशक्ति कार्यशील होती है।<sup>१</sup> इसी प्रकार से जिस शब्द से अस्मत्ता के द्वारा प्रधान अर्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त होता है उसे लक्षक एवं असक द्वारा लक्षित अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। इस प्रकार से लक्षणा के तीन प्रमुख तत्व हैं। (१) मुख्य अर्थ की बाधा (२) वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्धित होना तथा (३) कड़ि एवं प्रयोजन।

१ मुख्यार्थबाधे तद्भ्रुतो धवाग्योर्थः प्रतीयते ।

कड़े प्रयोजनार्थात्तो लक्षणा शक्तिरविता ॥ (साहित्यदर्पण परि० ९, पृ ४८)

मुख्यार्थ की भाषा वहाँ होती है वहाँ बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष विरोध हो एवं वक्ता द्वारा इच्छित अर्थ बोधगम्य न हो सके। परन्तु इस स्थिति में भी रुढ़ि अथवा प्रयोजन से कोई ऐसा अर्थ व्युत्पन्न हो जिसका सम्बन्ध बाह्यार्थ से हो। उदाहरण के लिए 'वह बिलकुल भीरु है।' इसमें भीरु के मुख्यार्थ की भाषा है परन्तु प्रयोजन से यहाँ यह अर्थ निकल सकता है कि वह वीरु के समान कायर है। बाह्यार्थ से अर्थार्थ का सम्बन्ध होना इस प्रकार से होता जैसे गीरु के मुख्यार्थ से गीरु के समान मनुष्य का गीरुपन और इन दोनों तत्त्वों के साथ रुढ़ि अथवा प्रयोजन का तत्त्व भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए किसी मनुष्य को कायर होने पर वीरु कहने की परम्परा कल्पना के जो सूक्ष्म और विस्तृत भेद प्रभेद किये गये हैं उनके मूळ में व्युत्पन्न तीन प्रधान तत्त्व ही हैं।

### लक्षणा के भेद

रुढ़ि तथा प्रयोजन के आधार पर लक्षणा के दो भेद किये गये हैं (१) रुढ़ि लक्षणा तथा (२) प्रयोजनवती लक्षणा।

**रुढ़ि लक्षणा —**

रुढ़ि लक्षणा उस कहल है वहाँ पर रुढ़ि के कारण मुख्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ अर्थ को ग्रहण कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ —

दूध परसत दूधत कुन्दुम कुरत अतुर चित प्रीति ।  
परति पाँठ कुरजन हिये बई नई यह रीति ॥

**प्रयोजनवती लक्षणा —**

वहाँ पर किसी विशेष अनीष्ट को सिद्धि के लिए लक्षणा की भाषा वहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए —

लहर ध्योम भूमती उठती अपसाएँ अलंकर बचती ।  
परल अलर की कड़ी शड़ी में दू में निज संसृति रचती ॥

प्रयोजनवती कला के दो भेद होते हैं (१) यौक्य तथा (२) शुद्ध। प्रयोजनवती कला का यह भेद उपचार के आधार पर किया जाता है जिसका माध्यम दो निम्न वस्तुओं की भिन्नता को युक्त कर देता तथा उनमें अन्वेष को विज्ञाना है।<sup>१</sup>

यौक्य कला —

यौक्य कला बर्हा होती है, जहाँ किसी समानता के कारण अन्वेष को स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ —

उदित उदय विरि मक्ष पर, रज्जुवर बाल पतन ।  
बिहसे सत सरोज सब हरये लोचन मृग ॥

यौक्य कला के दो भेद होते हैं (१) सारोपा यौक्य कला तथा (२) साम्य कला यौक्य कला ।

सारोपा यौक्य कला:—

सारोपा यौक्य कला बर्हा होती है जहाँ मुख्यार्थ की भाषा होने पर सादृश्य के कारण आरोप्य और आरोप्यभासा दोनों से कथन द्वारा निम्न अर्थ की व्यवपत्ति हो। उदाहरण के लिए —

माकन सों मन, दूध सों यौवन है बधि ते अतिको कर ईठी ।  
आ छवि आगे छपाकर छाछ समेत चुषा बसुबा सब भीठी ।  
नैन नैह कुई कवि 'देव कुभाबत बंन वियोग संगीठी ॥  
ऐसी रसीली भूरी नही कही क्यों न लये मनमोहने मीठी ॥

साम्यकला यौक्य कला —

जहाँ पर मुख्यार्थ की भाषा होने सादृश्य के कारण आरोप्यभासा के द्वारा निम्न अर्थ की व्यवपत्ति हो, जहाँ पर साम्यकला यौक्य कला होती है। उदाहरणार्थ —

बैरिन क्यू बिछावती छिरि छिरि सेज कुसान ।  
सुनो न मेरे प्राणघन, बहुत आज कतु जान ॥

१ उपचारो हि नाम अत्यन्त विशदकर्मिणयो सादृश्यातिप्रयमहिमा  
मेरप्रतीतिस्वगनमात्रम् । ('साहित्य दर्पण', परिशिष्ट २ पृ० ६७)

सुडा कसना —

वहाँ पर मुस्यार्थ की अवगति सादृश्य के अतिरिक्त अन्य किसी सम्बन्ध द्वारा ही वहाँ पर सुडा कसना होती है। उदाहरण —

मवला जीवन हाय तुम्हारी प्यही कहानी ।

मीचल में है दूध और भाँसों में पानी ॥

सुडा कसना के अनेक सम्बन्ध—सामीप्य सम्बन्ध तात्कर्म्य सम्बन्ध बंगालि सम्बन्ध भाषांतरण सम्बन्ध तथा कार्य कारण सम्बन्ध हो सकते हैं। सुडा कसना के मुख्यतः चार भेद होते हैं (१) उपादान कसना (२) लक्षण कसना<sup>१</sup> (३) सारोपा सुडा कसना तथा (४) साम्यबसना सुडा कसना ।

उपादान कसना —

वहाँ पर मुस्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ की संवृति के लिए अन्य अर्थ को लक्षित किया जाने पर भी अपला अर्थ न सूटे, वहाँ पर उपादान कसना होती है। उदाहरण के लिए —

म्वरत नील में बल प्रकाश का कम्पन सुख बन बजता था ।

एक अतीन्द्रिय स्वप्न लोक का मधुर रहस्य उकसाता था ॥

लक्षण कसना:—

वहाँ पर मुस्यार्थ की बाधा होने पर वाक्यार्थ को सिद्ध करने के लिए वाक्यार्थ स्वयं के बजाय लक्षण की सूचित करे, वहाँ पर लक्षण कसना होती है। उदाहरण के लिए:—

मेरे सपनों में कलरव का संसार भाँस बल खोल रहा ।

अनुराग समीरों पर तिरता था इतरता का डोक घुटा ॥

१ स्वसिध्यते परालीप परार्थ स्वसमर्पणम् ।

उपादान कसनां चेरुत्तरा सुडा व सा द्विधा ॥

(काम्यप्रकाश उल्कास १ का० १०, पृ० ४३)

सारोपा सुद्धा उपादान कसना —

वहाँ पर मुस्वार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के माध्यम पर ऐसा आरोप हो जिससे आरोप विषय तथा विषयी दोनों का स्पष्ट रूपन होने के साथ ही साथ धर्म का मुस्वार्थ भी स्थिति हो । उदाहरण के लिए —

धीरे जाति कुलन में गुजरत और मीर,  
धीरे जाति बदन के सीरन के हूँ पये ।  
धीरे जाति बिहूग समाज में बबाज होति  
अरे श्रुतुराज के न मान दिन हूँ पये ।  
धीरे रस और रीति और राग और रंग  
धीरे तन और मन और बन हूँ पये ॥

सारोपा सुद्धा कसना कसना —

वहाँ पर मुस्वार्थ की बाधा हो परन्तु सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों से अर्थ की बकायति हो तथा आरोप के विषय और आरोप्यमान दोनों का रूपन करते हुए मुस्वार्थ का पूर्ण त्याग किया जाय वहाँ पर सारोपा सुद्धा कसना कसना होती है । उदाहरण के लिए —

जाय मुजंगों से बीटे हूँ के कसन के पड़े बबाये ।  
दिनय हार कर कहती है, के बिचपर हटते नहीं हटाये ॥

साम्यवसाना सुद्धा उपादान कसना —

वहाँ पर मुस्वार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों के अर्थ को स्पष्ट किया जाय तथा केवल आरोप्यमान का रूपन करते हुए धर्म का मुस्वार्थ न छोड़ा जाय वहाँ पर साम्यवसाना सुद्धा उपादान कसना होती है ।

बिद्युत् की इस बकायति में बैज हीन की ली रोटी है ।  
अरी दुबय को पाम महल के लिये सोपनी बकि होती है ॥

साम्यवसाना सुद्धा कसना कसना —

वहाँ पर मुस्वार्थ की बाधा होने पर सादृश्य के सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य

सम्बन्धों से अथ को स्वतन्त्र किया नाम तथा सम्बन्ध के मुह्यार्थ का पूर्ण त्याग तथा आरोप होने पर भी केवल आरोप्यमाग का रूपम किया जाय वहाँ पर साम्यवसता कुछा लक्षण लक्षण होती है । उदाहरण ने सिए—

रक्त पीकर काल है घटमल छिये माराम पाहों में ।  
 पुना पर है मरी इनके सिए संसार की पीड़ित निपाहों में ।  
 लगा कर और की होली खड़ जो तापते हैं दूर से उमकी ।  
 निमित्त हो बहु बजा करते नहीं प्रह्लाद हैं मरविष बवाल में ॥

### व्यंजना

बिना शक्ति से सम्बन्ध न अर्थ के भोज होने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति हो उसे व्यंजना कहते हैं । व्यंजना काव्य के बाह्य आचरण को दूर करके उसके अंत में छिपे व्यंग्यार्थ को स्पष्ट करने वाली शक्ति है जो अर्थ अभिधा तथा कसपा द्वारा लप्रकाशित रहता है उसका प्रकाशन व्यंजना के द्वारा होता है ।

हेमचन्द्र ने बताया है कि अभिधा से जो अर्थ स्पष्ट होता है उसी में सङ्ख्य तथा प्रतिमावान् सोता व्यंजना शक्ति की सहायता से एक लचील अर्थ की उद्भावना करता है । व्यंजना के द्वारा जो अर्थ उद्घुष्ट होता है उसे व्यंग्यार्थ तथा बिना शब्द का यह अर्थ होता है उसे व्यंग्यक कहा जाता है । अभिधा तथा कसपा से व्यंजना इस बात में भी भिन्न है क्योंकि अभिधा तथा कसपा का सम्बन्ध केवल किसी शब्द मात्र से होता है परन्तु व्यंजना का सम्बन्ध किसी शब्द के साथ ही उसके अर्थ से होता है । व्यंजना के मेद करते समय उसके इस गुण को भी भाधार बनाया जाता है ।

### व्यंजना के मेद

शब्द और अर्थ दोनों से सम्बन्ध रखने के कारण व्यंजना के दो प्रकार होते हैं—  
 (१) साब्दी व्यंजना तथा (२) आर्थी व्यंजना । वहाँ पर शब्द की प्रभावता होती है और और वही से व्यंग्यार्थ व्यभिक्त होता है वहाँ पर साब्दी व्यंजना तथा वहाँ पर अर्थ

की मुख्यता हो वहाँ पर आधी व्यंजना होती है। वहाँ पर यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि यो तो व्यंजना एक शब्द अक्षर है परन्तु वहाँ पर कोई शब्द एक अक्षर से पुनः दूसरे अक्षर की व्यंजना करे वहाँ पर अर्ध व्यंजक होता है। शब्द केवल उसका सहायक होता है।<sup>१</sup>

इसके अतिरिक्त शाब्दी व्यंजना में भी अर्ध होता है एवं आधी में भी शब्द। शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं (१) अभिधामुक्ता शाब्दी व्यंजना एवं (२) लक्षणा मुक्ता शाब्दी व्यंजना।

**अभिधामुक्ता शाब्दी व्यंजना —**

शाब्दी व्यंजना का यह भेद वाचक शब्द के आधार पर किया जाता है। उसमें प्रायः द्वयार्थक शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। अभिधा नियामकों द्वारा इसमें अभिधा एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाती है तथा वही वाच्यार्थ भी होता है। साथ ही शब्द के विद्वष्ट प्रयोग से अप्राकृतिक अर्थ की भी अवधि होती है। अभिधामुक्ता शाब्दी व्यंजना के ये ही मूल लक्षण हैं।<sup>२</sup> इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

धिर भीरो बीरी धुर, यथो म समैह मनीर ।  
को यदि ये व्यंजामुक्ता ये हलचर के बीर ॥

**लक्षणा मुक्ता शाब्दी व्यंजना —**

वहाँ पर किसी बहुवचन की सिद्धि के लिए किसी शाब्दिक पद का प्रयोग हो वहाँ पर लक्षणा मुक्ता शाब्दी व्यंजना होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कूकती कोयलिया कामल लीं नहिं जात लहो जिनकी सु मवाजी ।  
भूमि से निके जायाय लीं कूलै पसास बबानल को छवि छाये ।  
आयो बसन्त नहीं बर कन्त लपो लब जन्त की हौन इसाबै ।  
बैठि रही हमहु हिय हारि कही लगी डारिये हाथन गाबै ॥

१ शब्द प्रभाषेद्योर्धो व्यन्तकमर्पात्तरं यत् ।

अर्धस्य व्यन्तकत्वे तत् शब्दस्य सहाकारिता ॥

२ अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।

एकत्रार्थव्यपीहेतुव्यंजना सामिधापया ॥ (साहित्यदर्पण परि० २ पृ० ७३)



भाषी व्यंजना—

भाषी व्यंजना में भी शब्द का योग अवश्य रहता है। मम्मट के विचार से भाषी व्यंजना में किसी शब्द विशेष से ही व्यंग्य रूप अन्तर्गत अर्थ की अवगति होती है। इसलिए इसमें व्यंजकता तो अर्थ की ही होती है परन्तु सहकारिता शब्द की भी।<sup>१</sup> यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि शाब्दी और भाषी व्यंजनाओं में भाषी व्यंजना ही अधिक विस्तृत क्षेत्रीय है। इसमें त्रिच विशिष्ट शब्द या अर्थ में व्यंजना होती है उसे व्यंजक कहा जाता है। पुनः त्रिच तबीय अर्थ की अवगति इस विशिष्ट शब्द के अर्थ से होती है उसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है।

विद्वानाच ने बताया है कि व्यंजना में शब्द एक अर्थ एक दूसरे के सहकारी का कार्य करते हैं क्योंकि यदि इसमें से एक व्यंजक होता है तो दूसरा सहकारी व्यंजक। शाब्दी में शब्द किसी दूसरे अर्थ के आशय से व्यंग्यार्थ का बोध कराता है, भाषी में व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाला व्यंजक अर्थ किसी शब्द से ही होता है।<sup>२</sup> किसी शब्द के वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के आचार पर भाषी व्यंजना के तीन भेद किये जाते हैं (१) वाच्य सम्भवा (२) शब्द सम्भवा तथा (३) व्यंग्य सम्भवा।

वाच्यसंभवा भाषी व्यंजना —

यहाँ पर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है यहाँ पर वाच्य संभवा भाषी व्यंजना होती है। इसमें प्रथमतः किसी शब्द की मुक्यामूर्ति से साधारण अर्थ का बोध होता है तथा बाद में उसी से किसी अन्य अर्थ की अवगति होती है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

कमल तंतु सौं छीन अह कठिन अवन की चार ।

अति सूखो देखो बहुदि, प्रेम पंच अविचार ॥

लक्ष्य संभवा भाषी व्यंजना —

यहाँ पर लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ का बोध होता है यहाँ पर लक्ष्य सम्भवा भाषी

१ शब्द प्रभावबोधोर्षो व्यनरत्पर्यान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यंजकत्वैपि शब्दस्य सहकारिता ॥ (काव्यप्रकाश तु० ७० का १ वृ ७२)

२ शब्दबोधोव्यनकत्वर्थः शाब्दोपर्यान्तराभ्यः

एकस्य व्यंजकत्वं एयावद्यस्य सहकारिता । (साहित्यदर्पण, १. २ वृ० १७)

व्यवस्था होती है। इसमें प्रथमतः मुझ्यावृत्ति से साधारण अर्थ का बोध होता है, तथा बाद में उच्च से अग्न्य अर्थ की प्रतीति होती है।

व्यंग्य संभवा आर्थी व्यवस्था —

यहाँ पर व्यंग्य से व्यंग्यार्थ का बोध होता है, यहाँ पर व्यंग्य संभवा आर्थी व्यवस्था होती है। इसमें प्रथमतः मुझ्यावृत्ति का बोध होने पर तब प्रकरणदि से व्यंग्यार्थ की अवगत होती है। तब इस व्यंग्यार्थ से पुनः व्यंग्यार्थ का बोध होता है। व्यंग्यसंभवा आर्थी व्यवस्था का उदाहरण इस प्रकार है —

सत सुख्यो, धीत्यो जया क्यो कई उलारि ।  
जरी हरी, अरहरि जनों अर हरि श्रिय भारि ॥

आर्थी व्यवस्था के अनेक साधन होते हैं। संक्षेप में बल्का बौद्धव्य काकु वाक्य वाक्य अग्न्य संनिधि प्रस्ताव, वेद काळ आदि की विशेषता के कारण भी व्यंग्यार्थ का बोध इसमें होता है।<sup>१</sup> इनमें से प्रत्येक के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

बल्क वैशिष्ट्य —

यहाँ पर कवि या अर्थ किसी कथन करने वाले व्यक्ति की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है, उसे बल्का की विशेषता से उत्पन्न या बल्क वैशिष्ट्य कहा जाता है। उदाहरण के लिए —

पेकता हूँ मैं लोड़ नरोड़ अरी निष्टुर धीमा के तार ।  
यठा खरी का अरबबल संक पूकता हूँ भेरव तु कार ।  
नहीं भीते जी सकता देव बिहव मैं मुका तुम्हारा माक ।  
बैरनामपु का भी कर पात आज जमलू या परक कराल ॥

बौद्धव्य वैशिष्ट्य —

यहाँ पर मोटा की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है यहाँ पर बौद्धव्य वैशिष्ट्य कहा जाता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है —

१ वर लक्ष्मणकाकूती वाग्यवाक्याग्यसंनिधे प्रस्तावकप्रकारादे वैशिष्ट्या प्रतिमा बुधाम (वाक्यप्रकाश, पृ० ३ पृ० ७३)

७१८ ] समीक्षा के माल और हिंदी समीक्षा की विद्विष्य प्रकृतियाँ

नग्न ब्रज सीमें ठोसि बनाय ।

बेहू बिबा मिलि जाहि मज्जुपुरी बंधू मोकुल के राय ॥..

काकु वैशिष्ट्य —

वहाँ पर कंठ ध्वनि के भेद से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती हो वहाँ पर काकु वैशिष्ट्य होता है । उदाहरण के लिए —

मैं मुकुमारि नाथ बन जीपू । तुमाहि उचित तप मो कहू भोगू ॥

बानय वैशिष्ट्य —

वहाँ पर किसी वाक्य की विशेषता से व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर बानय वैशिष्ट्य होता है । उदाहरण के लिए —

बेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार ।

सोइ हम करव न भय कसु बचन न बुबा हमार ॥ )

बाध्य वैशिष्ट्य —

वहाँ पर वक्तव्य या मुक्तार्थ की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता है वहाँ पर बाध्य वैशिष्ट्य होता है । इसका उदाहरण निम्नलिखित है —

मधुमय बसंत जीवन बन के बहु अंतरिण की लहरों में ।

कब जाये वे तुम चुपके से रजनी के पिछके पहरों में ।

कब तुम्हें बेखबर माते यों मत्तबानी कोयल बोली थी ।

जस नीरवता में अलसाई कजियों ने धीरे धीरे खोली थी ॥

अग्यसमिधि वैशिष्ट्य —

वहाँ पर अग्य की निकटता से बस्ता द्वारा भोवा से कथित कथन से कोई तीसरा व्यक्ति व्यंग्यार्थ समझे, वहाँ अग्यसमिधि वैशिष्ट्य होता है । इसका उदाहरण इस प्रकार है —

घर के सब ग्योते गये अली अंबेरी रात ।

हूँ किचर नहि द्वार में ताते त्रिय बबरात ॥

प्रस्ताव वैशिष्ट्य —

वहाँ पर वस्तु के प्रस्ताव से व्यंग्यार्थ का बोध हो वहाँ पर प्रस्ताव वैशिष्ट्य होता है । उदाहरण इस प्रकार है —

सखि सिपार सब ताम्र ही, समय रूप कबि नन ।  
चाब बँडकर मिलि मदन बरसत भोगिन नैन ॥

देश वैशिष्ट्य —

वहाँ पर स्थान की विशेषता से व्यंग्यार्थ का बोध होता हो वहाँ पर देश वैशिष्ट्य होता है । उदाहरण के लिए —

ये गिरि छोई वहाँ मजुरी मरमल मजुरन की पुनि छाई ।  
या बन में कमनीय मृगीन की लोल कसोलनि डोलन भाई ॥  
सोहे सरित्त पारि घनी बल बुचछन की नम मोल निकारि ।  
मजुल नजु लतान की चाब जमीली वहाँ सुयमा तरसाई ॥

काल वैशिष्ट्य —

वहाँ पर समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ का बोध होता हो, वहाँ पर काल वैशिष्ट्य होता है । उदाहरण के लिए —

धुनि हरी ये प्रवाह बह्यो बल मोर नच गिरिते मतबारे ।  
बँबला र्यों चमके कछिराम बड़े बह्यो औरन तें घन कारे ॥  
बान ई कीर बिबेस जन्हें कछु बोळ न बोलिप पाबस प्यारे  
भाइहँ ऊबि घरी में घरे घनपोर छौं ओवनमूरि हमारै ॥

बिम्बा वैशिष्ट्य —

वहाँ पर किसी बिम्बा के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध जाना है वहाँ पर बिम्बा वैशिष्ट्य होता है । उदाहरणार्थ —

खंडक काइत माल के बँबल जाहू निबाहि ।  
बरन बँबि लौगो तिया हँसि मूठे करि भाहि ॥

### ध्वनि विवेचन

ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत काव्य के तीन भेद होते हैं (१) ध्वनि काव्य, (२) गुणीभूत ध्वन्य काव्य तथा (३) अक्षर काव्य। इनमें से प्रथम अक्षर कोटि का काव्य, द्वितीय मध्यम कोटि का काव्य तथा तृतीय निम्न कोटि का काव्य माना जाता है। इसी प्रकार से ध्वनि के दो भेद हैं (१) कक्षनामूला ध्वनि तथा अत्रिधामूला ध्वनि।

#### कक्षनामूला ध्वनि —

यहाँ पर व्यंग्यार्थ में वाक्यार्थ का प्रयोग नहीं होता यहाँ पर कक्षनामूलाध्वनि होती है। इसके दो भेद हैं (१) अर्थांतर संक्रमित कक्षनामूला ध्वनि तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत कक्षनामूला ध्वनि।

#### अर्थांतर संक्रमित कक्षनामूला ध्वनि :—

यहाँ पर वाक्यार्थ अपने अर्थ को रखते हुए किसी दूसरे अर्थ में संक्रमण करता है, यहाँ पर अर्थांतर संक्रमित कक्षनामूला ध्वनि होती है। उदाहरण के लिए —

दीता हूँ तू को धनि कहेज पिता सब जाय ।  
 जो मैं राम तो लख लखि कहिहि बलानन जाय ॥

#### अत्यन्त तिरस्कृत कक्षनामूला ध्वनि —

यहाँ पर वाक्यार्थ का पूर्ण कोप हो जाता है, यहाँ पर अत्यन्त तिरस्कृत कक्षनामूला ध्वनि होती है। उदाहरण के लिए —

कौतूब ली पड़नी की जाली सहज सुनाइ । बाइ महापर बैन को बापु भई बैपाइ ॥

#### अत्रिधामूला ध्वनि —

यहाँ पर वाक्यार्थ अत्यन्त हो यहाँ पर अत्रिधामूला ध्वनि होती है। इसके दो भेद होते हैं (१) संकल्पक्रम ध्वन्य ध्वनि तथा (२) असंकल्पक्रम ध्वन्य ध्वनि।

#### संकल्पक्रम ध्वन्य ध्वनि —

यहाँ पर वाक्यार्थ की अवयवित होने के पश्चात् क्रम से क्रम व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता

है वहाँ पर संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके तीन भेद हैं (१) शब्द शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि (२) अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (३) शब्दापेक्षित शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि।

शब्द शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि —

वहाँ पर वाक्यार्थ के पदवात् व्यंग्यार्थ का बोध किसी सम विशेष द्वारा होता है वहाँ पर शब्द शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके चार भेद हैं (१) पदगत वस्तु ध्वनि (२) वाक्यगत वस्तु ध्वनि, (३) पदगत अर्थकार ध्वनि तथा (४) वाक्यगत अर्थकार ध्वनि। शब्द शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है —

जो पहाड़ को तोड़ छोड़ कर रह जाता।  
जीवन निर्मल नहीं, सदा जो धामे बढ़ता।

अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि —

वहाँ पर पहले वाक्यार्थ तथा बाद में व्यंग्यार्थ का बोध किसी अर्थ विशेष के कारण होता है, वहाँ पर अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके तीन भेद होते हैं (१) स्वतः समीची अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि (२) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि तथा (३) कवि निबद्ध मान पात्र प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ शक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक के चार भेद (१) वस्तु से वस्तु (२) वस्तु से अर्थकार, (३) अर्थकार से वस्तु तथा (४) अर्थकार से अर्थकार, तथा इन चारों में से प्रत्येक के तीन-तीन उपभेद (१) पदगत (२) वाक्यगत तथा (३) प्रकृतगत होते हैं। अर्थशक्ति उद्भव संकल्पक्रम व्यंग्य ध्वनि का एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है —

कागु की भीर अमीरन की गहि पीकिन्ध सँ गई भीठर पीरी।  
भाई करी मन की पदनाकर ऊपर गाइ अबीर की सोरी॥  
छोरि पितम्बर कम्मर ते सु विवा बई सीड़ि कपोलन रोरी।  
मन नबाय कही मुमुकाइ सता किरि भाइयो जेतन होरी॥

अर्थशक्ति उद्भव व्यंग्य ध्वनि —

वहाँ पर वाक्यार्थ के ग्रहण करने के क्रम को न लक्षित किया जा सके तथा व्यंग्यार्थ के स्पष्ट होने का निश्चित क्रम न समझा जा सके, वहाँ पर अर्थशक्ति उद्भव व्यंग्य ध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है —

७२२ ] समीक्षा के मात और द्विती समीक्षा की विशिष्ट प्रकृतियाँ

अंग्य ध्वनि होती है। इसके आठ प्रकार होते हैं (१) रस ध्वनि (२) भाव ध्वनि (३) रसामास (४) भावामास (५) भावोदय (६) भाव संधि (७) भाव छाति तथा (८) भाव अवलम्बा।

रस ध्वनि :—

जहाँ पर किसी वर्णन से व्यंग्यार्थ रूप रस का प्रभाव स्पष्ट हो, वहाँ रस ध्वनि होती है। उदाहरणार्थ—

पलंग पीठ तबि मोर हिंडोरा, सिय न बीन पग भबनि कठोरा ।  
 त्रिय न मुरि बिनि जोगबस रहेऊ । बीप बाति नहि धारेन कहेऊ ।  
 सो बन बसहि तात केहि भाँती । बिज किजित कपि बेखि डेराती ।  
 जो सिय मवन रहे कहूँ अंबा । मो कहूँ होय बहुत अवलंबा ॥

भाव ध्वनि —

जहाँ पर अयुक्त स्थायी भाव से संवारी भाव का प्रकाशन होता है, वहाँ पर भाव ध्वनि होती है उदाहरणार्थ—

सखपदाति सौ सति मुञ्जी मुख भू बट पद डाँकि ।  
 पावक हर धी समकिक कै गई झरोखे साँकि ॥

रसामास —

जहाँ पर रस का परिपाक होने पर उसमें कोई अनौचित्य प्रतीत हो वहाँ पर रसामास होता है उदाहरणार्थ—

उठि उठि पहिरि सत्ताहूँ अमाग । जहूँ तेंहूँ गाल बजावन तापे ।  
 केहु छड़ाय सीय कहूँ कोऊ । परि दाँधी नुप बाळक बोऊ ।  
 तोरे अनुप बाज नहि छरई । बीबत हर्माहि कु बरि की बरई ।  
 जो बिबेह कहु करहि तादाई । बीतहु समर सहित रोऊ माई ॥

भावामास —

जहाँ पर भाव में किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत हो वहाँ भावामास होता है। उदाहरणार्थ—

हरपन में निज छांह संग, लक्षि प्रियतम को छांह ।  
 खरी सराई रोस की, स्बाई भँजियन माह ॥

भावोदय —

वहाँ पर किसी भाव के उदय होने में किसी प्रकार के आर्कषण की प्रतीति हो  
 वहाँ पर भावोदय होता है उदाहरणार्थ —

देखि री देखि अग्नी संग जाइ बों कौन है का घर में अतराति है ।  
 आनन मोरि के नैनन कोरि अब गई मोसल के पुसुकाति है ।  
 बास नू का मुक जोति लसे तें सुबायर जोति खरी सकुजाति है ।  
 मोधि लिये खली जाति सु मेरे हिये बिच जाति बिये लक्षि जाति है ॥

भावसौंदर्य —

वहाँ पर किन्हीं दो भावों के संयोग से किसी प्रकार के अमलकार की सृष्टि हो  
 वहाँ पर भाव सवि होती है । उदाहरण के लिए —

पिय बिसूरन को दुसह बुक, हरप जात्र प्योसार ।  
 दुरजोवन सों देखियत लखल प्राण पदि कार ।

भावसौंदर्य —

वहाँ पर किसी उत्कर्षबुद्ध भाव की समाप्ति में किसी प्रकार की विशेषता होती  
 है वहाँ पर भाव सान्नि होती है । उदाहरण के लिए—

अतोव उरकठित ग्वाक बास हो सबेय आते रच के लभोय थे ।  
 परगु होते मति ही मलीन थे न देखते थे अब वे पुकुन्व को ।

भावप्रकृतता —

वहाँ पर क्रमानुसार अनेक भावों के संयोग की विशेषता पायी जाय, वहाँ पर भाव  
 प्रकृतता होती है । उदाहरणार्थ —

अब ते कु बर कागह रावरी कला निजान  
 फान परी बाके कलु पुजसा कहानी सी ।  
 तब हूँ ते बच देखी देखता टी हसति सी  
 रोराति सी सीसति सी बठति रिजानी सी ।



छोही सी छली सी छीम लीनी सी छकी सी छिम  
 ककी सी ककी सी समी सी ककी बहुरानी सी ।  
 बीधी सी बंधी सी, बिय बूझति बिनोहित सी ।  
 बैठी बाक्यकति बिलोकति बिकानी सी ॥

### गुणीमृत व्यंग्य

वहाँ पर बाध्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गीन होता है वहाँ पर गुणीमृत व्यंग्य होता है । इसके जाठ भेद होते हैं (१) अगूढ़ व्यंग्य (२) अपरांय व्यंग्य (३) बाध्य सिध्यंग व्यंग्य (४) अस्मूट व्यंग्य (५) संक्षिप्त प्राधान्य व्यंग्य (६) तुल्य प्राधान्य व्यंग्य (७) कामवासिष्ठ व्यंग्य तथा (८) असुन्दर व्यंग्य ।

अगूढ़ व्यंग्य —

वहाँ पर व्यंग्यार्थ बाध्यार्थ के समान स्पष्ट हो वहाँ पर अगूढ़ व्यंग्य होता है, उदाहरणार्थ —

सोचन गजपन आबिबन और रतन नम ज्ञान ।  
 जब आबत संतोष नम, सन नम पुरि समान ॥

अपरांय व्यंग्य —

वहाँ पर रस तथा भाव आदि एक दूसरे के अंग हो जाते वहाँ पर अपरांय व्यंग्य होता है । उदाहरणार्थ —

दिपत पानि विबुलात गिति, कखि सब शन बेहाल ।  
 कंन किचोरी बरति के करे जलाने ज्ञान ॥

बाध्य सिध्यंग व्यंग्य —

वहाँ पर व्यंग्यार्थ से ही बाध्यार्थ की अवगति हो वहाँ पर बाध्य सिध्यंग व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ —

पंक्तियों में ही छिपी रहकर न बातें व्यर्थ ।  
 बूढ़े बौधों में न प्रियतम नाथ का तु जर्ष ।  
 हुता घु घट पद न तुझ से सह पल्लव कर शोक ।  
 बैठ पर्ये में बिदा निशि मोक्ष अपनी लोक ।  
 कर कभी मत किसी सुखर का निवेदन ध्यान ।  
 री सजनि बन को कभी नादान ।

अस्पृष्ट धर्म्य—

वहाँ पर धर्म्य स्पष्ट न हो वहाँ पर अस्पृष्ट धर्म्य होता है उदाहरणार्थ—

जिसे नव पुण्य जग प्रथम सुखर के प्रथम बसतल में गूच्छ गूच्छ ।

संदिग्ध प्राणाय धर्म्य—

वहाँ पर शास्त्रार्थ या धर्म्यार्थ की प्रमुखता के विषय में संदिग्ध हो, वहाँ पर संदिग्ध प्राणाय धर्म्य होता है उदाहरणार्थ—

भानहुं यहि तन अञ्ज की स्वच्छ राखिबै काज ।  
 बुध पय पौछन की कियो सुपन पार्यबाज ॥

असुन्दर धर्म्य—

वहाँ पर धर्म्यार्थ में कोई विशेषता न हो वहाँ पर असुन्दर धर्म्य होता है उदाहरणार्थ—

बिहुंघ सोर मुनि मुनि समुति पछवारे की बाय ।  
 जाति परी पियरी पारी प्रिया परी अमुराग ॥

सुख प्राणाय धर्म्य—

वहाँ पर शास्त्रार्थ तथा धर्म्यार्थ की विशेषता समान है वहाँ पर सुख प्राणाय धर्म्य होता है । उदाहरणार्थ—

मात्र बचपन का कोमल गात करे का पीला पात ।  
 चार दिन सुख बौधनी रात और फिर अंधकार अज्ञान ।

काश्चात्प्रियत व्यंग्य—

वहाँ पर विशेष कंठ ध्वनि के द्वारा व्यंग्य स्पष्ट हो, वहाँ पर काश्चात्प्रियत व्यंग्य होता है। उदाहरणार्थ—

हैं इतनीस मनुज रघुनाथक जिनके हनुमान से पायक।

### अवर काव्य

अवर काव्य में व्यंग्यार्थ नहीं होता इसीलिए उसे अवर या साधारण काव्य माना जाता है। यह निम्न कोटि का काव्य भी कहा जाता है। इसमें अलंकार बिना काव्य रहता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है—

विद्यन विद्यारण विरचवर वारन ववन विकास।

वर से बहु बाड़े विसद, बाकी बुद्धि विसास ॥

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ध्वनि सिद्धान्त का प्रवर्तन आत्मवर्धन ने अवश्य किया है, किन्तु उसकी परम्परा का प्रसार और भी प्राचीन काल तक है। भारतीय साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत संस्कृत के प्रमुख सम्प्रदायों में ध्वनि सिद्धान्त का भी विशिष्ट महत्त्व है। आत्मवर्धन ने ध्वनि की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की और इसके विविध पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया। आत्मवर्धन के दृष्टिकोण में अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तुलना में कुछ मौखिक अन्तर मिलता है। उनके पूर्व के आचार्य अधिकतर काव्य का परीक्षण और उसके बहिर्देश के आचार पर ही करते थे। आत्मवर्धन ने इसके विपरीत जिस मन्तव्य का प्रतिपादन किया उसके अनुसार साहित्य का अन्तर्गत परीक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

अलंकार सम्प्रदाय आदि से इस अर्थ में ध्वनि सम्प्रदाय भिन्न है। इस दृष्टिकोण से आत्मवर्धन का स्थान अपने युग के क्रांतिकारी विचारकों में है। ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने ध्वनि की महत्ता का प्रतिपादन किया ध्वनिवादियों का यह भी विचार है कि यदि कोई कवि इस तत्व का आश्रय लेता है तो उसकी प्रतिभा और कल्पना शक्ति का प्रसारण और विस्तार हो जाता है। यों तो ध्वनि सिद्धान्त में उस ध्वनि, अलंकार ध्वनि तथा वस्तु ध्वनि आदि अनेक ध्वनियाँ मानी गयी

हैं परन्तु प्रमुक्तता इसमें रस ध्वनि को ही दी गयी है। आनन्दबर्धन के अतिरिक्त इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में अमिनब पुत्र हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि हैं। इन मनीषियों ने ध्वनि सिद्धान्त को एक व्यापक तथा पूर्ण काव्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया।



अध्याय ८

पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का  
तुलनात्मक अध्ययन



## तुरुनात्मक अध्ययन की आधार भूमि

पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा प्रणालियाँ —

छठ तथा सातवें अध्यायों में हमने पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा की त्रिभिन्न प्रणालियों के विकास तथा इतिहास का परिचयात्मक और सैदान्तिक विवरण उपस्थित किया है, उसके आधार पर इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ तक पाश्चात्य समीक्षा की त्रिभिन्न प्रणालियों का सम्बन्ध है उतना सैदान्तिक विवरण प्रस्तुत करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वे कौन से कारण हैं, जिन्होंने उन विचार माध्यमों के आदिर्भाव को आवश्यक बना दिया। प्रत्येक बाह के मुख्य सिद्धान्तों तथा विचार तत्त्वों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के लिए यह भी जानना आवश्यक है कि पाश्चात्य समीक्षा की इन प्रणालियों में त्रिभिन्न युगों में किस प्रकार से रूप परिवर्तन हुआ। इसके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य और समीक्षा को इन दोनों पर इनका क्या प्रभाव पड़ा है, इसे भी तुलनात्मक दृष्टि से समझना यहाँ आवश्यक है।

इसी प्रकार भारतीय समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विभिन्न समीक्षा प्रणालियों के अन्तर्गत मुख्यतः संस्कृत साहित्य के विशिष्ट समीक्षा सिद्धान्तों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। हिन्दी समीक्षा पर जो पाश्चात्य प्रभाव दिखाई देता है वह विशेष रूप से आधुनिक युग के साहित्य पर ही मिलता है। पाश्चात्य देशों से हमारे विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध आधुनिक युग में बढ़ आरम्भ हुए तब पाश्चात्य भाषाओं का सम्पर्क भी विस्तृत हुआ। इसके पूर्व यद्यपि त्रिभिन्न भारतीय भाषाओं में आश्चर्यजनक एकस्यता विद्यमान थी परन्तु जब से पाश्चात्य सम्पर्क में वृद्धि हुई तब से पाश्चात्य प्रभाव जमघट विकसित होता चला गया। इसलिए इस सम्पर्क के बाद आधुनिक युग में हिन्दी पर जो पाश्चात्य प्रभाव दिखाता है वह अत्यन्त प्रबल है।



## अभिध्व्यजना और भारतीय सिद्धान्त से उसकी सुरुना

अभिध्व्यजना विषयक धारणा —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है अभिध्व्यजनाधार का प्रवर्तक इटली का प्रसिद्ध विचारक वेन्देरो क्रोचे था। यहाँ अभिध्व्यजनाधार विषयक धारणा मिला रूप में पहुँचे भी विद्यमान थी परन्तु क्रोचे ने उसकी तबीयत व्याख्या प्रस्तुत की। क्रोचे कहता है कि एक वस्तु पूर्ण अभिध्व्यजना होती है। यह पूर्ण अभिध्व्यजना मुख्यतः वस्तु के आन्तरिक स्वरूप से सम्बन्ध रखती है। उससे किखा है कि जब ऐसी स्थिति या बाठी है कि आन्तरिक शक्त पर हमारा पूर्ण अधिकार हो जाए और किसी बाह्य शक्ति अथवा मूर्ति के विषय में हम पूर्णतः स्पष्ट रूप से विचार कर लें तब अधिक कुछ की आवश्यकता नहीं होती और अभिध्व्यजना पूर्ण हो जाती है। इसके पश्चात् ही हम अपने अन्तर स्वर को तीव्रता से अभिव्यक्त करते हैं जिसे हम अपने अन्तर में गुनगुना करने होते हैं। उगी को बाह्य अभिव्यक्ति देते हैं।<sup>1</sup>

अभिध्व्यजना का अर्थ —

साधुनिक पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में क्रोचे के अभिध्व्यजनाधारी आन्धोकन का विशेष महत्त्व है। साधुनिक प्रयोग में अभिध्व्यजना का अर्थ किसी आन्तरिक सत्य का प्रकटीकरण किसी आन्तरिक सत्य की सच्ची दिखाना उसका प्रतिनिधित्व करने के बाह्य धारणाओं को प्रकट करना या उसके महत्त्व का विवरण करने में प्रयुक्त किया जाता है। क्रोचे अभिध्व्यजना को आन्तरिक अभिव्यक्ति मानता है और इस प्रकार से इन सभी विचारधारणाओं का विरोध करता है जो बाह्य अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति या बाह्य रूपरमक होती है। क्रोचे कहता है कि मूल अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है

- 1 *When we have mastered the Internal word when we have vividly and clearly conceived a figure or a statute when we have found a musical theme expression is born complete nothing more is needed .....what we then do is to say about what we have already said within sing about what we have already sung within —Croce*

बाह्य नहीं क्योंकि सबसे पहले कोई अनुभूति आंतरिक रूप में अभिव्यक्ति हो चुकी होती है उसके बाद ही उसके बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में प्रकटीकरण होता है।

इस प्रकार से जोड़े अभिव्यक्तता को प्रत्यक्ष मानव मन से सम्बन्धित एक प्रक्रिया मानता है और इसीलिए वह यह कहता है कि मानव जगत की सभी बातों का मूल आधार मानव मन ही है जो उसकी सत्ता का स्रोत और सत्यता का प्रकाश करता है। जोड़े कहता है कि मनुष्य के मन में अभिव्यक्ततात्मकता की प्रक्रिया आंतरिक रूप से क्रियाशील रहती है। प्रत्येक बाह्य अभिव्यक्ति प्राथमिक रूप से मानव अन्तर में लिखित होती है। इसी को बाह्य अभिव्यक्ति समुचित प्रकट रूप में की जाती है। यही जोड़े अभिव्यक्तता को बाह्य और भीतिक न मान कर आंतरिक व मानसिक प्रक्रिया बताता है, इसीलिए वह कहता है कि अभिव्यक्तता स्वानुभूति के रूप में एक संतुलन और पूर्ण प्रक्रिया है। जोड़े के इस मन्थन पर वाङ्मय साहित्य समीक्षा के समय में पर्याप्त विचार विमर्श हुआ। विभिन्न समकालीन तथा वरवर्ती विचारकों ने उसकी सगतिमें तथा असंगतिमें की ओर संकेत किया।

#### अभिव्यक्तता की प्रक्रिया —

इस प्रकार से जोड़े का यह विचार है कि अभिव्यक्तता बाह्य अभिव्यक्ति न होकर आंतरिक अभिव्यक्ति है और उसका सम्बन्ध मन से है। अभिव्यक्तता की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए जोड़े ने बताया है कि जो भी बाह्य अभिव्यक्तता हम अभिव्यक्त करते हैं वह पूर्ण रूप में हमारे हृदय में आंतरिक रूप से अभिव्यक्त हो चुकी होती है। इससे यह सिद्ध है कि इस संसार में जो कुछ भी प्रकट में है वह मानसिक कार्य या व्यापार का ही बाह्य रूप है। इसीलिए वह हमसे कक्षा की रचना का मूल आधार मन को ही मानता है।

इस प्रकार जोड़े ने अभिव्यक्तता की जिस प्रक्रिया का विचार किया है उसके अनुसार मनुष्य की आत्मा में कुछ संवेदनों का प्रस्फुटन होता है, जब वह सृष्टि के विविध भौतिक वस्तुओं के सम्पर्क में जाती है। यह संवेदन मूल प्रवाह ज्ञान के रूप में होते हैं। जैसे कि पीछे कहा गया है इसी प्रक्रिया को जोड़े ने अभिव्यक्तता की आंतरिक स्थिति के रूप में स्पष्ट किया है। इसके पश्चात् यह मूल कल्पना का शोध पाकर बाह्य रूप में अभिव्यक्तता अपने सौन्दर्यस्यक तरह से ज्ञान की अनुभूति व्यक्त करती है और यही ज्ञानानुभूति अन्तःकरण के माध्यम से कर्णांतरित होकर कला कृति के रूप में माध्य की जाती है। इस प्रकार से जोड़े ने अभिव्यक्तता की पूर्ण प्रक्रिया का स्पष्ट विवरण दिया है।

## अभिव्यञ्जनावाद की समीक्षात्मक परिणति

समीक्षा के क्षेत्र में श्रेष्ठ की इस विचारधारा का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। कला के लिए कला का सिद्धान्त श्रेष्ठ की इस विचारधारा से और भी पुष्ट हुआ तथा साहित्य और कला के परीक्षण की एक नई प्रणाली जन्मी। अभिव्यञ्जनावाद के मूल सिद्धान्तों को समीक्षा की दृष्टि से एक नवीन रूप दिया और मूल्यांकन की नई कड़ीटी प्रदान की। चूँकि श्रेष्ठ की धारणा आन्तरिक अभिव्यञ्जना में कल्पना के भोग के पदचात् बाह्य अभिव्यञ्जना में भी इसीलिए उतस कल्पना उत्पन्न का महत्त्व भी बढ गया। कहना को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देकर श्रेष्ठ ने काव्य के अन्य तत्वों की उपेक्षा की है।

## भारतीय सिद्धान्त से अन्तर

जहाँ तक अभिव्यञ्जनावाद का भारतीय समीक्षा सिद्धान्त से साम्य तथा प्रभाव का सम्बन्ध है भारतीय धारणा से यह एककता रखते हुए भी पर्याप्त भिन्नता रखता है। श्रेष्ठ ने काव्य में कल्पना उत्पन्न का अधिक महत्त्व स्वीकार करके एक प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है। भारतीय सिद्धान्तों में किसी के अनुसार भी कल्पना को काव्य की आत्मा नहीं माना गया है। यद्यपि कल्पना का महत्त्व अनेक विचारकों ने स्वीकार किया है। हमारे यहाँ विशेष रूप से काव्य की आत्मा के रूप में रस आदि को मान्य किया गया है। इससे यह स्पष्ट है की भारतीय साहित्य शास्त्र में मूल सिद्धान्तों से श्रेष्ठ के अभिव्यञ्जनावाद का कोई साम्य नहीं है उसके अतिरिक्त श्रेष्ठ ने केवल अभिव्यञ्जना को ही प्रमुख मान कर काव्य के अन्य मूल तत्वों की उपेक्षा भी की है।

## पाश्चात्य समीक्षा और यथार्थवादी आन्दोलन

प्रतिक्रियात्मकता —

पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवाद का स्थान भी आधुनिक युग की एक प्रधान विचार प्रणाली के रूप में उत्पन्न महत्त्वपूर्ण है। इसका अनुसार साहित्य का प्रधान गुण

समर्पण का चित्रण होना चाहिए। साहित्यकार को अपनी कृति में मानव जीवन के विविध पलों से सम्बन्ध रखने वाले समर्पण का चित्रण करना चाहिए। इस दृष्टिकोण से यह विचारधारा आदर्शवाद की विरोधी विचारधारा है। समर्पणवादी प्रवृत्ति का विरोध बहुत कम समय में ही अन्य विचारधाराओं द्वारा हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि समर्पणवाद के जन्म के साथ ही इसके समर्थकों में एक प्रकार की संकुचित भावना के प्रति आसह विचारों के उदय और उन्होंने समर्पण के नाम पर केवल जीवन के सुसिद्ध सपनों का चित्रण करना ही आरम्भ किया। जब समर्पणवाद अपने मुख्य उद्देश्य से इस प्रकार से हट गया तब उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अनेक आन्दोलन हुए और बीरे-बीरे इसका हास होने लगा। विदेश में साहित्य के क्षेत्र में प्रतीकवाद के नाम पर जिस आन्दोलन का आरम्भ प्रारंभ में हुआ वह भी एक प्रकार से समर्पणवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में ही था।

स्वरूप —

समर्पणवाद के मूल में जो प्रवृत्ति काम करती है उसके अनुसार ज्ञान या साहित्य सृष्टि हमारे ज्ञान के जीवन के जिस पक्ष का चित्रण करता है उसका आधार अनिर्धार्य रूप से समर्पणवादीकता होती चाहिए। प्रत्येक वस्तु तथा विषय—जन्म और साहित्य उन्ही रूप में अभिव्यक्त होना चाहिए जिस रूप में इसका अस्तित्व होता है। दूसरे शब्दों में समर्पणवाद वस्तु विषय का समर्पणवादीक चित्रण करता है। यह आवश्यक नहीं है यह अक्षय सुख है अथवा दुःख, प्रिय है अथवा अप्रिय। इसका समर्पणवादीक होना ही पर्याप्त है। इस प्रकार से समर्पणवाद विषय वस्तु के समर्पणवादीक अनुकरण तथा अभिव्यक्तिकरण की प्रणाली को कहते हैं।

## हिन्दी साहित्य और समर्पणवाद

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग में यद्यपि पारम्पर्य प्रभाव का परम्पर्यात्मक ही समर्पणवाद का आरम्भ माना जाता है परन्तु समर्पणवादी प्रवृत्ति आधुनिक युग के पूर्व रहे गए साहित्य में भी विकसित है। समर्पणवाद एक प्रकार की स्वाभाविक साहित्यिक प्रवृत्ति है क्योंकि साहित्य जीवन के समर्पण का ही चित्रण करता है। इन दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य में कबीर, तुलसी आदि के साहित्य में कहीं-कहीं समर्पणवादी तत्त्व विचारों के उदय हैं। जिनमें उन्होंने सामाजिक समर्पण के विविध पलों का चित्रण प्रस्तुत किया है। जहाँ तक आधुनिक

पुर्वीय हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध है प्रगतिवाद को कभी-कभी यथार्थवाद के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है। स्पष्ट रूप से द्वितीय महायुद्धोत्तर साहित्य में यथार्थवादी साहित्य की प्रवृत्तियाँ बहुकता से विद्यमान हैं।

### यथार्थवाद और आदर्शवाद

ऐशान्तिक रूप से यथार्थवाद को आदर्शवाद की विरोधी विचारधारा के रूप में समझा जाता है। यथार्थवाद में किसी प्रकार का कोई आदर्श नहीं रहता। उसमें साहित्यकार अथवा कलाकार यह देखने की चेष्टा नहीं करता कि उसके द्वारा अभिव्यक्त विषय वस्तु का पाठक अथवा समाज पर कितना अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। यथार्थवाद का अनुकरणकर्ता साहित्यकार उदात्तता के आदर्शों का भी ध्यान नहीं रखता। इस दृष्टिकोण से यथार्थवाद को अपेक्षाकृत विस्वसनीय और सहज चित्रण की प्रमाणी कहा जा सकता है क्योंकि उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता के लिए स्थान नहीं है। यथार्थवाद में साहित्यकार उसी विषय वस्तु का चित्रण करता है जो प्रत्यक्ष रूप में उसके सामने अस्तित्वमान है।

जनत के सुन्दर तर्कों के साथ-साथ वह अनुसूच की भी ग्रहण करता है। वह किसी वस्तु की अवहेलना केवल उसकी कमजोरी के कारण नहीं करता। उसके विपरीत वह प्रत्येक यथार्थ वस्तु को अपने साहित्य में अभिव्यक्ति देता है भले ही उसका रूप अक्षय हो अथवा कुत्सितता घरी हो। यथार्थवादी दृष्टिकोण से केवल कुक्षयता के कारण किसी यथार्थ से मुह मोड़ना पञ्चानवादी प्रवृत्ति का परिणामक है जिसकी यथार्थवादी विचारधारा पूर्ण विरोधिनी है। इस प्रकार से यथार्थवाद के अनुसार साहित्य या कला सृष्टि का सबसे बड़ा अर्थ साहित्य में विषय वस्तु का यथाव्यव वर्णन करना है।

### यथार्थवाद का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव

जहाँ तक हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी प्रवृत्तियों के समावेश का सम्बन्ध है, हिन्दी में भी यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ निम्न-निम्न युगों में दिखाई पड़ती हैं। आधुनिक

युग में यथार्थवादी विचित्र विरोध रूप में द्वितीय महायुद्ध के पूर्व के साहित्य में मिलते हैं। उसके बाद ही क्रमशः इस प्रवृत्ति का विकास होता चला गया तथा प्रगतिवाद के रूप में इसे मास्यता मिली। साहित्य के विभिन्न अंगों में विरोध रूप से काव्य, उपन्यास तथा आलोचना में यह प्रवृत्ति विरोध रूप से समाविष्ट हुई।

एक दृष्टिकोण से यह भी कहा जा सकता है कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हिन्दी में छायावाद के रूप में त्रिस प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ था उसके प्रति विद्रोह और प्रति क्रिया के रूप में यथार्थवाद अथवा प्रगतिवाद का आविर्भाव हुआ। कतिपय आधुनिक पाश्चात्य विचारकों मुक्त मार्क्स एंगेल्स फ्रायड और डारविन आदि के सिद्धान्त भी इसके मूल में रहे। इन विचारकों के सिद्धान्तों की भी निहिति इसके मूल में रही। इन विचारकों के सिद्धान्तों के माध्यम से हिन्दी साहित्य पर पाश्चात्य यथार्थवाद का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर पड़ा।

### पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवाद

#### वैचारिक विरोध —

पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवाद का अर्थ साहित्य और कला क्षेत्रीय आन्दोलन के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हुआ था। इसके स्वरूप और उद्देश्य का स्पष्टीकरण करने वाले कई चोपगा पत्र भी उस समय प्रकाशित किए गए थे। साहित्य क्षेत्रीय प्रतीकवादी आन्दोलन के मुख्य प्रेरक येलार्ने माने जाते हैं। उन्होंने इसको एक पुष्प और संघटनात्मक आन्दोलन का रूप प्रदान किया। वास्तव में इस आन्दोलन का यथार्थवाद, प्रकृतवाद तथा अतिव्यथार्थवाद के विरुद्ध आदर्शवाद के पोषक तथा यथार्थत्मक अनुभूतियों के विरोधक आन्दोलन के रूप में हुआ।

#### प्रतीकों का क्षेत्र और महत्व

पाश्चात्य संघीया प्रणालियों में प्रतीकवादी आन्दोलन अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता और विनिष्पत्ता की दृष्टि से महत्व रखता है। जैसा कि वीझे कहा गया है कि प्रतीक

एक चिन्ह बचवा प्रतिक्रम के अर्थ में एक सत्य के स्तर पर उससे मिलते जुलते दूसरे सत्य का जस्सेज है। प्रतीकवादियों के अनुसार प्रत्येक सत्य एक माननात्मक बचवा दृष्टात्मक सत्य की निहित रचता है। दूसरे शब्दों में असुर्य भावना को मूर्त अभिव्यक्ति देना प्रतीक की विशेषता होती है। कहने का आशय यह है कि प्रतीक का आचार रूप भाव गुण आकार प्रयोग भाषि होते हैं और इन्हीं की समता के कारण आचार्य के स्थान पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त शैली को प्रतीकवादी कहते हैं। इसलिए हमें अभिव्यक्ति की एक सहाय शैली के रूप में माग्य किया जा सकता है।

प्रतीकवाद का मूल आचार यह भावना है कि किसी भी भौतिक पदार्थ का अर्थन हमारे हृदय में किसी न किसी अनुभूति को जन्म देता है। यह अनुभूति किसी समस्तु की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में वह वस्तु जिसे प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है किसी अभ्यक्त की व्यक्त अभिव्यक्ति होती है। प्रतीकों के दो गुणों के आचार पर उन्हें साहित्यिक तथा वैज्ञानिक प्रतीकों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रतीकवाद का क्षेत्र आरम्भ में बहुत सीमित होता है क्योंकि उस समय वह अपने भौतिक अर्थ का अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। धीरे धीरे इसका क्षेत्रवत् विस्तार होता चला गया। तब इससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य सत्यों की ओर ध्यान दिया गया। उदाहरण के लिए इस समय का उदाहरण हुआ कि मनुष्य की अर्थ क्षेत्रीय प्रतिक्रियाएँ सूत्र रूप में प्रतिक्रियात्मक होती हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीक आचार्य अर्थता के पुरक होते हैं।

### भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद का आरम्भ किसी आधुनिक गुणम मान्योक्त के रूप में नहीं हुआ। यहाँ स्पष्ट रूप से प्रतीकों का प्रयोग बहुरा कथा और साहित्य के क्षेत्र में होता रहा है। प्रतीकों के प्रयोग के पीछे जो मूलसूत्र चारना की उसका जस्सेज हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ एक प्राचीनता का सम्बन्ध है हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के प्रतीक गम्भीर और सार्थक रूप से प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। इनका प्रयोग वैदिक काल तक से होता है क्योंकि वेदों में बहुरा प्रतीकात्मक कथार्ये मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् भाषि साहित्य में प्रतीकात्मक रूप में अनेक

आख्याय प्रस्तुत किये गये हैं। पुराण, महाभारत, भीमदूमायबत तथा इनके पश्चात् आधुनिक युग तक किसी न किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में मिलता है। इसलिए जब हम प्रतीकवाद का अध्ययन मूलतः ऐतिहासिक रूप में करते हैं तब उपर्युक्त तथ्य की ध्यान में रखना आवश्यक है। परन्तु जैसा कि ऊपर उक्त किया गया है, एक आधुनिक विचारारमक साहित्य कला क्षेत्रीय आन्दोलन विशेष के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ आधुनिक पाश्चात्य साहित्य कला में ही हुआ।

संस्कृत साहित्य के पश्चात् हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से होता रहा है। यह परम्परानुगत बर्ण में भी है तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में हुए आन्दोलन के प्रभाव के फलस्वरूप भी। क्योंकि हिन्दी का कितना भी भक्ति संप्रदाय की रीति काव्य है उसमें प्रतीकों का प्रयोग परम्परानुगत बर्ण में होता रहा है। उदाहरण के लिए कबीर जारि के साहित्य में यह प्रतीक विभाग अपेक्षाकृत अधिक सार्थक रूप में मिलता है।

### अतिव्यपार्यवाद का वैचारिक आधार

पारचाय समीक्षा के क्षेत्र में जो मुख्य आन्दोलन हुए उनमें अतिव्यपार्यवाद की स्थापक रूप से प्रकल्पित था। इस आन्दोलन का जन्म बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। इस आधुनिक युग में आरम्भ होने वाले साहित्य और कला क्षेत्रीय अन्य अनेक आन्दोलनों की भाँति इसकी जन्मभूमि भी फ्रांस ही थी। इस आन्दोलन के मूल में एक प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना थी जो व्यपार्यता के रूप में पहले से ही उपज चुकी थी। परन्तु इसका अस्तित्व मानसिक और सांकेतिक रूप में ही था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया और इसकी स्पष्ट बर्ण आरम्भ हुई।

### ऐतिहासिक प्रसार

ऐतिहासिक रूप से इसका बर्ण यह लगाया गया कि वह सत्ता जो व्यपार्य होते हुए भी दृष्टिगत न हो। इसके ऐतिहासिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से आन्ड्रे ब्रैटन का नाम



एक विश्व अथवा प्रतिक्रम के अर्थ में एक सत्य के स्तर पर उसके मिश्रित बुल्ले हुए सत्य का उल्लेख है। प्रतीकवादियों के अनुसार प्रत्येक शब्द एक भावनात्मक अथवा दृश्यात्मक सत्य की निहित रचना है। दूसरे शब्दों में अमूर्त भावना को मूर्त अविभक्तिक रचना प्रतीक की विशेषता होती है। कहने का आशय यह है कि प्रतीक का आकार रूप भाव गुण आकार, प्रयोग आवि होत हैं और इन्हीं की समता के कारण साधारण के स्थापन पर विशेष अर्थ में प्रयुक्त सीसी को प्रतीकवादी कहते हैं। इसलिए हम अभिव्यक्ति की एक सहज सीसी के रूप में मान्य किया जा सकता है।

प्रतीकवाद का मूल आचार यह भावना है कि किसी भी भौतिक पदार्थ का वर्णन हमारे हृदय में किसी न किसी अनुभूति को जन्म देता है। यह अनुभूति किसी समस्तु की ओर संकेत करती है। दूसरे शब्दों में यह वस्तु त्रिषु प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है किसी अव्यक्त की व्यक्त अविभक्तिक होती है। प्रतीकों के दो गुणों के आचार पर उन्हें साहित्यिक तथा वैज्ञानिक प्रतीकों के रूप में विभाजित किया जा सकता है। प्रतीकवाद का क्षेत्र आरम्भ में बहुत सीमित होता है क्योंकि उस समय यह अपने भौतिक अथवा शब्द अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। धीरे-धीरे इसका क्षेत्र विस्तार होता जाता गया। तब इससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ अन्य धर्यों की ओर ध्यान दिया गया। उदाहरण के लिए इस लक्ष्य का उद्घाटन हुआ कि मनुष्य की सर्व श्रेणीय प्रतिक्रियाएँ सुत्र रूप में प्रतिक्रियात्मक होती हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीक भाषागत अपूर्णता के पुरक होते हैं।

### भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद

भारतीय साहित्य में प्रतीकवाद की आरम्भ किसी जापानिक मुनीन मान्योसुन के रूप में नहीं हुआ। यहाँ स्फुट रूप से प्रतीकों का प्रयोग बहुधा कला और साहित्य के क्षेत्र में होता रहा है। प्रतीकों के प्रयोग के पीछे जो मूलभूत कारण भी उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। जहाँ तक प्राचीनता का सम्बन्ध है हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के प्रतीक गम्भीर और सार्थक रूप से प्रयोग में लाये जाते रहे हैं। इनका प्रयोग वैदिक काल तक से होता है क्योंकि वेदों में बहुधा प्रतीकार्थक कथार्यें मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त परवर्ती उपनिषद् आदि साहित्य में प्रतीकार्थक रूप में अनेक

आस्पाद प्रस्तुत किये गये हैं। पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा इनके परचाय आधुनिक युग तक किसी न किसी रूप में प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में मिसता है। इसलिए जब हम प्रतीकवाद का अध्ययन करते हैं तो ऐतिहासिक रूप में करते हैं जब उपर्युक्त ग्रन्थों को ध्यान में रखना आवश्यक है। परन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है एक आधुनिक विचारार्थक साहित्य कला क्षेत्रीय आन्दोलन विशेष के रूप में प्रतीकवाद का आरम्भ आधुनिक पारचाय साहित्य कला में ही हुआ।

संस्कृत साहित्य के परचाय हिन्दी साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुरता से होता रहा है। यह परम्परानुगत अर्थ में भी है तथा आधुनिक पारचाय साहित्य में हुए आन्दोलन के प्रभाव के पक्षस्वरूप भी। क्योंकि हिन्दी का जितना भी भक्ति व्यथा रीति काव्य है उसमें प्रतीकों का प्रयोग परम्परानुगत अर्थ में होता रहा है। उदाहरण के लिए कबीर जयि के साहित्य में यह प्रतीक विधान अपेक्षाकृत अधिक सार्थक रूप में मिसता है।

### अतिव्यथवाद का वैचारिक आधार

पारचाय समीक्षा के क्षेत्र में जो मुख्य आन्दोलन हुए उनमें अतिव्यथवाद भी व्यापक रूप से प्रचलित था। इस आन्दोलन का जन्म बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हुआ था। इस आधुनिक युग में आरम्भ होने वाले साहित्य और कला क्षेत्रीय अल्प अनेक आन्दोलनों की मति इसकी अन्तर्भूमि भी फाँट ही थी। इस आन्दोलन के मूल में एक प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना भी जो व्यथार्यता के रूप में पहले से ही उपज चुकी थी। परन्तु इसका अस्तित्व मानसिक और सांकेतिक रूप में ही था। प्रथम महायुद्ध के परचाय इस प्रतिक्रिया ने व्यावहारिक विद्रोहात्मक रूप धारण कर लिया और इसकी स्पष्ट चर्चा आरम्भ हुई।

### वैज्ञानिक प्रसार

वैज्ञानिक रूप से इसका अर्थ यह समझा गया कि वह सत्ता को व्यथित करते हुए ही दृष्टिगत न हो। इसके वैज्ञानिक स्पष्टीकरण की दृष्टि से आगे जैसन का नाम

विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय है जिसने क्रमशः सन् १९२४ तथा सन् १९३० में दो बोधोपवा पत्र भी प्रकाशित किए और इस आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार प्रदान करने में योग दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९३० के बाद यह आन्दोलन फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों में भी फैलने लगा। इंग्लैंड में इस सिद्धान्त को बहुत प्रचारित किया गया। वहाँ हर्बर्ट रीड ने इसका संघासन और प्रसारण किया। उसने न केवल अठियचार्यवाद का समर्थन किया बल्कि सक्रिय रूप से इस विचारधारा को संघटनात्मक आन्दोलन में भी योग दिया।

### अन्य विचारधाराओं से तुलना

सैद्धान्तिक रूप से अठियचार्यवादी विचारकों का यह मतभ्रम है कि कला अथवा साहित्य को पूर्ण रूप से बौद्धिक नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने पर मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अंतर्बिरोध के निवृत्त की सम्भावनाएँ कम हो जायँगी। उनके विचार से सम्य सम्राज में प्रचलित नैतिक दृष्टिकोण का आदर निरर्थक है। वे स्वच्छन्दतावाद के समर्थक हैं वहाँ कोई नैतिक बन्धन नहीं स्वीकार करना पड़ता। अठियचार्यवादी विचारक पूर्वस्थापित बौद्धिक तथा नकारात्मक चित्रों से अपने आपको मुक्त करना चाहते थे।

इस प्रकार से यह आन्दोलन एक प्रकार से पूर्वकाळीन रोमांटिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुआ था। इस दृष्टिकोण से अठियचार्यवादी आन्दोलन को आदर्शवाद तथा नियतिवाद का विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि इसकी मान्यताएँ आदर्शात्मक तथा नीतिपरक दृष्टिकोण की विरोधी हैं। इन विचारकों के अनुसार आधुनिक युग में नीति तथा आदर्श के सिद्धांत अस्मानहारिक तथा कृत्रिम हो गए हैं। इसीलिए वे उनको निरर्थक कहकर उनका बहिष्कार करते हैं।

### अस्तित्ववादी विचार प्रणाली

पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियों के निर्धारण में जिन आधुनिक आन्दोलनों ने विशेष रूप से योग दिया है उनमें अस्तित्ववाद का भी विशेष स्थान है। अस्तित्ववाद को संसार

की आधुनिकतम विचार प्रणालियों में से एक माना जाता है। आधुनिक युग के चिंतने की दार्शनिक विचारधाराओं से सम्बन्धित आन्दोलन हुए इनमें अस्तित्वाद का स्थान इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि इसने साहित्य के क्षेत्र को विशेष रूप से प्रभावित किया। एक दार्शनिक विचारधारा अथवा आन्दोलन के रूप में अस्तित्वाद का आरम्भ १९वीं सताब्दी में हुआ था। इसके प्रारम्भिक प्रवर्तकों में कीर्कगार्ड का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

### आध्यात्मिक संकट का दर्शन

अस्तित्वादी विचारधारा मूलतः आध्यात्मिक संकट का दर्शन है। इसके प्रति विभिन्न विचारकों का आकर्षण यही संकटापन्न स्थिति है। हमारी प्रत्येक आध्यात्मिक स्थिति मूलतः संकट की स्थिति है। मनुष्य परिस्थितियों की विचलता के कारण समाज का दास बन जाता है। और उस मूल तत्त्व से अपरिचित रहता है जो अनावश्यक सर्वों से आवृत रूप में उसे मिलता है। इसलिए अस्तित्त्ववाद इस आध्यात्मिक संकट की शीलिक व छटीक व्याख्या करता हुआ पूर्ण प्रतिभा से उसका निराकरण करता है।

#### मूल्य परिवर्तन—

प्रत्येक नवीन युग का आरम्भ एक प्रकार की प्रतिधिया के रूप में होता है। यह प्रतिधिया मूलतः विगत युग की संज्ञात्मक मान्यताओं के विरुद्ध होती है। यह भी एक संकट को जन्म देती है। दूसरे शब्दों में इसके मूल में एक ऐसी प्रतिधिया होती है जो विगत मान्यताओं से स्वतंत्र होने की क्रिया करती है। इन प्रतिधिया की विभिन्न स्थितियों में एक स्थिति ऐसी भी आती है जब पुरानी मान्यताओं के प्रति मनुष्य का अनासक्त प्रवृत्त होने लगता है और कई मान्यताओं के प्रति भी निरक्षयतात्मक रूप से उसकी आस्था पड़ नहीं हो पाती। इस स्थिति विशेष को भी अस्तित्वादी विचारक संकट की स्थिति कहते हैं जो मूल्य निर्धारण का संज्ञात्मक क्रम होता है।

### अस्तित्वाद और उसकी साहित्यिक परिणति

साहित्य के क्षेत्र में अस्तित्त्ववाद स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हुआ। उसकी जनि

यह भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष को अधिक महत्व देता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि स्वच्छन्दतावाद की प्रतिनिधा के रूप में अतिरिक्तवाद का जन्म हुआ। अस्तित्वाद का प्रमुख प्रवर्तक विचारक कीर्कगार्ड स्वयं स्वच्छन्दतावाद का विरोधी था। कीर्कगार्ड का यह विचार है कि मनुष्य प्रायः बहुत ही वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहता है तथा उन्हें उचित रूप से समझ नहीं पाता।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की प्रत्येक वैयक्तिक समस्या का किसी न किसी रूप में उसकी धार्मिक भावना अथवा विश्वास से अवश्य सम्बन्ध होता है। अपने इसी दृष्टि कोण के कारण कीर्कगार्ड को एक अस्तित्वा अथवा धार्मिक अस्तित्वावादी विचारक माना जाता है क्योंकि वहाँ एक ओर वह धार्मिक भावनाओं को गौरवपूर्ण मानता है वहाँ दूसरी ओर बर्सेतर भावनाओं को पाप की स्थिति मानता है। इसीलिए कीर्कगार्ड का यह विचार है कि अस्तित्वा विचारवाद का रहस्य कीर्कगार्ड का रहस्य है और अस्तित्वा वाद ईश्वर का साक्षात्कार करने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया एक प्रयत्न है।

पारम्भात्मक साहित्य में अस्तित्वावाद का समावेश सबसे अधिक फ्रांसीसी साहित्य में मिलता है। मुडोत्तर साहित्य की सृजनशील प्रवृत्तियों में इस वाद का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस काल में लिखी गई कहानियों तथा उपन्यासों में इस सिद्धांत का क्रियात्मक रूप उल्लिखित किया जा सकता है। नाटक के क्षेत्र में भी उपन्यासों और कहानियों की भाँति सार्त्र ने इस प्रवृत्ति को समाविष्ट किया। सार्त्र के अतिरिक्त बूछर महत्वपूर्ण क्रियात्मक साहित्यकार एकवर्त कामू है। इन्हीं के समान अन्य भी बहुत से विचारक हैं जिनकी कृतियों में अस्तित्वावादी जीवन दर्शन के संकेत मिलते हैं और जो अस्तित्वावादी मानकों का निर्धारण करते हैं।

### आदर्शवादी वैचारिक प्रसार

पारम्भात्मक साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक युव में जितने भी प्रतिक्रियावादी आन्दोलन आरम्भ हुए उन सबके मूल में आदर्शवाद का विरोधी सिद्धान्त था। इसलिए आदर्शवाद को मध्य कासीन साहित्य की सर्वप्रमुख प्रवृत्ति के रूप में मान्य किया जा सकता है। आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो मनुष्य को जीवन में उदात्त तत्त्वों के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों की अवगति कराती है। अस्तित्वा वै ही उपलब्धियाँ

मनुष्य के आत्मिक सन्तोष और सुख का मूल कारण होती है। चूँकि इन बाब्यापों का सम्बन्ध मनुष्य के अंतर से है इसलिए आदर्शवाद मनुष्य की विचारधारा भी कहा जा सकता है।

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार बाह्य सुख निरर्थक है इसलिए उनके प्रति उपासीन रूढ़िवादी है। उसे स्थायी सुख और शांति की खोज करनी चाहिए तथा यह समझना चाहिए कि मनुष्य के शरीर में निवास करने वाली आत्मा अनन्तर जाती है और उसका भौतिक मुहों से सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार से मानव जीवन की उदात्तता की प्रेरणा देने वाली इस आदर्शवादी विचारधारा की मूल वृत्ति मनुष्य की होती है। इसके अतिरिक्त इसे आदर्शवाद की एक चारखत विचारधारा के रूप में देखा जा सकता है। आदर्शवादी मानवेंद्र इसी कारण से चिरतनता के आशंक होते हैं तथा सामयिक और यथार्थवादी विचारधारा के विरोधी होते हैं।

### हिन्दी साहित्य और आदर्शवाद

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि जहाँ तक हिंदी साहित्य का सम्बन्ध है उसमें आरम्भ से आदर्शवादी विचारधारा का विद्यमानता से उपासीन होता रहा है। आदर्शवादिता उसका प्रमुख अंग रही है और हिंदी के प्रारम्भिक मुनीन साहित्य की विभिन्न दिशाओं में उसका योग रहा है। हिंदी साहित्य में आदर्शवादी विचारधारा की इस प्रमुखता के कारणों का यदि हम विस्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि ये बहुत कुछ स्वयं भी स्पष्ट हैं। सर्वप्रथम यह है कि हिंदी में अपनी पूर्ववर्ती ग्रन्थ भाषा परम्पराओं से प्रभाव ग्रहण किया उनके साहित्यों में भी आदर्शवादी विचार तत्त्वों की बहुलता रही है। उदाहरण के लिए हिंदी पर आरम्भ में संस्कृत साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। और संस्कृत साहित्य में आदर्शवादिता की व्याप्ति बहुत अधिक रही है।

इसके अतिरिक्त भारतीय जने धातु में भी आदर्श पर बहुत अधिक पीरव विद्यमानता है। इनके आत्मिक तथा पीरविक आस्थाओं के प्रमुख चरित्र में भी आदर्शवादिता के प्रतीक हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी साहित्य में भी इनसे प्रेरित चरित्र साहित्य है, जहाँ आदर्शवादी तत्त्वों का समावेश उसी प्रकार से बहुलता पूर्वक मिलता है जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य मुहों पर आचारित हिन्दी साहित्य में। आरम्भिक

का इतिहास भी यहाँ जगमे हुए महापुरुषों की आदर्श गाथाओं से भरा हुआ है। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दी में जितना भी साहित्य ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित है उसमें भी आदर्शत्मक तत्व बहुश्रुता से समावेशित मिलते हैं।

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास कास बीर गाथा युग में भी जो साहित्य रचा गया वह बीरता के आदर्शों से परिपूर्ण है। भक्ति युग में तो नायिक आदर्शों की इतनी भूम रही कि इस युग में रचा गया प्रायः सारा का सारा हिन्दी साहित्य आदर्शत्मकता के तत्वों से भरा हुआ है। रीति युग में हिन्दी कवियों के सामने मुख्यतः परम्परागत काव्यारूप ही रहे। और आधुनिक युग में आदर्शवादी विचार परम्परा अपने महत्त्व को खसुम्ण बनाये हुए है जब कि विचार जगत में इतनी अधिक भिन्न भिन्न और परस्पर विरोधी मतों पर आधारित चिन्तन बाटाएँ अपनी श्रेष्ठ गत संकृषितता के कारण एक प्रकार से अपने स्वामित्व में स्वयं ही बाधक सी बनी हुई हैं। यों हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम विकास युग से लेकर वर्तमान युग तक आदर्शवादी विचार तत्व किसी न किसी रूप में उसे प्रभावित करते रहे हैं और अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा उसमें बहुश्रुता से अधिक समावेशित हुए हैं।

इस प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गत जो विविध वैचारिक आन्दोलन समय समय पर आरम्भ हुए तथा उनके द्वारा समीक्षा की जो भिन्न भिन्न प्रणालियाँ जन्मीं उनका संक्षिप्त और परिचयात्मक विवरण ऊपर उपस्थित किया गया है। भारतीय साहित्य शास्त्र में जिन समीक्षा सम्प्रदायों का प्रचार व प्रसार मिश्रता है तथा उनके अन्तर्गत जो मुख्य मानदंड विषयक आरनाएँ मिलती हैं, उनका संक्षिप्त विवरण इन दोनों के पारस्परिक साम्य का भी सूचन करने के साथ-साथ, नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

### पाश्चात्य प्रभाव के पूर्व की स्थिति

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पाश्चात्य सम्पर्क में आने के पूर्व हिन्दी पर विशेषतः संस्कृत समीक्षा सिद्धांतों का ही प्रभाव व्याप्त था। दूसरे सत्रों में यह कहा जा सकता है कि इसके पूर्व की सम्पूर्ण हिन्दी समीक्षा का आधार संस्कृत साहित्य शास्त्र के सिद्धान्त थे। इसलिए भारतीय समीक्षा प्रणालियों के रूप में संस्कृत के ही प्रमुख सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख

सम्प्रदाय जितमें रस सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत इति सिद्धान्त, रीति सिद्धांत तथा ब्रह्मोक्ति सिद्धांत आदि हैं—ही परवर्ती काल में हिन्दी समीक्षा शास्त्र का मूल आचार रहे।

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा का अन्त होने के पश्चात् परवर्ती युग में हिन्दी समीक्षा शास्त्र का जो विकास रीति युग में हुआ उसका आचार भी प्राम उपर्युक्त सम्प्रदाय ही रहे है। रीति युग के पश्चात् आधुनिक युग में भी जिस रूप में समीक्षा का विकास हुआ उसके मूल में यह सिद्धान्त ही आचार रूप में स्थित रहे है पारश्चात्य प्रभाव भी पर्याप्त रूप में मिलता है।

### भारतीय रस सिद्धान्त

संस्कृत के रस सिद्धांत को संस्कृत समीक्षा शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में मान्य किया जाता है। संस्कृत साहित्य में यह सिद्धांत बहुत प्राचीन है। प्राचीनता की दृष्टि से संस्कृत में 'रस' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम वेदों में मिलता है। परन्तु न तो उस अर्थ में यह शब्द आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और न वेदों में इस शास्त्र का सम्बन्ध बिलम्ब ही मिलता है। अनुमान यह लगाया जाता है कि वैदिक काल में जो क्रियात्मक साहित्य रचा या रखा था, उसी में संकेत रूप में साहित्य पारशीय विविध वैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग किया गया होगा। यही नहीं माने बल्कि संस्कृत समीक्षा का जो विकास हुआ होगा उसके आधारभूत सिद्धान्त तथा प्रेरक सूत्र भी इन्हीं क्रियात्मक शब्दों में रहे होंगे जैसे कि वे पारश्चात्य यूनानी साहित्य के अन्तर्गत माने गये 'इतिमड' आदि महाकाव्यों में मिलते हैं और जिनसे सूत्र संकेत ग्रहण करके यूनानी साहित्य शास्त्र जैसे समुद्र और महात् परम्पराओं का आविर्भाव हुआ। कहने का आशय यह है कि वैदिक साहित्य में इस शास्त्र का सैद्धान्तिक बिलम्बण यद्यपि नहीं मिलता परन्तु वहाँ पर इस शब्द का प्रयोग अत्यन्त मिलता है जो परवर्ती युग में वाच्य द्वारा प्राप्त मान्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।



भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्बन्ध रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छत्तीस अध्यायों के इस बृहत् ग्रन्थ में नाट्य तत्त्वों के सम्बन्ध में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पत्ति' आदि बचकर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परवर्ती समीक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आचार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मूल स्वाधी भाव बताए हैं। वे रीति श्लेष, उत्साह और कुणुप्ता हैं। इनके आधार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृ गार, रौद्र और तथा भीमत्स हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आधारीत अन्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृ गार, रौद्र और भीमत्स के आधार पर उन्होंने क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों का निरर्शन किया। इनमें से हास्य का स्वाधी भाव हास करुण का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्बोधित किया। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर आए हैं भरत के केवल आठ रसों को ही मान्य किया। नवाँ रस शान्त रस के रूप में परवर्ती काल में मान्य किया गया।

रस संख्या —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के पश्चात् नवाँ रस शान्त रस के रूप में उद्भूत के द्वारा किया गया। फिर कुछ परवर्ती आचार्यों ने वात्सल्य आदि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर दिया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकारिता आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृ गार रस को ही मुख्य रस माना। शृ गार रस की प्रतिष्ठा रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विविध पलों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मूलतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

का कारण इस भाव तत्व में ही निहित रहता है। इसलिए भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कला की आत्मा से होता है। यह भाव प्राधान्य ही रस सिद्धान्त का मूल आधार है।

### रसानुभूति की प्रक्रिया

भट्टभास्कर ने रसानुभूति की प्रक्रिया का विष्लेषण करते हुए बतलाया है कि समस्त काव्य स्थापारों को उनके तीन पक्षों में विभक्त किया जा सकता है। ये तीन पक्ष अधिवा, भावकत्व तथा भावकत्व होते हैं। उनका विचार है कि इनमें से प्रथम दो पक्षों अर्थात् अधिवा और भावकत्व के कारण मनुष्य के हृदय में रस का बोध होता है और भाव की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति भावकत्व का मूल क्रियाशील होने लगता है। इससे फलस्वरूप भाव का आनन्द प्राप्त होता है। इसी भावना को रस कहा जाता है जो मूलतः आनन्द वृत्ति है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें केवल सर्व गुण विशेष रहता है, रस और तम बुद्धों का लोप हो जाता है। इस प्रकार से यह रस क्या एक प्रकार के उच्चतर आनन्द की वृत्ति होती है।

### भारतीय रस सिद्धान्त और पादशास्त्र मान्यताएँ

भारतीय साहित्य शास्त्र में संस्कृत समीक्षा के अन्तर्गत रस सिद्धान्त प्राचीनतम माना जाता है। काव्य में रस की प्रतिष्ठा उसकी आत्मा के रूप में करते हुए इस सिद्धान्त की व्यापक दृष्टिकोण से विवेचना की गयी है। पादशास्त्र साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में रस का विद्वेषण प्रायः नाटक और महाकाव्य के प्रसंग में किया गया है, परन्तु उन्हे मुख्यता नहीं दी गयी है। शोषे आदि ने अग्निव्यंजन के संदर्भ में जिस सहजानुभूति की व्याख्या की है, वह भी इसी से मिश्रणी-बुझती है। परन्तु रस विषयक भारतीय और पादशास्त्र मान्यताओं में मुख्य अन्तर यही है कि यहाँ रसानुभूति पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है परन्तु पादशास्त्र दृष्टिकोण से काव्य को अनुकृति मानकर अनुकरण पर बल है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय रस सिद्धान्त मुख्यतः दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार लेकर स्थापित किया गया है। पादशास्त्र रूप वाद आदि आन्दोलनों की प्रति

भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्यक् रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छठीं अध्यायों के इस बृहत् अंग में नाट्य रसों के सम्बन्ध में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र 'विभाक्तामुभाक् व्यभिचारि संवीयात् रस निव्यति' शब्दों से कहकर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परन्तु समीक्षा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आचार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाक् अनुभाक् तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निव्यति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मूल स्वामी भाव बताए हैं। ये रीति क्रोध, उत्साह और पुन्युत्साह हैं। इनके आचार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृंगार, रौद्र, भीरु तथा बीभत्स हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आचार रिक्त भाव्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृंगार, रौद्र, भीरु और बीभत्स के आचार पर उन्होंने क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों का निर्धारण किया। इनमें से हास्य का स्वामी भाव हास करुण का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्दिष्ट किया। जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर जाएँगे भरत ने केवल आठ रसों को ही मान्य किया। नवाँ रस शास्त्र रस के रूप में परन्तु काल में मान्य किया गया।

रस लक्ष्या —

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के पश्चात् नवाँ रस शास्त्र रस के रूप में उद्भूत के द्वारा किया गया। फिर कुछ परन्तु आचार्यों ने वास्तव्य भावि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर लिया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकतर आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृंगार रस को ही मुख्य रस माना। शृंगार रस की प्रतिष्ठित रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विविध पक्षों का अखण्ड विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मुख्यतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

एक ही शक्ति का अर्थ है कि निहित शक्ति है। इसदिग् ब्रह्म का अर्थ है सम्पूर्ण कला  
की शक्ति है। यह नाम प्राच्य ही एक सिद्धान्त का मूल आधार है।

मनुष्य की प्रक्रिया

मनुष्य के अस्तित्व की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए बताया है कि समस्त  
काय असाध्य ही एक ही शक्ति से प्रेरित होता है। ये तीन पर  
अभिधा, माध्याम्य का अर्थ है। इस विचार है कि इनमें से प्रथम दो पर  
अभिधा अर्थात् अस्मत् के अर्थ में एक ही शक्ति से प्रेरित होता है और  
माय की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अस्मत् का अर्थ प्रियाणिक होने लगा है।  
इससे एकलक्षण धार का अर्थ होना है। अर्थात् अस्मत् का अर्थ होना है।  
को मूलतः मान्य था। अर्थात् अस्मत् का अर्थ है कि इनमें केवल एक ही शक्ति  
विद्यमान है, यह और एक ही शक्ति का अर्थ है। इन प्रकार के यह एक ही  
एक प्रकार के अस्मत् का अर्थ होना है।

भारतीय एक सिद्धान्त और पञ्चायत सम्प्रदाय

भारतीय साहित्य धारण में अत्यन्त सर्वांग के अन्तर्गत एक सिद्धान्त अर्थगत  
माना जाता है। काय में एक ही शक्ति से प्रेरित सभी शक्तियों के अर्थ है। इन  
सिद्धान्त की व्यापक शक्ति है। अर्थात् अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
लोभ में एक ही शक्ति से प्रेरित सभी शक्तियों के अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
यह मूलतः पही ही शक्ति है। अर्थात् अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
धृति की व्याख्या की है, यह ही शक्ति से प्रेरित सभी शक्तियों के अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
और पारंपारिक आध्यात्मिकों में अत्यन्त अर्थगत है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
विधा गया है परन्तु पारंपारिक शक्तिधारी के अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
कल है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय एक सिद्धान्त अर्थगत है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।  
आधार लेकर स्थापित किया गया है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है। अस्मत् का अर्थ है।

भरत सूत्र —

रस सम्प्रदाय के व्यवस्थित रूप में प्रवर्तन की दृष्टि से भरत मुनि का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में इसका सम्यक् रूप से सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। छत्तीस अध्यायों के इस बृहत् ग्रन्थ में नाट्य तत्त्वों के सम्बन्ध में रस शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रस विषयक का भरत सूत्र "विभावानुषाङ्ग व्यभिचारि संयोगात् रस तिप्पति" शब्दे बखबर इस सम्प्रदाय का मूल सूत्र सिद्ध हुआ। परवर्ती सजीवा शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की, उसका आधार भी यही सूत्र रहा जिसके अनुसार विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की तिप्पति होती है।

रस वर्गीकरण —

मुनि भरत ने इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने सर्व प्रथम चार मुख्य स्थायी भाव बताए हैं। ये रीति क्रोध, उल्हाह और पुत्रुप्सा हैं। इनके आधार पर भरत ने चार मुख्य रसों का निर्धारण किया जो क्रमशः शृंगार, रोद और तथा वीर्यस्य हैं। पुनः उन्होंने इन चार मुख्य रसों पर आधा-पिष्ट अन्य चार रसों का उल्लेख किया। मुख्य चार रसों शृंगार, रोद वीर और वीर्यस्य के आधार पर उन्होंने क्रमशः हास्य कदन अद्भुत और भयानक रसों का निवर्तन किया। इनमें से हास्य का स्थायी भाव हास कदन का शोक अद्भुत का विस्मय तथा भयानक का भय निर्वर्तित किया। वैसे कि हम पीछे उल्लेख कर आए हैं भरत ने केवल आठ रसों को ही मान्य किया। तथा रस शान्त रस के रूप में परवर्ती काल में मान्य किया गया।

रस संख्या —

वैसे कि ऊपर उल्लेख किया गया है इस सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए भरत ने आठ रसों का उल्लेख किया है। भरत के परचात तथा रस शान्त रस के रूप में उद्भूत के द्वारा किया गया। फिर कुछ परवर्ती आचार्यों ने वास्तव्य आदि रसों का भी समावेश इस संख्या में कर लिया परन्तु इस सम्प्रदाय के अधिकार्य आचार्यों ने इन सभी रसों में से शृंगार रस को ही मुख्य रस माना। शृंगार रस की प्रतिष्ठित रस राज के रूप में की गयी है और इस रस के विविध पक्षों का अत्यन्त विस्तृत विश्लेषण किया गया है। परन्तु मूलतः रस का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय में निवास करने वाले भाव से होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि किसी भी कला के मूल में उसकी उत्पत्ति

सर्वप्रथम अक्षरों का सूत्रम विभाजन किया। उन्होंने अनुप्रास यमक, रूपक शीपक, कृपमा भासन प्रतिबन्धना अर्थात्तरसास व्यतिरेक विभाजना अतिशयोक्ति, उपदेशा, समाशोक्ति यथासंख्य स्वमाशोक्ति अपश्रुति, विरोधोक्ति सङ्कोक्ति, भयस रसवत् ऊर्जस्व, पर्यायोक्ति समाहित चदास इत्येव तुभ्योगिता अपस्तुत प्रसंगा व्याज श्रुति, निदर्शना कृपमा, रूपक, उपमेयोपमा परिकृति संदेश अनन्वय उपप्रकारमय संश्रुष्टि भाषिक और भाषी आदि अक्षरों का भेद सहित विद्वेषण किया।

### दंभी का दृष्टिकोण

वामह के पश्चात् दंभी ने अपने ग्रन्थ "काम्यारस" में अक्षर शास्त्र का विवेचन किया। उन्होंने काम्य के सौन्दर्यकारक ध्वनि अथवा विविष्ट गुणों को अक्षर बताया। अतिशयोक्ति अक्षर को उन्होंने अक्षरों में उत्तम ठहूगया तथा अतिशयोक्ति को अन्य अक्षरों का परम आशय बताया। इनके अतिरिक्त रस के द्वारा उत्पन्न आत्मन्य प्रदान करने वाले भाव कथन को उन्होंने रसवत् अक्षर कहा। फिर मर्म की अभिव्यक्ति करने वाले अक्षर को ऊर्जस्व अक्षर कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रेय तथा इत्येव अक्षरों की भी व्याख्या की।

### उद्भट की अक्षर व्याख्या

दंभी के पश्चात् आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ "काम्यारसकार शार लघुह" में रसवत् अक्षर की व्याख्या करते हुए बताया कि जिस वाक्य में गूँवार आदि रसों का उदय स्पष्टतः दृश्य हो उसे रसवत् अक्षर कहते हैं। फिर प्रेय अक्षर के विषय में उन्होंने लिखा है कि रति आदि भाव से युक्त अनुभाव आदि के द्वारा जिस वाक्य की रचना की जाए वह प्रेय अक्षर से युक्त होता है। ऊर्जस्व अक्षर के विषय में उन्होंने बताया कि क्रोध आदि के कारण अनीरिय में प्रवृत्त भाव अथवा रस रचना को ऊर्जस्व अक्षर कहते हैं। समाहित अक्षर की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि वही रस, भाव रसाभास तथा आश्रमास की दान्ति का वर्णन हो तथा अन्य रसों के

यह काम्य के बाह्य रूप से सम्बन्धित न हाव हुए उसकी आत्मा अथवा आन्तरिक रूप से सम्बन्ध है।

### भारतीय अलंकार सिद्धान्त

संस्कृत समीक्षा के अन्तर्गत अलंकार सिद्धांत भी बहुत महत्व रखता है। जिस प्रकार से संस्कृत के रस सिद्धांत के अंतर्गत काम्य की आत्मा को महत्व और प्रदानता दी गई है उसी प्रकार से अलंकार सिद्धांत के द्वारा काम्य के शरीर को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। इसके अनुसार काम्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व उसके अलंकार होते हैं क्योंकि इनके द्वारा काम्य के शरीर का अलंकार होता है तथा सौन्दर्य बृद्धि होती है। चूंकि काम्य शरीर के मुख्य तत्व शब्द तथा अर्थ होते हैं इसलिए अलंकार भी क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के रूप में विभाजित किए जाते हैं।

प्राचीनता —

अलंकार सिद्धांत की बर्षा संनठित रूप में यद्यपि बहुत बाद में ही मिलती है परन्तु प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्व भी रस सिद्धांत की अपेक्षा कम नहीं है। अलंकार की बर्षा भी सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में मिलती है। संस्कृत साहित्य में शास्त्रीय रूप में सबसे पहले रस सिद्धांत के प्रणेता मुनि भरत ने ही अपने ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में अलंकार का प्राथमिक विभाजन क्रिया और उपमा बीपक रूपक तथा यमक नामक केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया। परन्तु यह विभाजन आगे चलकर अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत हो गया।

### भामहू का अलंकार विवेचन

अलंकार सिद्धांत को व्याख्या करने वाला सर्व प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ 'काम्यालंकार' है जिसके रचयिता आचार्य भामहू हैं। इसलिए भामहू को ही अलंकार सिद्धांत का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। भामहू ने संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में

सर्वप्रथम अलंकारों का सूक्ष्म विभाजन किया। उन्होंने अनुप्रास, यमक रूपक शीपक, उपमा भासप प्रतिबन्तुग्मा पर्यास्तरस्यास इतिरेक विभाजना अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा समासोक्ति पतासंख्य स्वभावोक्ति, अपगृहीति विशेषोक्ति, सहोक्ति, प्रेयस रसवत ऊर्जस्व पर्यायोक्ति समाहित उदात्त दक्षेय तुम्होविता अपस्तुत प्रसंसा व्याज स्तुति, निदर्शना रूपमा, रूपक, उपमेयोपमा परिवृति संक्षेप अगम्य उत्प्रेक्षावयव संसृष्टि भाविक और भाषी आदि अलंकारों का भेद सहित विश्लेषण किया।

### दंडी का दृष्टिकोण

मामह के परचात् दंडी ने अपने ग्रन्थ 'काम्यादर्श' में अलंकार शास्त्र का विश्लेषण किया। उन्होंने काव्य के सौंदर्यकारक इति अथवा विशिष्ट गुणों को अलंकार बताया। अतिशयोक्ति अलंकार को उन्होंने अलंकारों में उत्तम ठहराया तथा अतिशयोक्ति को अन्य अलंकारों का परम आश्रय बताया। इसके अतिरिक्त रस के द्वारा उत्पन्न आनन्द प्रदान करने वाले भाव कथन को उन्होंने रसवत अलंकार कहा। फिर गर्व की अभिव्यक्ति करने वाले अलंकार को ऊर्जस्व अलंकार कहा। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रमत्त तथा इत्थेय अलंकारों की भी व्याख्या की।

### सुभट की अलंकार व्याख्या

दंडी के परचात् आचार्य सुभट ने अपने ग्रन्थ 'काम्यालंकार सार संग्रह' में रसवत् अलंकार की व्याख्या करते हुए बताया कि जिस काव्य में श्रु गार आदि रसों का उदय स्पष्टतः दृश्य हो उसे रसवत् अलंकार कहते हैं। फिर प्रेय अलंकार के विषय में उन्होंने लिखा है कि रति आदि भाव से मूषक अनुभाव आदि के द्वारा जिस काव्य की रचना की जाए वह प्रेय अलंकार से युक्त होता है। ऊर्जस्व अलंकार के विषय में उन्होंने बताया कि श्रेय आदि के कारण अनीविरय में प्रवृत्त भाव अथवा रस रचना को ऊर्जस्व अलंकार कहते हैं। समाहित अलंकार की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि यही रस, भाव रसामास तथा भावामास की शान्ति का वर्धन हो तथा अन्य रसों के



अनुभाव आदि की अपेक्षा हो वही समाहित अलंकार होता है। इनमें अतिरिक्त उदात्त अलंकार के विषय में उद्भट ने लिखा है कि किसी समूह वस्तु अथवा महापुरुष के अग्रजान या अग्ररूप वर्णन को उदात्त अलंकार कहा जाता है।

### अन्य अलंकार शास्त्री और अलंकार भेद

वामन ने अलंकार के महत्व के विषय में बताया है कि काव्य अलंकार के योग से ही उपायेय होता है। फिर उन्होंने अलंकार को परिभाषित करते हुए लिखा कि काव्य में सौंदर्य के आशामक ठरने को अलंकार कहते हैं। वामन ने केवल गीत अलंकारों को मान्य किया है। वामन के परचात् उद्भट ने अलंकारों का वर्गीकरण करते हुए उनके चार भेद किये हैं। ये चारों भेद अर्थात् अलंकारों से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें पहला भेद वास्तव अलंकार है, जिसे उन्होंने वस्तु के स्वरूप का वर्णन करने वाला कह कर परिभाषित किया है। दूसरा भेद शीघ्र अलंकार है इसमें बड़ा किसी वस्तु के स्वरूप का सम्यक प्रकार से प्रतिपादन करने के लिए उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करता है। तीसरा भेद अतिशय अलंकार है जो वही होता है जहाँ कोई अर्थ और धर्म का नियम किसी भाषा के कारण भिन्न स्वरूप को प्राप्त हो जाए। चौथा भेद श्लेष अलंकार है। यह वहाँ होता है जहाँ अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य के द्वारा अनेक अर्थों का बोध हो। उद्भट के परचात् कुण्डक ने अलंकार की परिभाषा करते हुए लिखा कि लसकृति का अर्थ अलंकार है और इत प्रकार से बिलके द्वारा अलंकरण किया जाए उसको अलंकार कहते हैं।

महत्व —

इस प्रकार से संस्कृत के अन्य सम्प्रदायों की भांति अलंकार सम्प्रदाय भी प्राचीनता महत्व तथा प्रसार की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। जैसा कि पीछे के विवरण से स्पष्ट होगा अरुण भूति ने केवल चार अलंकारों का विवरण किया था। उनके परचात् वंशी उद्भट, वामन उद्भट कुण्डक आदि ने इस वर्गीकरण को सूक्ष्मतर किया तथा अलंकार के चौदहों भेद तथा उपभेद बनाए। इस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र का यह सम्प्रदाय अपनी परम्परा को आज भी अक्षुण्ण बनाए हुए है। यही नहीं संस्कृत परम्पराओं में अलंकार शास्त्र का प्रसार हो रहा है एवं बड़ी संख्या में नवीन अलंकारों की सृष्टि की जा रही है।

## पाश्चात्य यूनानी साहित्य शास्त्र और भारतीय अलंकार सिद्धांत

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की प्राचीन यूनानी परम्परा में अस्तु ने यद्यपि अपने ग्रन्थ 'ट्रिटारिक' में काव्यशास्त्र के विविध अंगों का विद्युत विवेचन प्रस्तुत किया है परन्तु उसमें अलंकार का प्रयोग भारतीय अर्थ में नहीं किया गया है। पाश्चात्य विचार धारा के अनुसार भावक तथा वाक्यांग आदि के सम्बन्ध में ही इस ग्रन्थ का प्रयोग किया गया जब कि भारतीय साहित्य शास्त्र में अलंकार को काव्य की आत्मा मानकर उसकी प्रधानता का विवेचन हुआ। इतिहासिक दृष्टियों में पाश्चात्य भिन्नता है। अस्तु ने मुख्य रूप से अनुकरण पर बल दिया और उसे काव्य का स्रोत माना जबकि हमारे यहाँ अलंकार सिद्धांत का प्रतिपादन उसकी प्रतिष्ठा काव्य की आत्मा के रूप में करते हुए हुआ है।

### भारतीय ध्वनि सिद्धांत

ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापकों में आनन्दबन्धन का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उस तथा अलंकार सम्प्रदायों की भाँति ध्वनि सिद्धांत भी बहुत प्राचीन अनुमानित किया जाता है यद्यपि इसका सबसे पहले निरूपण और संयोजन आनन्दबन्धन के द्वारा ही किया गया। इस सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि होती है। इस प्रकार से इस सिद्धांत रीति निष्ठा तथा नैतिक सिद्धांत की भाँति ही इस सिद्धांत का सर्वप्रथम भी काव्य की आत्मा को चोख करना है। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार ध्वनि काव्य ही सर्वोत्तम काव्य है। इस सिद्धांत की एक विशेषता यह भी है कि जिस प्रकार से अलंकार तथा रीति सिद्धांतों में उसकी उपेक्षा की गई थी इसमें बसा नहीं किया गया। यही नहीं ध्वनि सिद्धांत ने अपने परिवेश में प्रायः सभी काव्य सिद्धांतों की विशेषताओं को समावेशित कर लिया। इस कारण इसमें पर्याप्त पूर्णता तथा विशालता मिलती है।

### व्याख्या और क्षेत्र विस्तार

ध्वनि सिद्धांत के अनुसार ध्वनि, पर और वाच्य का बहुत महत्व है। ध्वनि होते

कहते हैं जो मुन पड़े। दूसरे शब्दों में, संसार में किसी पदार्थ का बोध कराने वाली शक्ति को शब्द कहते हैं। इसी प्रकार से जब बहुत से शब्द एक स्थान पर एकत्रित होते हैं, एक उन्हें शब्द समूह या पद कहते हैं एवं वहाँ पर बहुत से पद एकत्रित हों और पूर्ण अर्थ को प्रकाशित करें, उसे वाक्य कहते हैं। इस प्रकार से शब्द की शक्ति बहुत अधिक है। विभिन्न शब्दों के बीचक शब्दों को मुनकर हमारे मन में उसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है। जो शक्ति इस प्रतिक्रिया का मूल कारण होती है उसे शब्द शक्ति कहते हैं।

दूसरे शब्दों में किसी शब्द का अर्थ जताने वाली शक्ति को शब्द शक्ति कहते हैं। इन शब्द शक्तियों के तीन भेद माने गए हैं। यह अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं। वाचक, लक्षक तथा व्यंजक और इन्हीं के सम्बन्ध से अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें वाचवार्थ, लक्षवार्थ तथा व्यंजवार्थ कहते हैं। इनमें से अभिधा उस शब्द शक्ति या शब्द व्यापार को कहते हैं जो मुख्य अर्थ का बोध करावे। लक्षणा शक्ति उसे कहते हैं जो मुख्य अर्थ में बाधा होने पर रुढ़ि या प्रयोजन की सहायता से अन्य अर्थ की प्रतीति कराएँ तथा व्यंजना शक्ति वहाँ होती है वहाँ पर अभिधा और लक्षणा द्वारा अर्थ बोध के बाद किसी अन्य अर्थ का बोध हो।

इसी व्यंजना की मुख्यता के आकार पर श्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य के तीन भेद किए जाते हैं श्वनि काव्य, गुणीभूत काव्य तथा अवर काव्य। श्वनि सम्प्रदाय में अपभ्रंश सिद्धांतों के सूक्ष्म भेदों तथा उपभेदों का वर्णन और व्याख्या प्रस्तुत की गई है। 'श्वन्यालोका' 'काव्य प्रकाश' 'साहित्य दर्शन' काव्य निर्णय' काव्य दर्शन तथा 'रस संवाचक' आदि ग्रन्थों में विवेचित यह सिद्धांत भारतीय साहित्य शास्त्र में अपने क्षेत्र विस्तार के कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

### भारतीय श्वनि सिद्धांत और पाश्चात्य दृष्टिकोण

भारतीय श्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य की आत्मा श्वनि है। श्वनि सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य आनन्दबर्दान ने श्वनि के स्वरूप की विचरता से विवेचना करते हुए श्वनि काव्य को सर्वोत्तम कोटि का काव्य बनाया। उन्होंने काव्य के प्रकृत तथा अपकृत शब्दों की और संकट क्रिया और श्वनि के अनेक सूक्ष्म भेद विवेक किये। उन्होंने श्वनि का भारतीय साहित्य शास्त्रीय सम्प्रदायों के उत्कर्ष में व्यापक विवेचन किया और एक सम्यक् सिद्धांत के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने इसे इतना अधिक क्षेत्र विस्तार

दिया कि संस्कृत समीक्षा के अलंकार रीति तथा बह्यक्ति आदि सभी सिद्धांत इसके अन्तर्गत आये। पाश्चात्य दृष्टिकोण में काव्य का तारिखिक विश्लेषण करने वाला कोई सिद्धांत नहीं है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रमुख सिद्धांतों में जो वैचारिक प्रसार दिखायी देता है उसका भी पाश्चात्य चिन्तन में अभाव है। ध्वनि सिद्धांत भी मुख्य रूप से काव्य के अतिरिक्त स्वल्प अथवा उसकी धारणा पर ही बल देता है जब कि पाश्चात्य रूपवाद तथा प्रतीकवाद आदि आन्दोलन उसके बाह्य रूप तथा अभिव्यक्ति पर गौरव देते हैं।

### भारतीय रीति सिद्धान्त

रीति सिद्धान्त भी संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रमुख सम्प्रदायों में एक है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक आचार्य बंधी हैं। उनका मतस्य यह है कि काव्य के सीम्बर्ष का मूल कारण अलंकार आदि न होकर कुछ गुण हैं। इन गुणों की संख्या उन्होंने दस मानी है। इस प्रकार से रीति मत का आभास बंधी के विचारों में मिल जाता है, बह्यपि एक सिद्धान्त के रूप में दही में रीति का प्रयोग नहीं किया। आगे चलकर आचार्य बामन ने इस सिद्धान्त की व्यवस्थित रूप से स्थापना की। बामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए यह कहा कि गुण और अलंकार के युक्त शब्द और वर्ण को काव्य कहते हैं परन्तु उनमें भी गुण का महत्व अलंकार की अपेक्षा अधिक है।

इससे स्पष्ट है कि रीति सिद्धांत उस सिद्धांत के विपरीत एक ऐसा सिद्धांत है, जिसे काव्य के अंतर्गम की अपेक्षा बाह्यरूप को अधिक महत्व दिया गया है। बामन ने रीति को ही काव्य माना है। उनके विचार से विशिष्ट पद रचना को रीति कहते हैं। इस प्रकार से काव्य की एक विशिष्ट शैली को ही रीति माना गया है। रीति के तीन भेद होते हैं, बौद्धिक, यौक्तिया तथा पांचाली। इनमें से प्रथम को बामन सर्वगुण सम्पन्न तथा सर्व श्रेणी बताया है।

रीति और गुण —

रीति परम्परा के अन्य आचार्यों में ददत राजदेवरा भोज आदि के नाम किए जा सकते हैं। इनमें से ददत ने 'जाटी' के नाम से इसका एक और भेद कर दिया। अन्य विचारकों के दृष्टिकोण में प्रायः एककवता ही प्रतीत होती है। यद्यपि ऊपर

कहा गया है काव्य के सौन्दर्य कारक इतने प्रसाद समता समाधि मधुर्य, बौध गुण मारता जबाबता वास्तविकता तथा कति गुण माने गए हैं। परन्तु भाये चलकर इनमें से माधुर्य भोज तथा प्रसाद गुण ही विशेष रूप से मान्य किए गए।

### भारतीय रीति सिद्धान्त तथा पारंपार्य प्रतीकवाद

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में वामन ने रीति को काव्य की धारणा के रूप में मान्य करते हुए अपने सिद्धान्त का व्यापक दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया। रीति के लिए शब्दी ने 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया है। वामन ने रीति को गुणों पर आधारित किया है। उन्होंने रीति की व्याख्या करते हुए उसे विशिष्ट पद रचना कहा। रीति के बंधनों कोड़ीया तथा पांचासी नामक तीन भेद करते हुए उन्होंने प्रथम को सर्वाधिक मान्य किया। वामन के पारंपार्य दृष्ट ने रीति को गुणों पर न आधारित मानकर प्रसाद पर आधारित किया और उसके चार भेद किये। इस प्रकार से जनैक व्याचार्यों द्वारा स्पष्टीकृत और समर्थित रीति सिद्धान्त काव्य रचना की शैली का विशिष्ट प्रतिपादन करता है।

दूसरे सभ्यों में उसके द्वारा शैली की उत्कृष्टता या स्वल्प का सम्यक परीक्षण हो सकता है। भारतीय रीति सिद्धान्त की तुलना पारंपार्य प्रतीकवाद से भी की जा सकती है। प्रतीकवादी भी शैली की विशिष्टता पर विशेष ध्यान देते हैं। परन्तु रीति सिद्धान्त और प्रतीकवाद में मुख्य भेद यह है कि वहाँ रीति सिद्धान्त शैली को काव्य की धारणा मानता है वहाँ प्रतीकवाद कवच शैली की विशेषता की ओर ही संकेत करता है। इस दृष्टिकोण से रीति सिद्धान्त को व्यापक और सर्वांगीण तथा प्रतीकवाद को संकुचित और एकांगी कहा जायगा।

### भारतीय ब्रह्मोक्ति सिद्धान्त

स्वरूप —

ब्रह्मोक्ति सिद्धान्त भी प्रमुख संस्कृत साहित्य परंपराओं में अत्यंत प्राचीन है। यह

सिद्धांत भी काम्य के बाह्य स्वरूप को अधिक महत्व देता है। इस सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुम्भक के यों उनसे पूर्व भी मामूह, बंडी तथा आर्नरबर्टन के द्वारा बभ्रोक्ति का महत्व स्वीकार किया गया था। परन्तु काम्य की आत्मा के रूप में बभ्रोक्ति की प्रतिष्ठा करने का श्रेय आचार्य आचार्य कुम्भक को ही है। आचार्य कुम्भक ने यह बताया है कि कोई भी सामान्य उक्ति काम्यात्मक नहीं हो सकती क्योंकि उसमें कोई शौर्य या विशेषता नहीं होती। उन्होंने काम्यात्मक उक्ति बभ्रोक्ति को माना, क्योंकि उसमें कवि अपनी प्रतिभा से बिलजयता उत्पन्न कर सकता है।

बभ्रोक्ति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य कुम्भक की बभ्रोक्ति विषयक यही धारणा है परन्तु अन्य आचार्यों के विचारों में इसमें कुछ भिन्नता मिलती है। उदाहरण के लिए नामहू के अनुसार बभ्रोक्ति में काम्य के घारे शौर्य और शोभा निहित रहती है। बंडी के अनुसार स्वाभोक्ति तथा बभ्रोक्ति पृथक् होती है। कुम्भक ने बभ्रोक्ति को ही बभ्रोक्ति माना है। उन्होंने बभ्रोक्ति के ५ भेद माने हैं जो बभ्रं विन्यास बभ्रता, पय पूर्वार्द्ध बभ्रता पर परार्द्ध बभ्रता भावयवयवता प्रकरणबभ्रता और प्रकथयवयवता हैं। इस प्रकार से काम्य विषयक यह सिद्धांत भी बहुत विस्तृत है तथा इसमें काम्य के सूत्र परीक्षण के लिए एक व्यापक मापदंड निहित है।

### बभ्रोक्ति सिद्धान्त तथा अभिव्यञ्जनाबाह

अभिव्यञ्जनाबाहरी दृष्टिकोण के अनुसार उक्ति की भावियता के अनुसार ही काम्य की व्येष्टता का निर्धारण होगा। किसी उक्ति का निहित बभ्रं विशेष महत्व नहीं रखता है बल्कि यह कितना भी अज्ञातवाचक हो। इससे स्पष्ट है कि यह बात भी अन्य अनेक साहित्यशास्त्रीय विचारधाराओं की भांति एवाविता से भरा हुआ है। यह काम्य में अर्थ बचवा भाव उत्पन्न को अपेक्षित करता है और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के शौर्य को ही प्रधानता देता है।

एक दृष्टि से इसकी तुलना भारतीय साहित्य शास्त्र के संस्कृत बभ्रोक्ति सिद्धांत से की जा सकती है। परन्तु बभ्रोक्ति सिद्धांत इसकी अपेक्षा अधिक वैचारिक पूर्णता लिए हुए है। बभ्रोक्ति के अनुसार उक्ति का भावकारित्वता से मुक्त होना ही काम्यात्मकता है। अभिव्यक्ति की यह विशेषता पाठक के मन को प्रभावित और आनन्दित करती है। इससे धर्मों में बभ्रोक्ति काम्य की घोषा के दृष्टि करने वाले सभी अलंकारों के मूक हैं

रही है और इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में व्यापक उपयोक्ति से युक्त है। अभिव्यंजनावाद के अनुसार आन्तरिक अभिव्यक्ति के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूप होते हैं। इनमें से प्रथम ज्ञान की उपकल्पित तथा द्वितीय उसकी निवारक परिणति का कारण होता है। इनमें से भी सैद्धांतिक के दो प्रकार सहजज्ञान सूक्ष्म तथा वैकल्पिक होते हैं जिनमें से प्रथम यथार्थता कला के क्षेत्र का सूचन करती है।

इससे स्पष्ट है कि अभिव्यंजनावाद तथा बन्धोक्ति सिद्धांत दोनों में ही काव्य में अभिव्यंजना पर सबसे अधिक गौरव दिया गया है जो सूक्ष्म अभिभाव्य तथा अद्वितीय होती है और अनिर्धार्यता सफ़ेद तथा सौंदर्ययुक्त भी होती है। परन्तु इन दोनों में मौखिक अन्तर दृष्टिकोण का है। श्लेष का अभिव्यंजनावादी दृष्टिकोण सूक्ष्म आसन्निक और सौन्दर्यावादी है जब कि कुस्तक का बन्धोक्तिवाद दृष्टिकोण विद्युत् अभिव्यंजनायुक्त तथा साहित्य शास्त्रीय। यही अभिव्यंजनावाद की संकुचितता और बन्धोक्ति सिद्धांत की व्यापकता का मूल कारण है।

निष्कर्ष :—

पारचाय और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का अध्ययन करने पर यह बात होती है कि इनमें दृष्टिकोणगत मौखिक भेद हैं। पारचाय चिन्तनधारणें प्रायः एकांगी हैं और काव्य के सभी तत्वों का सम्यक विवेचन न करके उसके किसी अंग या रूप से ही मुख्यता सम्बन्ध रखती हैं। इसके अतिरिक्त इनमें स्वाधीनता इतनी अधिक है कि वे सर्वदेशीय माप्यता नहीं प्राप्त कर सकती हैं। उनमें वैयक्तिक वाद का बाधक अधिक है, एवं अभिव्यंजना भावना नहीं निश्चयी है। इसके अतिरिक्त इनमें पारस्परिक वाद विवाद और संडन मंडन की प्रवृत्ति भी बहुत अधिक है। इसीलिए पारचाय सिद्धांतों का विकास स्फुट रूप से हुआ प्रतीत होता है जिसमें पृथक विचार प्रवृत्तियाँ हैं। इसके विपरीत भारतीय साहित्य शास्त्र में व्यापक दृष्टिकोण से काव्यशास्त्र का अभिव्यंजना हुआ है।

यहाँ काव्य के बाह्य तत्वों पर तो दृष्टि रखी ही नहीं है, उसकी भावना को मुख्यता बैठे हुए उसकी भी गहन विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इसी कारण साहित्य जनना काव्य का ऐसा कोई भी अंग या तत्व नहीं है, जिसके वैज्ञानिक विश्लेषण के गम्भीर प्रयत्न भारतीय चिन्तकों ने न किये हों। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे सांस्कृतिक स्तर पर माप्यता प्राप्त कर सकी हैं। इसके अतिरिक्त पारचाय काव्य शास्त्रियों ने काव्य शास्त्र की अपेक्षा माप्य कला आदि अन्य माप्यमों को अधिक महत्व

दिया है। इसलिये भी वहाँ यह शास्त्र परिपक्व आकार लिए हुए नहीं है, जब कि भारतीय दृष्टि विद्युत् प्राणीय है। पाठशाला साहित्यकारों ने अनुकरण पर और भारतीय ने रस पर विशेष बल दिया है। संक्षेप में पाठशाला और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों में दृष्टिकोणगत मौखिक भेद के मुख्य कारण ये ही हैं।





अध्याय ९

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ



## आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि के रूप में हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र को मान्य किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से प्रेरणा तथा आभार ग्रहण करके जिस प्रकार से उसका विकास हुआ या उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप रीति साहित्य शास्त्र से प्रभावित रहा। हिन्दी में रीति कालीन साहित्य शास्त्र का आरम्भ होने के पूर्व ही हिन्दी भाषा का प्रौढ़ रूप स्थिर हो चुका था। अनेक ऐसे काव्य ग्रंथ थे जो सर्वोत्कृष्ट कोटि के साहित्य में गणित होते थे और जिनका उठना ही महत्व आज तक है। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि वैदिकान्तिक विचारों का अभाव घटकता। इसलिए एक सुभीत आवश्यकता के रूप में हिन्दी को साहित्य शास्त्रीय परम्परा का आरम्भ हुआ। जहाँ तक प्रभाव और प्रेरणा स्रोत का सम्बन्ध है उसके सामने केवल संस्कृत साहित्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा ही थी। इसीलिए संस्कृत समीक्षा के सिद्धांतों के अनुकरण पर ही हिन्दी में भी सिद्धांत नियमन हुआ।

हिन्दी के अधिकांश रीतिकालीन साहित्याचार्य संस्कृत की वैचारिक उपलब्धियों से सुपरिचित थे और उनसे व्यापक रूप से प्रभावित हुये थे। इसीलिए हिन्दी साहित्य शास्त्र का आरम्भ किसी भीलिक आभार भूमि पर न हो सका। उसमें धर्मीय चिन्तन और नवीन सिद्धांताभेदों की प्रवृत्ति का भी इसीलिए अभाव रहा। अधिकांश रीति कालीन कवियों ने केवल विनोद अथवा प्रदर्शन के लिए आचार्यत्व का परिचय दिया। रीतिकालीन साहित्य शास्त्र में जो मुख्य अभाव है उसका भी मूल कारण साहित्य चिन्तकों को उपयुक्त सीमा ही है।

हिन्दी में रीतिकालीन साहित्यशास्त्र की परम्परा का आरम्भ जिस समय हुआ और हिन्दी का सर्वप्रथम रीति शास्त्रज्ञ कौन था, इसके विषय में अधिक ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध नहीं हैं। बस कि हम पहले जिन चूके हैं, दुष्य नामक एक कवि ने सबसे पहले एक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका उल्लेख 'सिद्ध सरोज' में

मिळता है तथा जिसका समय पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में संवत् ७७० अनुमानित किया है। ऐतिहासिक रूप से जब तक कोई पुष्ट प्रमाण न मिले तब तक इसके विषय में आधिकारिक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। क्ल्यात्मक रूप से हिन्दी की रीति छास्त्रीय परम्परा का आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी से ही हुआ। परन्तु इसका आरम्भ यह नहीं समझना चाहिए कि बीच के इस बीच समय में किसी प्रकार के चिन्तन का अस्तित्व नहीं मिळता। यथार्थ में इस बीच हिन्दी के बीर काव्य तथा भक्ति काव्य की रचना करने वाले अनेक प्रमुख कवियों ने स्पष्ट रूप से अपने आचार्य रूप का भी परिचय दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि सत्रहवीं शताब्दी तक आटे-आटे हिन्दी रीति शास्त्र के विकास की एक आचार भूमि अवश्य निर्मित हो चुकी थी।

रीति साहित्य चिन्तन का स्वरूप —

हिन्दी का रीतिकामीन साहित्य बड़े अंशों में शास्त्रीय है। रीति शब्द का प्रयोग ही हिन्दी में इस अर्थ में हुआ है जिससे साहित्य सिद्धांतों का सूचन हो। कभी-कभी यह अर्थों में भी इसका प्रयोग मिळता है। कुछ भी हो हिन्दी रीतिकाळ में रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा छन्दन प्रन्नों तथा टीका प्रन्नों की रचना अधिक हुई। इस काल तक काव्य में प्रयोग की जाने वाली हिन्दी अव्यक्त प्रीति रूप बाराज कर चुकी थी। कबीर आसरी सूर तथा तुलसी के काव्य के रूप में उसकी उपकल्पितों असाधारण थीं। इसलिए उनकी किसी भी क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली सम्मानना के विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। परन्तु इस परम्परा में अधिक मौलिकता न मिलने का एक कारण यह भी है कि अधिकांश रीतिकामीन साहित्य शास्त्रियों ने जो भी साहित्य चिन्तन किया वह या तो संस्कृत परम्परा के विष्टपेय के रूप में या और या मनीविनोद में।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक आचार्य अपनी कवित्व शक्ति का प्रमाण देने के मोह से भी स्वयं को नहीं बचा पाता था। इसलिए भी उपर्युक्त परिचाम सामने आया। कवित्व शक्ति उनमें अवश्य थी परन्तु पांडित्य प्रदर्शन के मोह ने उन्हें दोनों प्रकार से अपेक्षाकृत हीन बना दिया। अनेक कारणों से वे मौलिक चिन्तन न कर सके और संस्कृत विद्वानों की हिन्दी भाषा में व्याख्या घर कर सके। इसी से उनका अहम् याचना तुष्ट हो गई और कवित्व प्रदर्शन भी कर सके। कुछ विद्विष्ट आचार्यों को छोड़कर बिनमें केवलवाच, बिलामणि कुलपति सोमनाथ देव भिखारीदास तथा प्रतापसाहि हैं वेप प्रायः सभी रीतिकामीन आचार्यों और कवियों के विषय में यह कथन समान रूप से सत्य है।

हिन्दी रीति शास्त्र की परम्परा का अन्वेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि

उसका प्रवर्तन और प्रसार आरम्भ में संस्कृत की परम्परा के अनुगमन के रूप में ही हुआ। जिस प्रकार से संस्कृत के बिचार सैद्धांतिक समीक्षा का निरूपण करने के साथ ही साथ उसकी उदाहरण सहित व्याख्या करते थे उसी प्रकार से हिन्दी के रीतिकालीन बिचारकों ने अपनी पांडित्य और कबिल्य दक्षि से समुक्त ब्यक्तित्व का परिचय दिया। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में लक्षण ग्रन्थों की जो परम्परा मिलती है वह इसी प्रकार की है।

इससे यह सिद्ध है कि न केवल रचना छोटी की दृष्टि से बल्कि बिषय वस्तु के बिबेचन की दृष्टि से भी हिन्दी रीतिकालीन साहित्य की शास्त्रीय परम्परा संस्कृत की अनुगामिनी थी। उसमें प्रायः उन सभी बिषयों का अगमन उसी प्रकार का बिबेचन उपलब्ध होता है जो संस्कृत साहित्यशास्त्र की पूर्ववर्ती परम्परा में मिलता था। इसीलिए हिन्दी रीतिकालीन में मौलिकता के स्थान पर संस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांतों की पुनरावृत्ति अधिक है।

यही नहीं जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में बिबिध सम्प्रदाय थे उसी प्रकार से हिन्दी रीति साहित्यशास्त्र की परम्परा में भी प्रायः इसी प्रकार के सिद्धांतों और सम्प्रदायों का अनुगमन करने वाले आचार्य हुए हैं। इसका एक कारण यह भी रहा है कि हिन्दी रीतिकाल के प्रारम्भिक कालीन साहित्यशास्त्रियों मूलतः संस्कृत भाषा के भी मातृ आचार्य थे और उन्हें संस्कृत बिस्तन की उपलब्धियों की बहुत सम्भोर अवगत थी। वे संस्कृत का मान भी करते थे और उनके लिए यह एवं की भी बात थी। इसलिए अब हम हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा के आरम्भ और विकास पर बिचार करते हैं तब हमें उपर्युक्त तथ्य पर भी दृष्टि रखनी चाहिए।

### भाषुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ

हिन्दी का आधिर्भाव यों तो बहुत समय पूर्व से माना जाता है परन्तु भाषुनिक युग में इसके स्थापकों में जिन लोगों के नाम बिद्यप रूप से उल्लेखनीय हैं वे मुन्शी सरामुबल्लाक लखनऊ काक सदस मिश्र राजा बिबप्रसाद राजा लक्ष्मण सिंह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि हैं। भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य के क्षम में जो प्रयत्न किए वे आन्तिकारी सिद्ध हुए, इसलिए हिन्दी के लड़ी बोली रूप को स्थिर करने का योग्य उन्हीं को दिया जाता है। भारतेन्दु के अनिरिक प्रतापनारायण मिश्र बदरी नारायण चौधरी ठाकुर

जयमोहन सिंह पं० बाळकृष्ण घट्ट आदि लेखकों ने भी इस गद्य प्रवर्तन के युग में उल्लेखनीय योग दिया ।

इस प्रारम्भिक काल में श्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में नाटक निबन्ध, उपन्यास और स्फुट साहित्य के साथ साथ अनुवाद कार्य भी हुआ । परन्तु हिन्दी समीक्षा का इन कृतियों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है । हिन्दी में समीक्षा का आरम्भ यद्यपि पुन रूप में आरम्भ के समय ही हो गया था परन्तु इस युग में कोई ऐसा समीक्षक नहीं हुआ था जिसने समीक्षा के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय योग दिया हो । दूसरे शब्दों में बिदे विस्तृत आलोचना कहा जाता है, वह इस युग में नहीं किसी गई । उसका आरम्भ वास्तुतः द्विवेदी युग में ही हुआ । इसलिए हिन्दी समीक्षा की सही बोली के अन्तर्गत जाने वाली विकास परम्परा के आरम्भिक आचार्य पं० महाश्वीर प्रसाद द्विवेदी ही माने जाते हैं ।

### ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में भी विश्व की अन्य भाषाओं की भाँति जो सर्व प्रथम प्रयाची मिलती है, वह ऐतिहासिक समीक्षा की है । इस समीक्षा प्रवृत्ति का जो मूल रूप मिलता है, वह यद्यपि बहुत पुष्ट और वैज्ञानिक है, परन्तु आरम्भिक युग में इसका रूप और क्षेत्र बहुत सीमित था । यों यह समीक्षा पद्धति अन्य प्रयाजियों की भाँति ही विकास के क्षेत्रों में विस्तार पाती रही है और विविध रूपों में इसका प्रसार होता रहा है । स्वरूप से इस समीक्षा प्रयाजी के जो रूप मिलते हैं । पहला जो साहित्यिक इतिहासों में और दूसरा एक दृष्टिकोण के रूप में । प्रथम के अन्तर्गत साहित्य और उसके विविध अर्थों का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से परम्परागत विवरण प्रस्तुत किया जाता है तथा द्वितीय का समावेश का अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों में भी किया जाता है ।

समीक्षा की ऐतिहासिक प्रवृत्ति हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियों में एक है । यह इसलिए भी विशिष्ट है क्योंकि सामान्यतः समीक्षा के क्षेत्र में जिन प्रयाजियों का प्रयोग होता है, उनमें इसी का प्रथम सबसे अधिक है । इसके अतिरिक्त यह समीक्षा प्रयाजी सबसे अधिक प्राज्ञ भी है । जहाँ तक इसकी आवश्यकता का सम्बन्ध है, साहित्य

क इतिहास क प्रत्यक्ष नए युग में इस बात की आवश्यकता होती है कि प्राचीन युगीन उपलब्धियों का लक्षा जोखा क्रिया जाए और इसके आधार पर उन सूत्रों की खोज की जाय जो साहित्य की भाषी सम्प्रदायों को जन्म देनी हैं। इसलिए ऐतिहासिक समीक्षा प्रमाणी सचन हो व्यवहाय रहनी है।

प्रमुख बिंदुयता —

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति की हिंदी में स्थिति और विकास पर विचार करने से पहले इसकी मुख्य बिंदुयताओं की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वास्तव में यहाँ एक ओर यह समीक्षा पद्धति अनेकाहुत सरल और सामान्य प्रतीत होती है यहाँ दूसरी ओर इसके क्षेत्र में सर्वत्र ही कुछ व्यावहारिक समस्याओं विद्यमान रहनी है। प्रत्यक्ष युग के परिवर्तन के घाम इतिहास के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता है और साहित्य के मानदंड भी बन्दते हैं। इसलिए प्रत्येक युग में यह समस्या एक नए रूप में विद्यमान रहती है। इसकी अवेजा इसलिए नहीं की जा सकती क्योंकि साहित्यिक इतिहास का लक्षा जोखा एक विषय कार्य है। केवल भिन्न भिन्न युगों में होने वाले साहित्यिक विकास का शुद्ध और त्रिपिपुक्त विवरण प्रस्तुत कर देना मात्र इस प्रमाणी का मुख्य कार्य है। बल्कि एक दिशिष्ट और युग सम्मत दृष्टिकोण से उसकी उपलब्धियों का लक्षा जोखा प्रस्तुत करना तथा उसमें से भाषी विकास के संकेत सूत्रों का सचन करना इस समीक्षा प्रमाणी की ऐतिहासिकता को सार्थक करता है और इसे पूर्णता प्रदान करता है।

ऐतिहासिक समीक्षा प्रमाणी की एक बिंदुयता यह भी है कि इससे इस तथ्य की प्रतीत होती है कि अतीत युगों में रचा गया साहित्य किसी आकस्मिक प्ररणा का परिणाम नहीं होता बल्कि उसके मूल में एक प्रकार की निश्चित प्रतिक्रिया रहती है जो उसकी पारस्परिक सम्बद्धता की सूचक होती है। उससे यह भी मात हाता है कि मानव समाज क सांस्कृतिक विकास को विविध युगों की निज यथार्थताओं के प्रभावित किया। साहित्य का इतिहास भी इस तथ्य का सूचक है कि अर्थात् नून्य सर्वत्र युग के निर्माण कार्य रहे हैं। इसका कारण यह होता है कि उनके प्ररक्त नून युग अंतता से अनुप्राणित हाते हैं और उनमें बहु शक्ति निहित होती है जो स्तरीय निर्वाहन तथा प्ररक्ति के लिए अवेधित हाती है।

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति की एक और अस्वरूप विद्ययता यह है कि केवल उसी के द्वारा अतीत साहित्य की उपलब्धियों का सुरक्षोकरण हो सकता है। इस दृष्टिकोण में तटस्थ पर्यवेक्षण की जो बिंदुयता है वह सांस्कृतिक उपलब्धियों की अंतता का



विकासशील बनाए रखती है। इस प्रकार से उपलब्धियों की यह बरोहुर एक युग से दूसरे युग तक स्वतः हस्तारिष्ठ होती रखती है तथा नष्ट नहीं होने पाती।

इस तथ्य का एक दूसरा पक्ष यह है कि अतीत की सांस्कृतिक उपलब्धियों और उनके मूल्यों का संरक्षण किया जाए। यह इस समीक्षा प्रवाची क क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण समस्या है जो प्रायः ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक तबीन युग में उपस्थित रहती है। कहने का आशय यह है कि जो प्रबुद्ध समीक्षक होते हैं वे सर्वैव इस बात की खोज म करते रहते हैं कि विभिन्न युगीन ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप जो सांस्कृतिक बरोहुर प्राप्त हुई है वह कितने अर्थों में भावी चिन्तन की प्रशस्ति करने की क्षमता से युक्त है।

#### आरम्भ और विकास —

हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि साहित्यिक इतिहासों के रूप में उसका आरम्भ हुआ था। साहित्य या काव्य के किसी अंग के क्रमिक विवरण और संरक्षण से उसका विकास हुआ। किसी साहित्यकार के नाम कीवत परिचय बंधावनी प्रमुक्त रचनाएँ तथा विधियों आदि के उल्लेख तक ही यह प्रवृत्ति सीमित रही। दूसरे अर्थों में यह कहा जा सकता है कि केवल सूची के अनुसार वर्गीकृत विवरण तथा स्पूस परिचय के रूप में ही उसकी पूर्णता समझी जाती थी। अहाँ तक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के समावेश का प्रश्न है उसका उत्तरमें अभाव होता था। कभी-कभी यह विवरण कवि या लेखक के परिचयारमक रूप में न होकर प्रवृत्ति के विचार से भी किया जाता था और काक संदों के अनुसार उनका विभाजन कर दिया जाता था। हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति का आरम्भिक स्वरूप इसी प्रकार का था।

#### प्रमुख समीक्षक —

हिन्दी में ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति के विकास में योग देने वाले समीक्षकों में मासों व ठाणी ठाकुर शिव सिंह सेगर आर्ष द्वियर्सन मिश्रकम्पु, डाक्टर स्वामसुम्बर दास पं० रामचन्द्र सुक्क डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी डा० रामकुमार बर्मा पं० विश्व नाथ प्रसाद मिश्र आदि प्रमुक्त हैं। इनके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे समीक्षकों की है जिन्होंने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य उसके किसी अंग बचवा प्रवृत्ति के इतिहास का विवरण प्रस्तुत किया है। जैसे कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं आरम्भिक कालीन हिन्दी के साहित्यिक इतिहासों में सुनिश्चित दृष्टिकोण का अभाव

या परन्तु जाने चलकर उसका यह जमान ब्रू होता गया । यही नहीं बिरसेपन तथा वर्गीकरण की दृष्टि में भी कर्मका' वैज्ञानिकता का समावेश होता गया, बिसेसे पूनबर्ती उपलब्धियों का सम्यक विवरण अनुपलब्ध न रहा ।

पार्सी व तासी —

पार्सी व तासी नामक फ्रांसीसी साहित्यकार ने हिंदी साहित्य का इतिहास 'इस्वार व का निरंतरात्पूर एन्डूई ऐन्डुस्तानी' शीर्षक से सन् १८३९ में प्रस्तुत किया था । यह इतिहास फ्रांसीसी भाषा में लिखा गया था । इस ग्रंथ में केवलक के हिंदी साहित्य के विकास में योग देने वाले समयम अस्सी कवियों की सूची प्रस्तुत की है । यह सूची बर्न कर्म के अनुसार ही यमी है । इस ग्रन्थ का महत्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत अधिक सिद्ध हुआ तथा जाने के इतिहासकारों के लिए इसने प्रेरणा का कार्य किया ।

शिर्षसिंह सेंनर :—

पार्सी व तासी के बाद हिंदी काव्य का एक ऐतिहासिक विवरण शिर्षसिंह सेंनर के द्वारा शिर्षसिंह सरोज शीर्षक से प्रस्तुत किया गया । इसमें हिंदी के एक सङ्ग्रह ऐसे कवियों का परिचय और विवरण था जिनके विषय में इससे पूर्व कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं थी । इस ग्रंथ का संकलन ठाकुर शिर्षसिंह सेंनर द्वारा सन् १८८३ में किया गया था । इस ग्रंथ में भी यद्यपि ऐतिहासिक समीक्षा प्रणाली का कोई परिष्कृत रूप न दिखकर आरम्भिक रूप मात्र मिलता है परन्तु फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्व है । इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इसमें कवियों की रचनाओं से उदाहरण भी लिए गये हैं ।

डा० विमर्शन —

ठाकुर शिर्षसिंह सेंनर लिखित 'शिर्षसिंह सरोज' के पश्चात् सन् १८८९ में डा० विमर्शन ने शिर्षसिंह सरोज से मिलता जुलता ही एक कवि कुल संग्रह प्रकाशित किया । इस संग्रह का नाम माइर्न करनाक्युमर लिटरेचर आफ नार्थन हिन्दुस्तान' था । इस संग्रह में भी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का कोई पुष्ट रूप नहीं मिलता । शिर्षसिंह सरोज' की भाँति इनमें भी केवलक के मुख्यम' कवि विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य ध्येय रहा था । काक कर्म के अनुसार यह विवरण प्रस्तुत किया जाना ही इस प्रणाली के आरम्भिक स्वरूप का परिचय देता है अथवा यह भी एक कवि कुल संग्रह मात्र ही है । इस ग्रन्थ में प्रकृत तथा काक विभाजन की गरीबता अवश्य मिलनी है ।

**खोज रिपोर्ट —**

जार्ज ग्रियर्सन के पश्चात् ऐतिहासिक पद्धति का जन्म निर्वाह काही नागरी प्रजा गिणी समा द्वारा प्रस्तुत की गई विविध खोज रिपोर्टों में मिलता है। इन रिपोर्टों में बहुत से परिचित और अपरिचित कवियों के विषय में खोज करके ऐतिहासिक काश्-  
क्रम के अनुसार उनका तथा उनकी कृतियों का परिचय प्रकाशित किया गया। यह खोज रिपोर्ट आठ भागों में प्रकाशित हुई थी जिसका समय सन् १९०० से लेकर १९१९ तक है। हिन्दी के साहित्यक इतिहासों की परम्परा में इन रिपोर्टों का भी बहुत हाथ है। इसके अतिरिक्त इनका महत्व इस दृष्टि से भी है कि उनमें पूर्ण इतिहास प्रत्या की अपेक्षा अधिक प्रमाणिकता मिलती है।

**मिथबन्धु —**

'मिथबन्धु' के नाम से हिंदी समीक्षा खान में जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें पं० गणेश बिहारी मिश्र पं० स्वाम बिहारी मिश्र और पं० कुकरेव बिहारी मिश्र व। इन मिथबन्धुओं ने हिंदी की समकालीन स्थिति को समझा और उसके अभाव को दूर करने की चेष्टा की। इन लोगों ने 'मिथबन्धुविनोद' के नाम से चार भागों में हिंदी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया। यह इतिहास अपने प्रकार का एक ही ग्रंथ है। सन् १९१३ में प्रकाशित इस ग्रंथ की कुछ पृष्ठ संख्या २२३० है तथा इसमें लगभग पाँच सहस्र प्राचीन और नवीन साहित्यकारों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया गया है। इसमें लेखकों ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण हिंदी साहित्य के विकास का विवरण उपस्थित करते हुए प्रसिद्ध और ध्येष्ट कवियों के अतिरिक्त संकल्पों ऐसे कवियों का परिचयात्मक उल्लेख किया है जिन्होंने अपनी अपनी प्रतिभा और शक्ति के अनुसार रचना की और साहित्य को जीवित रखते हुए उसके विकास में योग दिया।

इस प्रकार से, मिथबन्धुओं का किया हुआ यह साहित्यक इतिहास अपने प्रकार का प्रथम प्रयत्न है। यद्यपि मिथबन्धु विनोद से पहले भी हिंदी में कुछ साहित्यक इतिहास लिखे जा चुके थे परन्तु उनमें इतना विषय विस्तार और दृष्टिकोण नहीं था। दूसरे लोगों में यह कहा जा सकता है कि "मिथबन्धु विनोद" पहला साहित्यक इतिहास न होते हुए भी सम्पूर्णता की दृष्टि से हिंदी साहित्य के विकास का सेवा जोदा प्रस्तुत करने वाला पहला ग्रंथ है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ के नाम से एसा प्रतीत होता है कि लेखकों ने केवल विनोद में ही इसकी रचना कर डाली थी। कुछ लोगों ने यह आरोप भी किया है कि 'मिथबन्धु विनोद' में अनेक साहित्यकारों के विषय में दी गई अनेक सूचनाएँ प्रामाणिक नहीं हैं परन्तु इतना निश्चित

हे कि सामयिक आवश्यकता और उपलब्धियों को देखते हुए इस ग्रंथ का हिंदी के साहित्यिक इतिहासों में विविष्ट स्थान है।

रामचन्द्र शुक्ल —

ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति के अन्त में सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि प० रामचन्द्र शुक्ल की है। उन्होंने इस समीक्षा प्रणाली का परिचय अपनी अनेक कृतियों में तो किया ही है, इसका सबसे पुष्ट रूप आवश्यक सतुल्य के साथ उनके 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में मिलता है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल एक कवि और केवल एक संग्रह मात्र ही नहीं है। इसमें केवल न सबसे पहले हिंदी साहित्य के इतिहास का व्यवस्थित काळ विभाजन किया है। काळ विभाजन और काळ विभागों का नामकरण करने के सम्बंध में स्वयं इतिहासकार ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है।<sup>१</sup>

अपने इतिहास में प० रामचन्द्र शुक्ल ने शाब्दिक काम के अन्तर्गत अप्रमत्त काळ तथा देश भाषा काळ का उल्लेख किया है। इनका समय सं० १०२० तक है। फिर धीरे धीरे काळ के अन्तर्गत मुख्यतः वीर काव्य को रखा है जिसका समय संवत् १०२० लेकर १३७५ तक माना है। इसके पश्चात् पूरव मध्य काळ में अतिशय का समय संवत्

१ जिस काल पृष्ठ के भीतर किसी विशेष ग्रंथ की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काळ माना गया है और उसका नामकरण जहाँ रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार काळ का निश्चित सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ग्रंथ की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि दूसरे ग्रंथ की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ग्रंथ की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी यह नहीं कि और सब ग्रंथों की रचनाएँ मिल कर भी उसका बराबर न होंगी। कम यदि किसी काल में पाँच ग्रंथ की रचनाएँ १०, २, ६, ७ और २ के क्रम से मिलनी हैं तो जिस ग्रंथ की रचना की १ पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता कही जाएगी यद्यपि शेष और ग्रंथ की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यद्यपि तो हुई पृथकी बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रगति। किसी काळ के भीतर जिस एक ही ग्रंथ के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध किये जाते हैं उग इनकी रचना उम काल के प्रथम से अन्तर्गत माने जायगी चाहे और दूसरे ग्रंथ की अप्रसिद्ध और मापारत शक्ति की पुस्तकें भी इस पर उपर दोनों में पड़ी मिल जाय करें। प्रसिद्धि की किसी काल की लोचनी की प्रति ध्वनि है। (हिंदी साहित्य का इतिहास पृ० २)

१९७१ से लेकर १७०० तक मानते हुए निर्गुण चारा के अन्तर्गत आनाथयी साक्षा तथा प्रेमनाथी साक्षा एवम् सद्गुण चारा के अन्तर्गत राममक्ति साक्षा तथा कृष्ण मक्ति साक्षा को रखा है।

उत्तर मध्यकाल में रीतिकाल की जर्जा लेखक ने की है जिसमें शू चारी कवियों तथा प्रबन्धकारों वर्णनात्मक प्रबन्धकारों सूत्रिकारों आनोपदेश पद्यकारों तथा भक्ति काव्यकारों का उल्लेख रीति ग्रन्थकारों के साथ किया है। रीतिकाल का समय लेखक ने सं० १७०० से सं० १९०० तक माना है। उत्तरवात् आधुनिक काल के अन्तर्गत लेखक ने संवत् १९०० से लेकर १९८० के बीच लिखित साहित्य को लिया है और इसमें प्रथमाया गद्य छोड़ी बोली गद्य तथा विविध आधुनिक कालीन काव्य चरणों परिचयात्मक विवरण उपस्थित किया है। इतिहास के अन्तर्गत कालों की अपेक्षा इस आधुनिक काल का विवरण अधिक पूर्ण और विस्तृत मही है। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से देखने पर इस इतिहास का स्थान हिंदी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक इतिहासों में ठहरता है।

सुकल भी ने अपने इतिहास में जिस दृष्टिकोण का उपयोग किया है वह अन्तर्गत साहित्यिक इतिहासकारों की अपेक्षा विविधता रखता है। सुकल भी ने ब्रह्मसमय काल विभाजन तथा नामकरण में प्रवृत्तियों तथा साहित्यियों का ध्यान रखा है। उनके इतिहास तथा अन्य इतिहासकारों की रचनाओं में जो काल विपन्न अन्तर मिलता है उसका एक कारण भी मही है। इसके अतिरिक्त समकालीन जीवन की गति तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनके प्रतिष्ठित स्वल्प पर उनकी दृष्टि गहरा रही है। बीरगाथा काल भक्ति काल तथा रीति काल में हुए साहित्यिक विकास का समुचित रूप उनके इतिहास में विस्तार से मिलता है।

आधुनिक काल को उन्होंने गद्य का काल माना है यद्यपि इसमें भी एक दूसरी चारा गद्य के रूप में प्रकाशित रही है। इस प्रकार से हिंदी साहित्य के इतिहास के चार विकास युगों का जो ऐतिहासिक विवरण सुकल भी ने अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है उसमें साहित्यकारों एवम् उनके ग्रन्थों का परिचय तथा सूचीबद्ध मही प्रस्तुत किया गया है। चरन् यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि साहित्य का काल सा स्वल्प समान के लिए ब्रह्मसमयकारी है। इस दृष्टि से उनको इस साहित्यिक इतिहास में समीक्षा के व्यावहारिक रूप का भी समावेश मिलता है जिसकी मुख्य विशेषता पद्यगत रहित दृष्टिकोण है।

अन्तर्गत समीक्षा —

ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति के स्वल्प का परिचय देने वाले अन्तर्गत समीक्षकों

में हिंदी भाषा और साहित्य के लेखक डा० स्यामसुन्दररास, "हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० सूर्यकांत शास्त्री "हिंदी साहित्य की भूमिका" तथा "हिंदी साहित्य का आदि काल" के लेखक डा० हजारी प्रसाद त्रिवेदी "भाषुनिक हिंदी साहित्य का विकास" के लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिबीच" "हिंदी साहित्य का इतिहास" के लेखक डा० रामचंकर शुक्ल "रसाक" तथा "हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० रामकुमार वर्मा आदि के नाम विद्येय रूप से उल्लेखनीय हैं ।

इन विभिन्न कृतियों में आभारपूर्वक रूप से प्रायः पूर्ववर्ती साहित्यिक इतिहासों से ही सहायता ली गई है । दृष्टिकोणगत विभिन्नता तथा कुछ विवरण प्रस्तुत करने की मधीनता के अतिरिक्त सामग्री की खोज उन्नेखनीय विद्येयता भी इन ग्रंथों में मिळती है । इसके अतिरिक्त हिंदी में अन्य भी अनेक छात्रोपयोगी इतिहास लिख गए हैं । इनकी संख्या बहुत अधिक है परंतु ये सब उपर्युक्त कृतियों के संक्षिप्त संस्करण मात्र हैं और विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं । इन इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त जसा कि पीछे भी कहा गया है स्फुट रूप से ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति समीक्षा के दृष्टिकाल के रूप में अन्य प्रयासियों के रूप में भी समाविष्ट बिखाई देती है ।

### सुभारपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

सुभारपरक समीक्षा या सेलेक्टिव क्रिटिसिज्म उस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा साहित्य के गुण और दोष की विवेचना करने के साथ ही साथ समीक्षक रचना के विषय में रचनाकार को कुछ सुझाव भी देता चलता है । इन सुझावों का आभार वैज्ञानिक होता है तथा उनकी व्यावहारिक सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं । साहित्य के विभिन्न माध्यमों के आवश्यक उपकरणों के स्वरूप निर्धारण के विषय में सुझाव दिए जाते हैं ।

आरम्भ और विकास —

भारतेंदु पुष में समीक्षा का सत्र बहुत संकुचित रहा । प्रमुख समीक्षक अधिकारी

१३७५ से लेकर १७०० तक मागते हुए मिर्ज़ा बारा के अन्तर्गत आनाथवी खासा तथा प्रेममयी खासा एबम् सनुय बारा के अन्तर्गत राममक्ति खासा तथा कुम्भ मक्ति खासा को रखा है।

उत्तर मध्यकाल में रीतिकाल की चर्चा सिद्ध के की है जिसमें नू पायी कवियों, कथा प्रबन्धकारों वर्णनारमक प्रबन्धकारों सूत्रकारों आत्मोपदेश पद्यकारों तथा भक्ति काव्यकारों का उल्लेख रीति ग्रन्थकारों के साथ किया है। रीतिकाल का समय केवल के सं० १७०० से सं० १९०० तक माना है। उत्तरवात् वायुनिक काल के अन्तर्गत केवल के सम्बत् १९०० से लेकर १९८० के बीच किञ्चित् साहित्य को लिखा है और इसमें प्रथमपाप मद्य पड़ी बोली गयी तथा विविध वायुनिक कालीन काव्य बाराओं परिचयारमक विवरण उपस्थित किया है। इतिहास के अन्य कालों की अपेक्षा इस वायुनिक काल का विवरण अधिक पूर्ण और विस्तृत मही है। इस प्रकार से सम्पूर्ण रूप से देखने पर इस इतिहास का स्वान हिंदी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक इतिहासों में उद्धरता है।

सुख भी ने अपने इतिहास में जिस दृष्टिकोण का उपयोग किया है वह अन्य साहित्यिक इतिहासकारों की अपेक्षा विशिष्टता रखता है। सुख भी ने यथासम्भव काल विभाजन तथा नामकरण में प्रवृत्तियों तथा साहित्यिकों का ध्यान रखा है। उनके इतिहास तथा अन्य इतिहासकारों की रचनाओं में जो काल विषयक अंतर मिलता है, उसका एक कारण भी मही है। इसके अतिरिक्त समाकालीन जीवन की पति तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों में उनके प्रतिष्ठित स्वरूप पर उनकी दृष्टि बराबर रही है। बीरगाबा काल मक्ति काल तथा रीति काल में हुए साहित्यिक विकास का उल्लेख रूप उनके इतिहास में विस्तार से मिलता है।

वायुनिक काल को उन्होंने मद्य का काल माना है मद्यपि इसमें भी एक बूसरी बारा पद्य के रूप में प्रकाशित रही है। इस प्रकार से हिंदी साहित्य के इतिहास के चार विकास युगों का जो ऐतिहासिक विवरण सुख भी ने अपने इतिहास में प्रस्तुत किया है उनमें साहित्यकारों एबम् उनके पम्नों का परिचय तथा सूचीपत्र मही प्रस्तुत किया गया है वरन् मद्य भी निर्देश किया गया है कि साहित्य का कोन सा स्वरूप ममाय के लिए कल्याणकारी है। इस दृष्टि से उनके इस साहित्यिक इतिहास में समीक्षा के व्यावहारिक रूप का भी समावेश मिलता है जिसकी मुख्य विशेषता पद्यापत रहित दृष्टिकोण है।

अन्य समीक्षक —

ऐतिहासिक समीक्षा प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय देने वाले अन्य समीक्षकों

में 'हिंदी भाषा और साहित्य' के लेखक डा० स्वामिसुन्दरदास, "हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० सूर्यकांत श्यामी, "हिंदी साहित्य की भूमिका" तथा "हिंदी साहित्य का आदि काळ" के लेखक डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, "भाषुनिक हिंदी साहित्य का विकास" के लेखक पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिमौल, "हिंदी साहित्य का इतिहास" के लेखक डा० रामचंद्र शुक्ल, "रसाक" तथा "हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" के लेखक डा० रामशुमार शर्मा आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इन विभिन्न कृतियों में आषारभूत रूप से प्रायः पूर्ववर्ती साहित्यिक इतिहासों से ही सहायता ली गई है। दृष्टिकोणगत विभिन्नता तथा कुछ विवरण प्रस्तुत करने की नवीनता के अतिरिक्त सामग्री की खोज सम्बन्धी जस्यजनीय विशेषता भी इन ग्रंथों में मिलती है। इसके अतिरिक्त हिंदी में अन्य भी अनेक छात्रोपयोगी इतिहास लिख गए हैं जिनकी संख्या बहुत अधिक है परन्तु ये सब उपर्युक्त कृतियों के संक्षिप्त संस्करण मात्र हैं और विद्यालयों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। इन इतिहास ग्रंथों के अतिरिक्त जसा कि पीछे भी कहा गया है स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति समीक्षा क दृष्टिकोण के रूप में अन्य प्रणालियों के रूप में समाविष्ट दिखाई देती है।

### सुधारपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

सुधारपरक समीक्षा या सॉरेटिव क्रिटिसिज्म उस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा साहित्य के गुण और दोष की विवेचना करने के साथ ही साथ समीक्षक रचना के विषय में रचनाकार को कुछ सुझाव भी देता जसता है। इन सुझावों का आहार सैदांतिक होता है तथा उनकी व्यावहारिक सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक होती हैं। साहित्य के विभिन्न माध्यमों के आवश्यक उपकरणों के स्वरूप निर्धारण के विषय में सुझाव दिये जाते हैं।

आरम्भ और विकास —

भारतेंदु गुप्त से समीक्षा का शब्द बहुत संशुद्धि रखा। प्रमुख समीक्षक अधिक



एतन्निवृत्त सेवक के क्षम में अधिक श्रियाशील रहे । समीक्षा में केवल परिव्यात्मक प्रवृत्ति ही प्रमुख थी जिसके अन्तर्गत मिन मिन पुस्तक तथा सत्रकों की परिपक्वतात्मक आलोचना विविध पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित की जाती थी । माय बसकर द्विवेदी युग में हिन्दी समीक्षा का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक प्रसरत हुआ । किसी सीमा तक मनीन मानवज लोगों ने प्राण्य क्रिये और वृद्धिवादिता का विरोध किया । इस युग के सर्वप्रमुख समीक्षक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी न हिन्दी म सर्वप्रथम सुभारपरक समीक्षा पद्धति का आरम्भ किया ।

भारतेन्दु युगीन परिव्यात्मक समीक्षा बहुत अप्रीढ़ता लिए हुए थी और इसमें साक्षीयता का भी पूर्ण अभाव था । इसका मुख्य कारण यह था कि इस युग में समीक्षा का उद्देश्य मनसाधारण को किसी कृति अथवा कृतिकार की विद्वेपताको से बचाना करना था । परन्तु द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी न समीक्षा के इन कमियों न निर्मूलन को चेष्टा की । उनका दृष्टिकोण सुभारवादी रहा जिसमें परिष्कार की भावना मिश्रित थी । द्विवेदी की नै संस्कृत तथा हिन्दी के साहित्यकारों की बहुत उदस्य रूप से समीक्षा प्रस्तुत की है । आलोच्य कृति अथवा कृतिकार का मूल्यांकन करने के साथ ही साथ द्विवेदी की भाषा के विविध रूपों पर भी दृष्टि रखते थे विधेय रूप से बहु भाषा की व्याकरणािक सुदृढता पर दृष्टि रखते थे । उनकी अधिकांश समीक्षाओं में आलोच्य कवि का भाषा की दृष्टि से विशेष अध्ययन किया गया है ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी —

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के समीक्षा व्यक्तित्व पर एक दृष्टि बाझने पर यह ज्ञात होता है कि उन्होंने द्विवेदी युगीन समीक्षा प्रवृत्तियों में परिष्कार की भावना से प्रेरित होकर हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में अस्तिकारी कार्य किया । यही नहीं, उन्होंने कवियों का नेतृत्व और निर्देशन करते हुए संकुचितता के विरुद्ध आन्दोलन भी किया । उन्होंने कवियों को परम्परागत काव्य विषयों का परित्याग करके नवीनतर विषयों की काव्य में समाविष्ट करने का सुझाव दिया । विधेय रूप से रीतिकाल तथा भारतेन्दु युग में किसी नयी उस कविता का उन्होंने विरोध किया जिसके विषय कृत्रिम बधि और मनोवृत्ति के मूचक हैं और जिसका उद्देश्य निम्नस्तरीय मनोरंजन करना है । युगीन आवश्यकता के रूप में काव्य में विषय चयन का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होंने मनीन विषयों को ग्रहण करने की प्रेरणा दी ।<sup>१</sup>

१ जोड़ी से लेकर हाकी पर्यन्त पञ्च मिलक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य विष्णु से लेकर समुद्र पर्यन्त एक अमृत आकाश अमृत पृथ्वी समी से उपरैत मिन सकता

साहित्यिक मान्यताएँ —

यहाँ तक पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक मान्यताओं का सम्बन्ध है उन्हींके अपने दृष्टिकोण में सांस्कृतिकता के अनुमोदन का परिणय दिया है। सक्षम पद द्विवेदी जी की आलोचना सम्बंधी मान्यताओं को हम निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं कवि और काव्य के विषय से द्विवेदी जी ने सिद्धांत है कि काव्य प्रतिभा बहुत से कवियों में ईश्वर प्रदत्त होती है। और जो वस्तु ईश्वर प्रदत्त होती है वह कामवायक होती है, निरर्थक नहीं, और उसमें समाज की कुछ न कुछ लाभ बबरव होता है। इसके अतिरिक्त यथार्थ वर्णन में कविता सभी कविता कही जायगी जब कि उसमें प्रभावकारकता का मुक्त विद्यमान होना।

इतिहास में इस बात को सिद्ध किया है कि कविता के प्रभाव से संसार में बड़े बड़े काम हुए हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि काव्य एक प्रभावशाली साहित्यिक मान्यता है। काव्य में कल्पना के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह मत है कि वह किसी सीमा तक काव्य के लिए आवश्यक है और काव्य में उसके समावेश को रोका नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि यह कल्पना जलस्य की कोटि की है तो वह जलस्य और अतिरिक्त लोगों को ही प्रिय कल्पती है। विविध और सम्य सोच उसे बरकते वासा समझते हैं। उन्हींके काव्य में यथार्थ वर्णन का ही अनुमोदन किया है।

कविता की भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह विचार है कि यद्य और पद्य

है और सभी के वर्धन से मनोरंजन ही सकता है फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई कवि विद्वानों को बेवट्टाओं का वर्धन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं? कल्पन अविचार और अंधपरम्परा। कवि को अपने काव्य के विषय का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए क्योंकि कविता में मनुष्य के जीवन की अभिव्यक्त होती है। जिस प्रकार से मनुष्य के जीवन के अस्तित्व पर हैं और मनुष्य जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसका अधिक से अधिक विस्तार हो उसी प्रकार से एक विज्ञ के लिये यह आवश्यक है कि वह परम्परा वाली सीमा संकोच को वृत्ति का परित्याग करके नवीनतर विषयों को अपने काव्य में समावेशित करे और इस प्रकार से अपने काव्य विषयक दृष्टिकोण का परिष्कार और प्रतिभा तथा काव्य का विकास करे।”

दोनों में कविता लिखी जा सकती है।<sup>१</sup> परन्तु यह भाषा सरल और स्पष्ट होनी चाहिए। किसी भी पाठक को यदि कविता पढ़ते हो पूरी धीर से समझ में आ जाएगी तो वह उसको रुचिपूर्वक पढ़ भी सकेगा और उसका आनन्द भी प्राप्त कर सकेगा। इसीलिए वह यह कहते थे कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा ही होनी चाहिए।<sup>२</sup> भाषा के विषय में द्विवेदी जी ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि उन्हें अपने काव्य में ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जो सर्व प्राज्ञ हो और यह गुण भाषा में तभी आ सकता है जब वह सरलता से युक्त हो। यदि पाठक को काव्य समझने के लिए भाषा की युक्तता के कारण कोई कठिनाई होनी तो वहाँ पर काव्य के उद्देश्य की हानि होगी। यदि कविता की भाषा स्पष्ट और सरल होती तो पाठक उसे भली प्रकार से समझ भी सकेगा और उसके आनन्द का भी भंडार भर सकेगा।

भाषा का एक और गुण यह भी होता है कि उसमें विषयानुकूलता हो। इसके लिए विषय को अनुकूल भाषा और उपयुक्त शब्दावली का चयन आवश्यक है। वहाँ तक काव्य भाषा में आदर्शकारिता या आभारकारिता का सम्बन्ध है द्विवेदी जी यह कहते हैं कि उसमें यह गुण केवल शिष्टता से नहीं आएगा। यदि भाषा सहज और स्वाभाविक है तथा उसमें कृत्रिमता का बोध नहीं है तो यह स्वाभाविक ही तथा उसमें कृत्रिमता का बोध नहीं है तो वह स्वयं प्रभावपूर्ण प्रतीत होगी। इसीलिए द्विवेदी जी ने कवियों को यह सलाह दी है कि वह यथासम्भव अपने काव्य में उस सामान्य भाषा का ही प्रयोग करें जो उनके दैनिक जीवन के प्रयोग में आती है क्योंकि उनका यह विचार है कि अपने आप में ही यह एक कृत्रिम बात है कि मिला मिलान प्रकार की भाषाएँ बोली और लिखी जाएँ।

१ गद्य और पद्य की भाषा युक्त युक्त न होनी चाहिये। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सम्य सम्राज की जो भाषा हो उसी भाषा में गद्य पद्यात्मक साहित्य होनी चाहिये।<sup>३</sup>

(रसज्ञ रंजन पृ० ७७)

२ मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी हो दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी तात्परी रूप हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे घास और आम सब बीज लेते हैं बिहान और रात्रिहान दोनों ही जिते काम में लेते हैं।

(वही, पृ० ७८)

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होया कि द्विवेदी जी का भाषा विषयक यह दृष्टिकोण अपनी उदारता और प्राज्ञता के कारण ही विशेष रूप से प्रभावित हुआ और इसलिए लड़ी बोली का जो हिंदी काव्य भाषा के रूप में जो स्थापन हुआ उसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। परन्तु भाषा सम्बन्धी उदार दृष्टिकोण के साथ ही साथ द्विवेदी जी मधुछ और अन्धकारनिष्ठ भाषा के प्रयोग के कट्टर विरोधी थे और इसलिए केवल सुख और व्याकरणिक भाषा को ही कविता में माध्य क्रिया है। कवि और काव्य के विषय में द्विवेदी जी के कुछ निष्कर्ष बहुत स्पष्ट हैं। उनके विचार से एक कवि का यह काम है कि वह किसी वस्तु का वर्णन करने के पूर्व अपने हृदय में जो रसानुभूति अनुभव करे, उसको कुछ इस प्रकार से अभिव्यक्त करे कि पाठक के हृदय में भी वही ही अनुभूति हो। इसीलिए द्विवेदी जी ने कविता का सबसे बड़ा गुण चरमकी सरसता बताया। उनका कहना है कि जिस रस की कविता ही उसको पढ़ने वाला अगर उसी रस के अनुकूल न व्यापार करने लगे तो वह कविता कविता नहीं गुरुवन्धी है।

द्विवेदी जी काव्य में समस्कार के समावेश के समर्थक थे। उनका यह मत था कि कविता में जो बात नहीं जाए वह असाधारण और निरासे ढंग से कही जानी चाहिए। इसलिए कवि को धर्म और अर्थ दोनों की ओर पूर्णतः ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी प्रभावशालीता के सबसे बड़े समर्थक थे। उनका मतानुसार काव्य का सर्वमाध्य मूल्य यह प्रभावशाली ही हो सकता है।

जहाँ तक काव्य के अर्थों में निहित दोषों का सम्बन्ध है द्विवेदी जी का यह मतव्य है कि उसमें यदि सरसता हो तो उसके बहुत से दोष दूक जा सकते हैं परन्तु कुछ काव्य शेष ऐसे हैं जिन्हें किसी भी प्रकार से सम्मत् नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अश्लीलता और प्राम्थता आदि के शेष। एक कवि के लिए उन्होंने ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा काव्यमय मानी परन्तु इसके साथ जो दूसरा अनिवार्य गुण चरममें होना चाहिए वह यह कि निरन्तर कठिन अभ्यास से वह अपनी प्रतिभा का विकास और परिष्कार करे।

काव्य में अलंकार प्रयोग के द्विवेदी जी विरोधी तो नहीं थे परन्तु इतनी आसंघारिकता का समर्थन नहीं करते थे जिससे काव्य में शोक्षितता और सुकृता जा जाए। उनका विचार था कि काव्य में आसंघारिकता की अपेक्षा सरसता और स्पष्टता के गुण अधिक अनुपयोगी हैं। अलंकार काव्य के शोदर्श की वृद्धि का माध्यम अवश्य ही है। परन्तु उसे काव्य के प्राथमिक तत्व के रूप में नहीं माध्य क्रिया जा सकता। अलंकारों में भी उन्होंने अस्वास्कार को अवधानता दी है।

काव्य में बर्तकार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी का यह मत है कि जहाँ तक सम्पादककार का प्रश्न है वे काव्य के लिए बहुत आवश्यक नहीं हैं क्योंकि सम्पादककार से काव्य श्रेष्ठ हो जाता है। जो काव्य श्रेष्ठ होगा उसमें सर्वात्मक रूप से काव्य में समाविष्ट करने और इस प्रकार से पाठकों को परमरुचि करने की इच्छा से जो कवि काव्य रचना में प्रवृत्त होता है वह उसके सौम्य को स्वयं नष्ट कर देता है परन्तु इस मन्तव्य का अर्थ वास्तव में यह है कि जब तक इन तत्वों का समावेश काव्य में आत्मन्तर की भाँति नहीं घटके समता है तब तक उसका अनुमोदन किया जा सकता है। इसका अतिरिक्त अतिथयता से इन तत्वों का समावेश काव्य का यथार्थात्मकता और प्रभावतात्मकता को भी कम कर देता है।

काव्य में छन्द विभाग के विषय में द्विवेदी जी ने यह लिखा है कि इस विषय में वास्तविकता का अनुगमन करना बहुत हितप्रद होगा। इसका कारण यह है कि संस्कृत साहित्य की परम्परा में जिन शास्त्रीय छन्दों की विवेचना की गई है वे व्यावहारिक दृष्टिकोण से हिन्दी कवियों के लिए अधिक प्राज्ञ नहीं हो सकते यद्यपि वह यह चाहते हैं कि यथासम्भव संस्कृत छन्दों का प्रयोग हिन्दी कवियों द्वारा किया जाए। इसीलिए उन्होंने कहा कि हिन्दी में प्रचलित छन्दों में कवियों को संस्कृत के कुछ श्रेष्ठ छन्दों को भी अपने काव्य में प्रयुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिए क्योंकि उनके विचार से इससे हिन्दी काव्य की सोमा बढ़ने की सम्भावना है।

इससे यह सिद्ध है कि द्विवेदी जी काव्य में छन्द विभाग के सम्बन्ध में कड़िबायी नहीं थे परन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि वह काव्य में छन्द तत्व को बहुत महत्त्व देते थे। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया है कि कवि चाहे जिस प्रकार के छन्द में काव्य रचना करे उसे यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि वह छन्द रूप विषय के सर्वथा अनुकूल हो। छन्द विभाग के सम्बन्ध में कहीं-कहीं द्विवेदी जी गवीनता के बहुत अधिक समर्थक हो गए हैं। इसलिये एक स्थान पर उन्होंने यह लिखा है कि पद्य के अन्त में अनुप्रासहीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने की आवश्यकता है। इस प्रकार से द्विवेदी जी ने काव्य में छन्द विभाग के विषय में जहाँ एक ओर वास्तविक अनुगमन का समर्थन किया है वहीं दूसरी ओर उन्होंने छन्द को नई सम्भावनाओं के क्षेत्र में भी कवियों को पूर्ण स्वतंत्रता दी है।

नाटक के विषय में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की यह धारणा है कि संस्कृत द्वारा परम्परा रूप में प्रदत्त नाटक रूपों का व्यावहारिक अनुगमन अधिक उपयोगी नहीं सिद्ध होगा क्योंकि युग परिवर्तन के साथ ही साथ साहित्य रूपों में भी परिवर्तन आवश्यक और स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए संस्कृत साहित्य में सुखान्तक नाटक का ही

समय और रचना निर्देशित की गई है। वहाँ तक दुलान्त नाटक का सम्बन्ध है उसका उसमें अधिक अनुमोदन नहीं किया गया है परन्तु दिनेशी जी ने दुलान्त नाटक को भी स्वीकृत किया। इसका कारण यह है कि दिनेशी जी का नाटक के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टिकोण यह था कि संस्कृत में नाटक विषयक जो सूक्ष्म बर्गीकरण किया गया है उसकी अवधि हिन्दी के नाटककारों के लिए बाधक नहीं है क्योंकि उस समय इस भेद का जो भी छात्रोपेय या व्यावहारिक महत्त्व रहा है हमारे युग के लेखकों के लिए अपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों से अधिक महत्त्व नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी यह भी धारणा थी कि वहाँ तक नाटक को एक माध्यम के रूप में स्वीकार करने का प्रयत्न है यदि कोई नाटककार उसके सैद्धांतिक भेद प्रभेद को अधिक ध्यान में रखेगा तो वह अपनी प्रतिभा का समुचित उपयोग नहीं कर सकेगा और न ही एक नाटककार के रूप में अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगा।

दिनेशी जी के मत के अनुसार एक समीक्षक का कर्तव्य यह है कि वह छन्द बलकार, व्याकरण आदि पर किसी दृष्टि की समीक्षा करते समय बहुत अधिक मोरच न दे क्योंकि ऐसा करना उसके अपने अधिकार का परिचय देना होता क्योंकि इस प्रकार की भूलें विद्येय रूप से व्याकरण की भूलें कम या अधिक संख्या में प्रायः समीक्षक करते हैं चाहे वह कितन ही बड़े विद्वान् क्यों न हों। किसी श्रेष्ठ ग्रन्थ का महत्त्व उसमें पाई जाने वाली व्याकरणिक भूलों से कम नहीं हो जाता। इसलिए समीक्षक को यह चाहिए कि वह यह देखने की कोश करे कि कोई दृष्टि किस प्रकार की वयम वस्तु पर आधारित है। फिर उसकी शैली की परीक्षा करनी चाहिए और यह देखना चाहिए कि उन्मोचिता की दृष्टि से तथा मनोरञ्जन की दृष्टि से वह पुस्तक किस प्रकार की है।

इसके अतिरिक्त उसे यह भी देखना चाहिए कि पुस्तक में या तो कोई नई बात लिखी हो और या किसी पुरानी बात को नए ढंग से लिखा गया हो। और अन्त में एक समीक्षक के लिए विचारणीय विषय यह होगा कि लेखक ने जिस उद्देश्य से कोई पुस्तक लिखी है वह पूर्ण होता है कि नहीं। दिनेशी जी का यह निर्देश है कि समीक्षक को किसी दृष्टि के गुण दोषों का परीक्षण करते समय व्यक्तिगत रायद्वेष की भावना से मुक्त रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्होंने सबम बड़ा उपदेश यह दिया है कि नये समीक्षक पूर्ण रूप से निर्भीक हों। किसी भी बड़े स बड़े या छोटे से छोटे साहित्यकार का मूल्यांकन करते समय समीक्षक को सटपट रहना चाहिए। यहाँ तक कि प्राचीन महान् कवियों तक की आलोचना उन्होंने इसी दृष्टि से की है।<sup>१</sup>

१ जिस देश के पढ़े लिखे लोगों का यह शास्त्र है कि पहले लोगों के दोषों का निवारण है

इस प्रकार से द्विवेदी जी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि यदि कोई समीक्षक किसी कृति के कबूत मुन्नों का वर्णन करता है दोषों को नहीं देखता या दोषों का वर्णन करता है और गुणों का उल्लेख नहीं करता तो उसकी समीक्षा एकांगी कही जायेगी। उनके मत से समीक्षा का अर्थ यह है कि पाठक को किसी कृति के पक्षार्थ स्वरूप से परिचित कराया जाए। इसलिए जब तक समीक्षा संतुलित नहीं होगी तब तक उसके इस अर्थ की पूर्ति नहीं होगी। स्वयं द्विवेदी जी ने अपनी समीक्षा में इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यों सामान्य रूप से उनका स्वयं सांख्यिक समीक्षाको में है और उन्होंने निर्णयार्थक और व्याख्यात्मक समीक्षा के साथ साथ तुलनात्मक समीक्षा पद्धति का प्रयोग किया है, कहीं कहीं उनकी ऐसी अतिशय रूप से व्याख्यात्मक हो गई है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर लिखा है "हैं महात्मा। आप विद्वान् आप भाषाय आप प्रधान पंडित आप विस्मात पंडित और हम असाध्य अज्ञ और दुर्बल क्योंकि हमें आपका व्याकरण तोयप्रद नहीं। सरकार की सेवा करते करते और प्रथमतया संस्कृत पढ़ाते पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्बलता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृत सेखनी सबमुक्त विद्वानता की कामनेनु है।"

उपरोक्त विवरण से यह ज्ञान हो सकता है कि द्विवेदी जी की आलोचना में जो व्याख्यात्मकता और तिरस्कार की भावना हुआ करती थी तथा उसका प्रभाव बहुत ही घातक हुआ करता था क्योंकि कोई भी लक्षित कवि या लेखक इस प्रकार की आलोचनाएँ देखकर स्वाभाविक रूप से हतोत्साहित होकर साहित्य के पक्ष से विमुख हो जायगा। परन्तु पक्षार्थ में ऐसा नहीं है क्योंकि द्विवेदी जी कट्ट आलोचना सही व्यक्ति की करते थे जिसके विषय में यह समझने से कि वह अपने पाठित्य प्रदर्शन की धुन में साहित्यिकता की अक्षमता कर रहा है और उसे सही मार्ग पर जाने के लिए कट्ट

पाप समझते हैं। उनमें गुण शोध निर्णायक अक्षि बतसाइये कैसे उत्पन्न हो सकती है? ऐसी अक्षि उत्पन्न हो या न हो बोसो मत। आस्मीक और कालिदास के बीच विद्वान्तर मरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किए बिना न रहा आप तो प्राचीन ग्रन्थकारों के गुण ही गुण पाओ। जब उन्हें सुनते सुनते लोग क्रम आप तब शोध विज्ञान। भाषा विज्ञान और गुण शोध विवेचनार्थक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेंट भारतीय मुद्रकों को विज्ञापित है तो उसे देखने से। तुम क्यों पुराने पंडितों के शोध विद्वान्तर व्यर्थ के लिये वातक मोल लेते हो?

आलोचना आवश्यक है अथवा द्विवेदी जी ने ऐसी भी उदाहरण आलोचना लिखी है कि जिससे निश्चित रूप से किसी भी कवि या लेखक को अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता और जो उस नए कवि या लेखक की भावी उन्नति में अनिवार्य रूप से योग देता। उदाहरण के लिए उम्होंने श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'नारद भारती' नामक काव्य की समीक्षा करते हुए लिखा है— 'यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आवस्यक काम देता है। यह सोचते हुओं को जगाने वाला है, भूछे हुओं को ठीक राह पर खाने वाला है। निराशोभियों को उद्योबधीक बनाने वाला है। आरम्भ विस्मृती को पूर्व स्मृति खाने वाला है। इसमें बहु संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य में नहीं हो सकती है।'

इस प्रकार द्विवेदी जी ने जो समीक्षा लिखी है वह उनके दृष्टिकोण और व्यक्तित्व के विषय पक्षों का परिचय देने में समर्थ है। उनके समीक्षा व्यक्तित्व का निर्माण उनके अपार ज्ञान स्पष्टताबिता और निर्भीकता से हुआ था। 'रसज्ञ रंजन' और 'आलोचनाञ्जलि' नामक कृतियों में द्विवेदी जी ने अपने आलोचनात्मक दृष्टिकोण का पयासम्भव व्यवस्थित और वैज्ञानिक ढंग से परिचय दिया।

जुलू मिलाकर द्विवेदी जी का समीक्षा विषयक दृष्टिकोण एक प्रकार की प्रति क्रियात्मकता से भरा हुआ है। बहुधा मित्र मित्र विज्ञान को उनके समीक्षा साहित्य पर अतिवारिता का आक्षेप करते हैं उसका यही कारण है। हिन्दी कविता के तृतीय विकास युग अर्थात् पीठिकाण में लिखे गए काव्य के प्रति द्विवेदी जी की धारणा अच्छी नहीं थी। इसी कारण से उम्होंने काव्य में नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन करने वाली नृ गारिकता का पोर विरोध किया। उनकी समीक्षा में आत्मिकता तथा नैतिकता के समावेश के प्रति जो आग्रह दिखाई देता है उसका यही कारण है।

द्विवेदी जी ने जो आलोचना लिखी है उसके वैज्ञानिक और व्यावहारिक पक्षों का परिचय उपर्युक्त विवरण से मिला जाता है परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेख के योग्य है कि "रसज्ञ रंजन" और "आलोचनाञ्जलि" नामक वैज्ञानिक रचनाओं के अतिरिक्त उम्होंने "हिन्दी नवरत्न" व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली रचनाएँ भी लिखी हैं। परन्तु उसकी रचनाओं में जो सबसे अधिक विवाद की विद्य हुई वे हैं 'हिन्दी कालिदास की समालोचना और 'कालिदास की निर्कुलता'। इनमें से हिन्दी कालिदास की समालोचना में 'कुमारमन्मथ' 'अनुसंहार', 'मेघदूत' और 'रघुवंश' आदि की परिव्यात्मक व्याख्या की गयी है।



वहीं तक द्विवेदी जी की भाषा का सम्बन्ध है पीछे कहा जा चुका है कि उनके समय में भाषा का स्वरूप क्रमशः स्थिर हो रहा था। इस दृष्टिकोण से भाषा को समर्थता और शुद्धता प्रदान करने में द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हाथ था। भाषा पर उनका असामान्य अधिकार था। यदि वहीं पर उनकी भाषा अतीव और अचल प्रतीत होती है तो इसका कारण यह है कि उन्होंने प्रचलित भाषा का प्रयोग करके अपनी बात को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से कहना चाहा है। उनकी भाषा में ऊँच और अंग्रेजी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग होने का एक कारण यह भी है परन्तु ऐसी भाषा साहित्यिक विषय पर अच्छी नहीं रचनाओं में नहीं मिलती बल्कि अन्य सामाजिक विषयों पर अच्छी नहीं रचनाओं में मिलती है।<sup>१</sup>

इस प्रकार से यह आभासित होता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी का आदर्शवादी उस समय हुआ जब खड़ी बोली का स्वरूप स्थिर हो रहा था। अपने युग के वह सर्व आचार्य थे जिन्होंने भाषा के महत्त्व को समझा और उसे साहित्य के संदर्भ में हल करने की चेष्टा की। उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि कविता का जो परम्परागत अर्थ सामान्य लोग समझते हैं, वह सही नहीं है बल्कि उसे विस्तृत अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है। उन्होंने तर्क से यह समझाने की चेष्टा की यदि प्राचीन समय में काव्यमयी जैसे कृतियों की भाषा मध्य हो सकती है तो आधुनिक काव्य में भी यही का प्रयोग किया जा सकता है।

१. उदाहरणार्थ भाषा कहती है कि प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि भाषा कभी भाषा मरना कब जागृत मंगलपुरी और इलाके तदरोप से भाष्य तो हुपा करके वहाँ के एक भाष्य अथवा प्राईमरी या मिडिल स्कूल का मुभाइता न तानी तो मुभाइता अथवा ही करे। ऐसा करने से भाषाको मालूम हो भाषाए कि कितने भाष्य मुर्बा समझ रहे हैं वह जब तक इन दिनों में घौली जाती है। अथवा भाषाकी इस भाषा नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो हुपा करके यह बताइये कि भीमान ही के लक्ष्मों काव्यमय मली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है। १७०० ईसवी से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं जिन्होंने भाषा में बड़े बड़े ग्रन्थ बनाए हैं। हिन्दू कवियों की भाषा खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।”

वेष्ठ काव्य के लिए उन्होंने अर्थ और रस को महत्व दिया, क्योंकि उनके विचार में वही उसकी कसौती है। उन्होंने नए कवियों को यह सुझाव दी कि यथासम्भव बुद्धता का शोध से बचने की चेष्टा करें और एसा तभी हो सकता जब वे सरल सामान्य और स्वाभाविक भाषा का प्रयोग करेंगे। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में त्रिवेदी जी के महत्व का एक बड़ा कारण यह है कि वह नाभी हिन्दी समीक्षा का मार्ग निर्देशन कर सके। उन्होंने इस विद्या में कार्य करते हुए सबसे पहले भाषा का परिष्कार किया जो हिन्दी के लिए उनकी सबसे बड़ी रचना है। वहाँ तक समीक्षारमक दृष्टिकोण का प्रयत्न है वह बहुत निर्भीक समीक्षक थे। कभी-कभी कुछ लोग उनके विरोध में यह कहते थे कि उन्होंने अत्यन्त कटुतापूर्वक आलोचना की है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि सुधारपरक समीक्षा पद्धति से ही भाषुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ हुआ। हिन्दी गद्य के आविर्भाव के पश्चात् जब समीक्षा साहित्य का आरम्भ हुआ तब महाश्वर प्रसाद त्रिवेदी ने सबसे पहले अपने समीक्षा व्यक्तित्व से समकालीन लेखन को प्रभावित किया। इसलिए यह स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय अथवा अन्य किसी प्रकार की समीक्षा पद्धति का आशय लेते के स्थान पर सुधारपरक समीक्षा पद्धति को ही स्वीकार करते क्योंकि उसके माध्यम से हिन्दी साहित्य के इस आरम्भिक युग में विविध लेखकों और कवियों को सुझाव देकर वह उनका मार्ग दर्शन कर सकते थे। महाश्वर प्रसाद त्रिवेदी ने पश्चात् उनका समान प्रकार व्यक्तित्व वाला और कोई समीक्षक नहीं हुआ। इसलिए हिन्दी में सुधारपरक समीक्षा पद्धति की यह परम्परा भी त्रिवेदी जी के पश्चात् टूट सी होकर अन्य प्रवृत्तियों से मिला गई क्योंकि परबर्णों समीक्षा का दोष कमजोर प्रयत्न होता जाता गया और उसमें विविधताओं का समावेश होता जाता गया।

### सुधनारमक समीक्षा की प्रवृत्ति

संक्षेप —

सुधनारमक समीक्षा या 'कम्परेटिव क्रिटिसिज्म' इस समीक्षा पद्धति को कहते हैं जिसमें समीक्षा विषय में निहित तथ्यों की तुलना उन्हीं के समान अन्य विषयों में निहित तथ्यों से की जाय और उसके आधार पर बारी-निरपेक्ष निष्कर्ष निकाला जाय। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह समीक्षा प्रवृत्ति बहुत प्राचीन नहीं है यद्यपि भाषुनिक युग में इसका

प्रभार बहुत अधिक है। इसकी स्थापक दीर्घम माय्यता और प्रमुखाता का कारण यह है कि इसका क्षेत्र बहुत अधिक प्रसस्त है। एक लघीम समीक्षा प्रवृत्ति होने के कारण भी इसकी सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं। इस समीक्षा पद्धति में जो दृष्टिकोण कार्यशील रहता है वह यह है कि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में जो साहित्य रचा गया है उसकी मूलमूल प्रेरणा अलग-अलग समान रही है, क्योंकि मनुष्य की मानवताओं और मनुसृष्टियों में सर्वत्र एक रूपता पायी जाती है।

पूर्व रूप —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का पूर्व रूप दिवोदी की जाओभमा में मिच्छता है। उन्होंने अपनी 'आलोचना-बलि' नामक रचना में अस्वभाव्य इन् 'सौम्यराम' काव्य के सम्बन्ध में उसकी तुलना काकियास से की है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत उन्नीसाक दिवोदी लिखित 'काकियास और सेकसपीयर' नामक कृति का भी उल्लेख किया जा सकता है। बिचमें उन्होंने विश्व साहित्य के इन महान् नाटककारों का तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन किया है। परन्तु इस पुस्तक में सादृश्यता और विश्लेषणमयता का अभाव है। सेकक ने काकियास और सेकसपीयर के बीचन परिच पर ही मुख्यतः दृष्टि रखी है।

इसके अतिरिक्त काकियास और मन्मथूति' नामक पुस्तक का भी उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। यह पुस्तक मूलतः संयमा भाषा में लिखी गई थी और इसके लेखक दिवोदीनास राव थे। हिन्दी में इसका अनुवाद पं. अणनारायण पांडेय द्वारा किया गया। इस पुस्तक में काकियास लिखित 'अभिमान शाकुन्तलम्' तथा मन्मथूति लिखित 'उत्तररामचरितम्' नामक नाटकों के आधार पर इन नाटककारों का विश्लेषण रूप से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

सारकर्म और विकास —

तुलनात्मक समीक्षा के मूल में जो वृत्ति कार्य करती है वह यह है कि किसी भी वस्तु के यथार्थ महत्व का बोध तभी होता है जब उसी के समान वस्तु की तुलना करत हुए उसका आधेन्द्रिक ज्ञान का निर्धारण किया जाए। स्वतंत्र रूप में किसी कृति का परीक्षण इससे मिस होता है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक समीक्षा मूल्यांकन के लिए अपेक्षाकृत प्रसस्त दृष्टिकोण उपलब्ध करती है। इसीलिए प्रतिनिधि समीक्षा प्रवृत्तियों में तुलनात्मक समीक्षा को विशिष्ट स्थान दिया जाता है। हिन्दी समीक्षा के प्रारम्भिक युग से ही तुलनात्मक समीक्षा प्रचाली का आरम्भ हो गया था। हिन्दी के प्रारम्भिक काशीन प्रमुखा समीक्षकों में से जनक ने इस प्रवृत्ति का अनुयमन किया।

विभिन्न समीक्षकों की समीक्षा प्रभावशक्ति में तुलनात्मक समीक्षा प्रभाव नहीं भी रही उन्होंने स्पष्ट रूप से इसका प्रयोग अवश्य किया ।

मिथबन्धु —

मिथबन्धुओं की समीक्षा पद्धतियाँ का एक रूप तुलनात्मक भी है । उनके प्रधान ऐतिहासिक दृष्टिकोण में भी तुलनात्मकता मिलती है । उन्होंने अपने हिन्दी नबन्नर' में कवियों का जो श्रेणीकरण प्रस्तुत किया है, वह भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से किया गया है । कवियों का यह श्रेणीकरण जहाँ एक ओर मिथबन्धुओं के मौलिक दृष्टिकोण का परिचायक है वहाँ दूसरी ओर तुलनात्मक समीक्षा के सन्तुलित रूप का भी परिचय सबसे मिलता है । मूर, तुलसी देव बिहारी भूपण केदार मठिराम तथा हरिदत्त आदि कवियों का जो तुलनात्मक अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत किया है तथा जो निष्कर्ष उन्होंने निकाले हैं वे उनकी सूक्ष्म विदमपणात्मक सामर्थ्य का परिचय देते हैं । विभिन्न कवियों की गुण दोष निरूपण प्रभासी के आचार पर परख करत हुए उनकी शास्त्रीय आलोचना प्रस्तुत करना तथा उनकी पारस्परिक संघर्षता का निर्धारण करना मिथबन्धुओं की तुलनात्मक समीक्षा का आचार है ।

मिथबन्धुओं की तुलनात्मक समीक्षा केवल विभिन्न कवियों की समानताओं और असमानताओं की पारस्परिक तुलना तक ही सीमित नहीं रही है बल्कि विभिन्न युगों की तुलना और विभिन्न भाषाओं तथा उनके संतकों की तुलना भी उसमें हुई है । उदाहरण के लिए उन्होंने हिन्दी कविता के विकास के विभिन्न युगों की तुलना अथवा शाब्द के इतिहास के विभिन्न युगों से की है तथा इसी प्रकार से हिन्दी कवियों और अंग्रेजी कवियों की तुलना भी की है । इन तुलनाओं में मल्लि युग की तुलना पुनर्जागरण युग तथा चण्ड बरबाई और तुलसीदास की तुलना और केवलपीयार आदि में की गई है । तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के इसी आधारभूत तत्त्वों के द्वारा आगामी काल में यह समीक्षा पद्धति प्रचलित हो सकेगी ।

पद्मविह धर्मा —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का हिन्दी में मुख्यवर्षित रूप में स्थापन करने का श्रेय प० पद्मविह धर्मा को ही है यद्यपि उनसे पूर्व भी इन पद्धति के रूप मिलते थे । प० पद्मविह धर्मा में तुलनात्मक समीक्षा पद्धति के अनुसार ही आनन्द समीक्षात्मक दृष्टिकोण का निर्माण किया है । धर्मा जी ने बिहारी और देव के ऐतिहासिक आद-विवाद में भाग लिया और बिहारी की देव में उच्चता सिद्ध की ।

इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी के उन कवियों की ओर सामान्य रूप से उन्होंने ध्यान नहीं दिया जो बिहारी और देव की अपेक्षा महान् हैं क्योंकि उनके काव्य में उतनी सामकारिकता या मार्मिकता नहीं मिलती। वह चमत्कार प्रधान काव्य को विशेष महत्त्व देते थे क्योंकि उनही जारजा के अनुसार काव्य के बल-करण से उसके शौर्य से बहुत वृद्धि होती थी। शर्मा जी के इसी भाष्य की पक्षपात को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यिक मूल्य से मुक्त प्रतिपादित किया है।<sup>१</sup>

### सतसई संहार —

पं० पद्मसिंह शर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्व में वे विशेषताएँ दिखाई देती हैं जो एक तुलनात्मक समीक्षक के लिए अपेक्षित हैं। इनमें से एक विशेषता है उनका बहु भाषा ज्ञान। संस्कृत हिन्दी प्राकृत तथा ब्रज भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। इनमें से प्रत्येक भाषा की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ उन्होंने पढ़ रखी थी और उनके बहुत से बंध उन्हे कठम्य भी थे। शर्माजी का 'पद्मवराग' नामक निबन्ध संग्रह ऐसी विचारात्मक रचनाओं से युक्त है जो उनके व्यक्तित्व का सम्यक परिचय देने में समर्थ हैं।

तुलनात्मक समीक्षा विषयक शर्मा जी का पहला निबन्ध "सतसई संहार" है जो "सरस्वती" में बारम्बार प्रकाशित हो चुका है बाद में पुस्तिकाकार प्रकाशित हुआ।

१ - "पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी शालीकारत्मक पुस्तक लिखी। इसमें उस साहित्य परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। आर्या सतसती और 'भाषा संतसती' के बहुत से पदों के साथ बिहारी के शोहों का पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वता के साथ एक बड़ी शान्ति हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी की रचना कर दिखाया। इसी यत्नी जाती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के वृत्त कवियों के मिस्रै बलने पदों की बिहारी के शोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने उन मारतों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को उन्नत सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। जो लक्ष्य है कि शर्मा जी ने भी बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया जो पर उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"

भाषा की प्रवाहपूर्णता और शैली की समीक्षा के साथ पद्मसिंह विषय प्रतिपादन से युक्त यह रचना तुलनात्मक समीक्षा साहित्य की प्रवर्तक कृतियों में है। परन्तु चूँकि अभी इस समीक्षा का सम्पूर्ण रूप में विकास नहीं हुआ था इसलिए इसमें कुछ ऐसे तथ्य हैं जो शैक्षिक पक्षों पर बटाका के रूप में समाविष्ट हुए हैं। वास्तव में इसका कारण यह था कि पं० पद्मसिंह शर्मा अपने स्वभाव से ही स्पष्टवादी थे और लेखन में भी स्पष्टवादिता की प्रवृत्ति को ही पसन्द करते थे।

### बिहारी की सतसई —

पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी की सतसई' की जो विस्तृत भूमिका लिखी है वह उनकी विद्वता की परिचायक होने के साथ ही साथ तुलनात्मक समीक्षा का भी प्रौढ़ रूप प्रस्तुत करती है। इस रचना में कवि बिहारी की साहित्यिक व्यष्टता का निर्धारण करते हुए शर्मा जी ने उनके काव्य के उन भर्तृत्वपूर्ण तथ्यों की विवृति की है जिन्होंने हिन्दी के पाठक अभी तक भ्रष्ट किये थे। यही नहीं किसी एक भाव का साम्य किसी दूसरे महा कवि की रचना से उपस्थित करना और अपने निर्णयगत मत का प्रतिपादन जिसमें प्रमाणात्मक रूप में उल्लेख किया है वह अत्यन्त सुसंगत है।

'बिहारी सतसई' में एक स्मरण पर उसका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है 'आजकल सम्प्रान्त विदित सम्राज कोरी स्वभावोक्ति पर किता है। अग्य अर्थकारों की सत्ता इसकी परिष्कृत रचि की अर्थों में काटा ही सतसई है और बिरोपकर अतिशयोक्ति से तो उसे कुछ बिड़ सी है। प्राचीन साहित्य विद्वानों के मत में जो चीज कविता कादिनी के लिए निदान उपदेश थी वही इनके मन में सर्वथा है। यह भी एक रचि वैचित्र्य का वीरगम्य है। जो कुछ भी हो प्राचीन काव्य वर्तमान 'परिष्कृत सुदृष्टि' के आदर्श पर नहीं रहे गए। उन्हें इन लक्ष्य से वापस चाहिए प्राचीनता की दृष्टि से परबने पर ही उनकी गुनी समझ में आ सकती है। 'सतसई' भी एक ऐसा ही काव्य है बिहारी उस प्राचीन मत के अनुयायी थे जिनमें अतिशयोक्ति शून्य अर्थकार चमत्कार रहित माना गया है। अपना उदाहरण पद्यों और निरर्थक आदि अर्थकार अतिशयोक्ति से अनुयायिन होकर ही जीवन काम करते हैं अतिशयोक्ति ही उन्हें जिज्ञाकर चमत्कारी है मनमोहक बनाती है उनमें जायदा आती है।' ---

## मीलिकता का स्वरूप —

पं० परमसिंह सरमा ने 'बिहारी की सतसई' का अध्ययन करते समय पद्य के रीली छन्द भाषा अर्थकार आदि तत्त्वों का तुलनात्मक दृष्टिकोण से विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि साठबाह्र 'भाषा सप्तशती तथा वाक्यशास्त्र' इत्यादि ग्रंथ 'सार्वा सप्तशती' आदि ग्रंथ बिहारी के सार्वादर्श रूप से मान्य थे तथा उनका प्रभाव भी उन्होंने उद्घोष किया है। इस सम्बन्ध में सरमा जी के कुछ विचार आदर्श कोटि के हैं। उदाहरण के लिए कवि कार्य तथा मीलिकता के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि साहित्यिक मीलिकता कृती नवीन विषय की सम्पादन में नहीं होती। उपरोक्त छन्द का नवीन रूप में प्रस्तुतीकरण भी मीलिकता का सूचक है।

यही नहीं उन्होंने स्पष्ट रूप से इस तथ्य की बोधना की है कि साहित्यिक का परस्पर भाषा अथवा विषय साम्य से भ्रमण रहना असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त कभी कभी यह केवल सयोग के कारण भी होता है। अतः इस प्रकार के बोध विरोध कवि पर स्याकर उसे हीन सिद्ध करना सर्वथा अन्याय है। उन्होंने 'बिहारी की सतसई' में लिखा है 'कवि भी प्रकृति बाटिका का विकासक बसत है। वह प्रकृति के उन्ही नीरम सूखे सूखे कर्मों से अपनी प्रतिभा सन्निधि से आलौकिक रस का संकलन करके कुछ से कुछ बिसाता है। कवि बसत किसी पुरानी कविता ग्रन्थ में रस के मधुर फल किसी म अकार स्वनि के मनोहर पुष्प और किसी में बस्तु स्वनि के सुन्दर रूप रंग का समावेश करके सूखते हुए और निर्बीज को सजीव बना देता है। किसी को सख्य सन्निधि के और किसी को अर्थ सन्निधि के सहारे ऊपर उठाता है। किसी को अकार क वीचित्र्य से आँसुओं में बुझने और चित्त में बुझाकर बिसाता है।'

## महत्त्व —

पं० परमसिंह सरमा का महत्त्व हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में तुलनात्मक पद्य के सुनिश्चित प्रवर्धक की दृष्टि से है। उन्होंने "बिहारी की सतसई" की भूमि में बिहारी की आपेक्षित उद्वेगिता का विवर्धन कराते हुए अपने मठ का पाठ्य

पूर्व पुष्ठीकरण किया। उनकी समीक्षा में कहीं कहीं दास्यता तथा प्रमादवादिता की प्रधानता भी हो गयी है। यह निश्चित है कि उनके इस या ही यह परिणाम हुआ कि न कबल बिहारी के बारे में जानकारी बढ़ी बरन उनके यथार्थ महत्त्व को भी समझा गया। इसके अतिरिक्त समीक्षा में स्पष्टवादिता तथा पनपात हीनता के गुणों के समावेश की भी एक युगीन आवश्यकता की बिहारी पूर्ति उनके द्वारा की गयी।

### कृष्णबिहारी मिश्र —

हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के विकास में योग देने वाली दूसरी उल्लेखनीय कृतियाँ कृष्णबिहारी मिश्र लिखित 'देव और बिहारी' हैं। इस पुस्तक में उन्होंने देव को बिहारी की अपेक्षा अष्टतर कवि घोषित किया है। इसके पूर्व पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' नामक कृति में बिहारी की घांटा के विषय में जो मन्तव्य प्रस्तुत कर चुके थे उसका 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक में खंडन किया गया।

इस प्रकार की तुलनात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के प्रचार के दृष्टिकोण से तो ठीक रहती है परन्तु इसमें एक प्रकार के आप्रह को प्रति भी बिघमान रहती है। इसीलिए एक पुस्तक में भी पूर्व निश्चित मन्तव्य या बिघना उद्देश्य देव का बिहारी से घेष्ठ सिद्ध करना था। इस ग्रंथ में लेखक ने अन्य अनेक कवियों से देव की तुलना करके उन्हें अष्टतर स्थान दिया है। यह पुस्तक तुलनात्मक समीक्षा का प्रौढ़ और व्यापक रूप प्रस्तुत करती है। आगे चलकर इस समीक्षा पद्धति का जो विकास हुआ उसमें भी इस पुस्तक का पर्याप्त योग है।

### देव और बिहारी —

इस ग्रंथ में पं० कृष्णबिहारी मिश्र का उद्देश्य देव के काव्य मौल्य की व्याख्या करते हुए उनका विषय रूप से बिहारी की अपेक्षा उच्च महत्त्व प्रतिपादन करना था। ऐसा करते समय लेखक ने काव्य के विविध पक्षों के आधार पर इन दोनों कवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में एक स्थान पर इन दोनों कवियों के प्रेम वर्णन की तुलना प्रस्तुत करते हुए मिश्र जी ने लिखा है 'बिहारी साध की अपेक्षा देव ने प्रेम का वर्णन अधिक और क्रमबद्ध किया है। उसका वर्णन कुछ प्रेम के स्फुरण में विद्येय हुआ है। बिहारी लाल का वर्णन तो प्रमत्त ही है न उसमें विषय अन्य और कुछ प्रेम से बिलगाव उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। देव ने परकीया का वर्णन किया है और अष्टा किया है परन्तु परकीया प्रेम की अज्ञाने निम्न



भी खूब की है और स्वकीया का वर्णन उससे भी बढ़कर किया है। मुग्धा स्वकीया के प्रेमालम्ब में देव माग दिखाई पड़ते हैं। पर बिहारी ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है।<sup>१</sup>

शास्त्रीय दृष्टि —

पं कृष्णबिहारी मिश्र ने हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य का गहन अध्ययन किया था। इसके प्रतिरिक्त उनके पास एक ठोस साहित्यिक आधारभूमि थी क्योंकि संस्कृत काव्यशास्त्र का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप ही हिन्दी में भी साहित्यशास्त्र की परम्परा का प्रवर्तन हुआ था और रीतिकाळ में लिखा गया हिन्दी का काव्य भी प्रायः उन्हीं मानकों के अनुसार था। इसलिए उन कसौटियों के सम्बन्ध में रीतिकाळीन साहित्य का परीक्षण सर्वथा सम्भव था। देव बिहारी और मतिराम पर मिश्र भी ने जो अपने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किए हैं वे इसी शास्त्रीय दृष्टिकोण से लिखे गए हैं।

निर्भवात्मक स्पष्टता —

मिश्र जी की तुलनात्मक समीक्षा में निर्भवात्मक स्पष्टता सर्वत्र लक्षित की जा सकती है। उदाहरण के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक 'देव और बिहारी' में एक स्थान पर लिखा है 'देव जी शू गारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। बनेक स्थलों पर भाव समानता में बिहारी काक देव तथा अन्य कवियों से बह गए हैं। देव की भाषा बिहारीकाक की भाषा से कहीं अच्छी है। घुर हित हरिबंध मतिराम तथा अन्य कई कवियों की भाषा भी बिहारी की भाषा से मधुर है। भाषा का समुचित नियंत्रण करते हुए पम्भीरता पूर्वक भाव का निबँह करने में देव जी अद्वितीय हैं। — एक मात्र सतसई के रचयिता के कुछ बोहे कोई मने ही पिबिल कहूँ के पर वर्णनों प्रण बनाने वाले देव जी के विचित्र उन्म कहीं बूढ़ने पर मिलेंगे। — सारांश यह कि हमारी राय में शू गारी कवियों में देव जी का स्थान पहले है और बिहारी काक का बाद को।<sup>२</sup> इसी प्रकार से अन्य स्थलों पर भी उनके निर्णय स्पष्ट हैं।

१ 'देव और बिहारी' पं० कृष्णबिहारी मिश्र पृ० १५२।

२ वही पृ० १५६, २५२, २६।

काव्य की भाषा —

काव्य की भाषा के विषय में पं० हृष्य बिहारी मिश्र का यह मत था कि यद्यपि लड़ी बोली में लोग काव्य रचना कर रहे थे परन्तु उसके लिए अधिक उपयुक्त भाषा ब्रजभाषा ही है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करता अनुचित न होगा कि उनके समय तक लड़ी बोली काव्य की भाषा बन चुकी थी और अनेक कवि उसमें काव्य रचना करके उसकी सम्मानगाओं की ओर संकेत कर रहे थे। मिश्र जी भी यह चाहते थे कि हिन्दी और हिन्दी कविता की सभी प्रकार से स्रष्टि हो परन्तु उनका निश्चित मत था कि वृत्ति काव्यात्मक गुण ब्रजभाषा में अधिक सम्भव और सुलभ हैं। इसलिए उसी में कविता करना अधिक उचित होगा। उनके विचार से भावार्थकता और शब्द सौन्दर्य के गुण लड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक थे।

इस प्रकार से यह कहना अनुचित न होगा कि जहाँ एक ओर सास्त्रीयता के कट्टर अनुगमन के कारण मिश्र जी ने आधुनिक विचारधाराओं को अपनी समीक्षा में स्थान नहीं दिया उसी प्रकार से दूसरी ओर ब्रजभाषा के अतिशय समर्थन के कारण उन्होंने लड़ी बोली में काव्य रचना को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया।

देव और केदार —

हृष्य बिहारी मिश्र ने अपने 'देव और बिहारी नामक पुस्तक में देव की भाषा की तुलनात्मक धेष्ठता का अन्वेषण करते हुए अन्य कवियों की भाषा पर भी विचार किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने देव और केदार की भाषा की तुलना करते हुए लिखा है 'मुख्यतया दोनों ही कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की है पर केदार की भाषा में संस्कृत एवं बुभुक्षुण्डी के शब्दों को विषय भाष्य मिठा है। संस्कृत शब्दों को अधिकता से केदार की कविता में ब्रजभाषा की सहज माधुरी घून हो गई है। संस्कृत में मीछित वर्ण एवं ट वर्ण का प्रयोग विशेष अनुचित नहीं माना जाता, परन्तु ब्रजभाषा में इनको धृति कटु मानकर यथासाध्य इनका कम व्यवहार किया जाता है। केदारदास ने इस पाबन्दी पर विरोध ध्यान नहीं दिया है। इधर देव ने मीछित वर्ण ट वर्ण एवं ऐयुक्त वर्ण का व्यवहार बहुत कम किया है। जो जहाँ तक धृति माधुर्य का सम्बन्ध है, देव की भाषा केदार की भाषा से अगुनी है। केदार की भाषा बहुत कुछ निरस्त भी है। ---शब्दों को तोड़ मरोड़ कम करने तथा व्याकरण संगत भाषा लिखने में यह देव से ---अच्छे हैं। देव की भाषा लिखने में लोच अस्वाभाव, प्रस्तुत की सरलता एवम् स्वा

साहित्यता अधिक है। हिन्दी भाषा के मुहावरें एवम् कोकोटिवा भी देव की भाषा में सहज सुकर हैं।<sup>११</sup>

मतिराम प्रन्वाबली —

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपनी पुस्तक 'मतिराम प्रन्वाबली' में भी भूमिका लिखते समय मतिराम की तुलना देवी बिदेसी भाषाओं के विविध कवियों से की है। वहीं कही यह इस वर्ण में तो समत है ही कि वो कवियों में भाव साम्य जबवा विषय साम्य मिळता है, साध ही बहुत से कवियों के सम्बन्ध में उसे और भी व्यापक स्वल्प दिया गया है। उदाहरण के लिए मतिराम की तुलना सूरदास तुलसीदास, तोप रघुनाथ कालिदास रवीन्द्र सेनसपीयर आदि से भी की गई है। इनमें परस्पर भावगत जबवा विषयगत समानता मिळती है। अपर्युक्त कवियों में से जनेक के क्षेत्र परस्पर सर्वथा भिन्न हैं और उनकी एक दूसरे से तुलना उनके स्तर के अंतर के कारण भी नहीं की जा सकती, परन्तु मिश्र जी ने उनके काम्य का व्यापक पृष्ठभूमि पर अध्ययन करते हुए, इस प्रकार के प्रसंगों की खोज करके उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

व्युत्पत्ति —

पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने हिन्दी के संयत समीक्षकों में अपना सम्मानपूर्व स्थान बना लिया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मिश्र जी का आविर्भाव हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में उस समय हुआ था जब समीक्षा के स्वल्प का स्तरीकरण हो रहा था। कुछ समीक्षक उनके पूर्व हो चुके थे, जिन्होंने अपने अपने दृष्टिकोण से अपनासम्बन्ध वैज्ञानिक और व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्रों में कार्य किया था। मिश्रजी ने इस परिस्थिति को बचार्थ रूप में समझा और साहित्यालोचन में प्रवृत्त हुए। समकालीन आलोचना में वो तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति थी इसके विविध व्यक्तियों में मिश्र जी एक हैं। देव और बिहारी उनकी इसी प्रकार समीक्षा पद्धति की परिचायक पुस्तक है। उन्होंने 'मतिराम प्रन्वाबली' में भी जो भूमिका लिखी है उससे उनकी साहित्य विषयक माध्यताओं का निर्देहन होता है। इन दोनों ही पुस्तकों में मिश्रजी का दृष्टिकोण प्रधान रूप से राष्ट्रीय रहा है।

उन्होंने अन्य राष्ट्रीय समीक्षकों की भाँति अपने दृष्टिकोण में अनिश्चयता और

अस्विरता का परिचय नहीं दिया है बल्कि एक ही मत पर दृढ़ रहे। यह भी उनके दृष्टिकोण की दृढ़ता का सूचक है। उनके समय में मिथबन्धु, साक्षा भगवानदीन, पण्डित रामा और रामचन्द्र शुक्ल आदि समीक्षक थे जो उनके दृष्टिकोण के समान ही किसी न किसी रूप में शास्त्रीयता के समर्थक थे। यह एक संयोग की बात थी कि अनेकाङ्ग अदिक महत्वपूर्ण विषयों की अपेक्षा करके वे समीक्षक रैब और बिहारी की उच्चता या मध्यता के विचार में पड़े परन्तु इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में अनेक नई विद्याएँ स्पष्ट हुईं जिनके फलस्वरूप भविष्य में उसने प्रशस्ति पायी।

मगवान दीन —

साक्षा मगवानदीन का स्थान भी हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत द्वितीय रूप से उल्लेखनीय है। साक्षा जी ने यद्यपि अपने साहित्यिक सिद्धान्तों के विषय में कोई स्वतंत्र समीक्षा ग्रन्थ नहीं प्रस्तुत किया परन्तु उनकी लिखी हुई भिन्न भिन्न टीकाओं सम्पादित ग्रन्थों पत्रिकाओं आदि में उनके विचार मिल जाते हैं। बिहारी और रैब" धीरे-धीरे से जो पुस्तक मिलती है उसमें साक्षाजी के निरन्तर संगृहीत किए गए हैं। साक्षाजी कट्टर रूप से शास्त्रीय समीक्षक थे। उनका यह शास्त्रीय दृष्टिकोण प्रायः सभी रचनाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

साक्षाजी की समीक्षात्मक कृतियों में 'अलंकार मञ्जूषा' तथा व्यंग्यार्थ मञ्जूषा' आदि सैद्धांतिक रचनाएँ 'कैलाश कौमुदी', प्रियाप्रकाश' 'बिहारी बोधिनी', 'मानस की टीका' 'बोहावली' कविताशास्त्री' और अजनाक वर्तक आदि टीकाएँ तथा 'सूर्यचर रत्न', 'कैलाशचरित' 'तुलसीचरित' 'ठाकुर ठसक' 'अभ्योक्ति कल्पद्रुम' 'राजविलास', 'बिरह विलास' 'स्नेह सागर' और 'सूक्ति सरोवर' आदि सम्पादित ग्रन्थ हैं।

बिहारी और रैब :—

साक्षा मगवानदीन लिखित "बिहारी और रैब" नामक पुस्तक तुलनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत आनेवाली उल्लेखनीय कृति है। इस पुस्तक में लेखक ने रीतिकाल के इन इन दोनों धीरे-धीरे कवियों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक रूप में बिहारी को रैब की धरोहरा से अधिक प्रतिपादित किया है। परन्तु इस पुस्तक में तुलनात्मक विवेचन के भाव ही साथ पूर्ववर्ती समीक्षकों पर वे आरोप लगाए गए हैं और आक्षेप किए गये हैं। इसीलिए उन्होंने बिहारी की उच्चता सिद्ध करते हुए रैब की कविता में दोष निवारकने की अधिक चेष्टा की है। यह प्रवृत्ति तुलनात्मक समीक्षा के पूर्ववर्ती आचार्यों के विषय में समान रूप से लागू है। साक्षा जी ने इस पुस्तक में पूर्ववर्ती समीक्षकों के द्वारा

विहारी पर समामे हुए दोनों का निराकरण किया। उनकी समीक्षा में भी निष्कर्षात्मक मन्त्रियों की प्रधानता है।

### अन्य कृतियाँ —

साक्षात् भगवानवीर की अन्य कृतियों में 'विहारी बोधिनी', 'कवितामञ्जी', 'बीपावली', 'केसव कौमुदी' तथा 'सूर पंचरत्न' आदि उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती हैं। इनमें भासा जी ने जो सुझावें प्रस्तुत की हैं उनमें सम्बन्धित विषय के प्रतिपादन के साथ ही साव्य प्रांशयिक रूप से काव्य के आचारमूल तत्वों के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन रचनाओं में उगका आचार्य का रूप प्रधान रहा है और दृष्टिकोण में सास्त्रीयता की प्रधानता रही है। साक्षात् जी की सैद्धांतिक कृतियों में 'अक्षकार मंजूपा' तथा 'व्यापार मंजूपा' मुख्य रही हैं जिनमें सरस शैली में सनातन तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

### महत्त्व —

साक्षात् भगवानवीर का स्वान्तुस्कारत्मक समीक्षा पद्धति के अन्तर्गत जाने वाले समीक्षकों में हैं। व्यावहारिक समीक्षा में तो उन्होंने इस पद्धति का प्रयोग किया ही है। सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया है। वह किसी कृति का विश्लेषण करते समय सबसे पहले उसके उद्देश्य का परीक्षण करते हुए देखते थे कि किस दृष्टि या प्रयोजन से वह रची गई है और उसकी पूर्ति में वह किससे समर्थ है। इसके पश्चात् सास्त्रीय सिद्धांतों की कसीटी पर वह कृति किस सीमा तक खरी उतरती है।

इसके अतिरिक्त अंत में वह यह भी देखते थे कि उसी विषय पर यदि अन्य कवियों की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं तो उनकी तुलना में कितनी उत्तम या मध्यम है। इससे यह सिद्ध है कि वह प्राचीन सास्त्रीय समीक्षा पद्धति के ही समकाल के और आधुनिक दृष्टिकोण के विषय में किसी सीमा तक उपेक्षा भाव रखते थे। साक्षात् भगवानवीर को हम टीकाकारों की परम्परा के अंतिम स्तम्भ भी कह सकते हैं क्योंकि इस काल में वह अंतिम टीकाकार थे और उनके पश्चात् टीका की यह परम्परा समाप्त हो गई।

### अभी रानी सुदू —

विद्वत् साहित्य के प्रमुख साहित्यकारों के भाव अथवा अभिव्यक्ति साम्य के आधार पर हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का नवीन रूप प्रस्तुत करने का श्रेय अभी

राजी गुरु को है। सभी राजी गुरु ने अपने साहित्य वचन नामक ग्रन्थ में विविध भाषाओं के और विविध देशों के महान् साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है। शास्त्रीकि से लेकर रविन्द्रनाथ टागोर तक के लगभग दो दर्जन से अधिक साहित्यकारों के विषय में उन्होंने विचार किया है। इस पुस्तक की मान्य समीक्षाओं द्वारा पर्याप्त प्रशंसा हुई और इसे विद्वत् साहित्य कोय तक की सजा दी गई। इसमें कोई संशय नहीं कि क्लेरिका ने अत्यधिक परिश्रम किया और विद्वत् साहित्य के प्रतिनिधि साहित्यकारों के कठोरमक सौन्दर्य का परिचय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार के अध्ययन में दृष्टिकोण सम्बन्धी मतभेद के लिए बहुत अधिक स्थान रहता है। क्लेरिका ने यथासम्भव राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इन विभूतियों पर विचार किया और सङ्ख्यतापूर्ण चित्रण के कारण उनकी छोटी से भावनात्मकता का समावेश हो गया है। इसी कारण क्लेरिका की भाषा समीक्षात्मक न रहकर काव्यात्मक हो गई है। उदाहरण के लिए "बिराट साक्षारकार से रचित महाकवि की कल्पना विस्मय विमुग्ध जब चिरन्तन सत्य के दर्शन में लो जाती है तो उसके हृदय में अग प्रतिक्षण भावधर्मियों का उद्देसन होगा है।" कवि जीवें फाड़कर देखता है। उसका समझ दूर बहुत दूर तक प्रकृति का बिराट बेमज बिसरा पड़ा है। हृदयिमा में ओतप्रोत प्रकृति बाला का कहकहाता परिचय बूक के सबसे करणों पर बिखरी स्वर्णिम किरणें उसके आभरण से प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य विभोर कवि आश्चर्य से भर जाता है।" इस प्रकार के स्थलों पर सांख्यिक साहित्यकारों के मूल्यांकन और महत्व निर्धारण का प्रयत्न अप्राथमिक हो गया है और अनुसूचित यथा का अभिव्यक्तीकरण प्रभाव।

दृष्टिकोण —

क्लेरिका ने इस ग्रन्थ में अपने दृष्टिकोण और प्रयाजन के विषय में यह लिखा है कि आज संसार के किसी भी देश के चिन्तक के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह विविध सीमाओं का अतिक्रमण न करते हुए भी यथासम्भव साहित्य में निहित धारणा सत्य को पहचानने का प्रयत्न करे। भले ही वह किसी भी देश भाषा जाति और युग का साहित्य हो। उनका कथन है कि आज का विचारक देश काल और समाज की सीमाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह जानता है कि यद्यपि विचार, भाव और मनुष्य के कुछ ऐसे तत्व कला में होते हैं जो काल की सीमाओं से परे भी मनुष्य के हृदय को छूते हैं क्योंकि वह उसका गौरवमय अतीत है। फिर भी साहित्य और कला

के रूप विपरिवर्तनशील है, क्योंकि उनके सामाजिक और आर्थिक आधार परिवर्तनशील हैं। जैसे महाकाव्य की रचना होमर देवम्यास और वास्सीके ने की वह बर्जिल, वाल्टे और मिस्टन क्यों न कर सके, और थाय बीसी रचना इलियट और अन्स बोयस क्यों नहीं कर रहे? जबबय ही इसके पीछे कुछ ऐसी सामाजिक तत्त्व हैं जिन्हें हमारे धारणतवादी विचारक नहीं ग्रहण कर पा रहे। इसे केवल बेबी बटना कह कर हम संतुष्ट नहीं हो सकते।”

सीमाएँ —

इस ग्रन्थ में लेखिका ने कहीं-कहीं कुछ सामान्य परन्तु महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर संकेत किया है। उदाहरण के लिए उनका कहना है कि प्रत्येक काव्य विश युग विशेष में लिखा जाता है उसमें उस युग की आवश्यकताएँ प्रेरक होती हैं क्योंकि साहित्य और कला इतिहास विकासमान और गतिशील सामग्रीय संस्कृति का प्रतिरूप है। ‘रामायण’ ‘महाभारत’ ‘कामायनी’ और ‘विस्तर्नैड’ अपने-अपने युगों के अनुसार ही स्वरूप ग्रहण किए हुए हैं। इसी प्रकार से उपन्यास १७वीं-१८वीं युग में महाकाव्य की भूमिका बना करता है।

इस पुस्तक की कुछ सीमाएँ भी स्पष्ट हैं और इसीलिए उनकी उपेक्षा करते हुए उनका मूल्यांकन करना उचित नहीं है। यद्यपि लेखिका का उद्देश्य किसी विधिष्ट समीक्षात्मक दृष्टिकोण का विषय के साहित्यकारों पर आरोपण करना नहीं है परन्तु उनके जो भी आलोचनात्मक मन्तव्य इस पुस्तक में स्वान-स्वान पर अभिव्यक्त हुए हैं उनसे सहमति या असहमति के लिए सिद्धान्त कोई उबारा स्वान नहीं रह जाता क्योंकि लेखिका का कथ्य इससे सर्वथा निष्ठ है। इतना जबबय है कि लेखिका के कुछ आपह कथ्य कहीं-कहीं पर उचित हो नए हैं, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक भारतीय लेखक की समता में एक विशेषी केन्द्रक को रखा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कहीं-कहीं वही वास्तव में जो ऐसे लेखक लाये हैं जिनमें मान वा विचार साम्य अधिक है तो ऐसे भी बहुत से लेखक हैं जिनमें भावात्मक और वैचारिक समता के स्वान पर विषमता ही अधिक है। इसलिए यदि लेखिका केवल साम्य की दृष्टि से उन्हीं साहित्यकारों का समावेश इस कृति में करतीं जो वास्तव में समान हैं तथा सैय के स्वान पर विषय साहित्य की विविध सुनीन सामान्य प्रवृत्तियों का विस्तृत विवरण उपस्थित करतीं तो सम्भवतः इस प्रकार की शका की सम्भावना नहीं रहती।

महत्त्व —

लेखक ने जो मिस्र मिस्र सेहों की तुलनात्मक विवेचना की है उसमें उन्होंने काफ़ियास और शेक्सपियर, तुलसी और मिस्टर, टालस्टाय और टॉगोर महात्मा गाँधी और रोम्बा रोसा प्रेमचंद और गोर्की गेटे और प्रसाद, निरुद्धा और वाउनिग, सेखी और पंत, मैथिलीशरण मुथ और राबर्ट वॉर्स रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू धारनस्वस महादेवी बर्मा और क्रिस्टिना रोसेटी, एनटन लेखक और यद्यपल अज्ञेय और इकिएट, जैनेंद्र और मेरीडिन, चरत्चन्द्र और वास्तायवस्की, रबीन्द्र पंत और कीटस तथा हार्डी और प्रसाद आदि हैं। जैसा कि विषय से स्पष्ट है कि किसी भी लेखक के लिए उपयुक्त साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन सम्पूर्णता से प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। यद्यपि इसका विश्व साहित्य से कितना ही अच्छा परिचय क्यों न हो। इस लिए लेखिका ने बचासम्भव माननीयता के दृष्टिकोण से ही सभी साहित्यकारों का परिचय दिया है क्योंकि संसार में ये साहित्यकार चाहे जिस देश या भाषा में पैदा हुए हों मूलतः वे मनुष्य के और उनमें मनुष्यता थी।

यही कारण है कि पुस्तक में समीक्षा का जो रूप मिलता है उसमें विश्लेषणात्मकता कम है और हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति अधिक। परन्तु इस कथन का यह आशय नहीं है कि लेखिका ने समीक्ष्य साहित्यकारों के कलात्मक सौंदर्य के मूल तत्वों को नहीं पकड़ा है। उदाहरण के लिए महादेवी और क्रिस्टिना के विषय में यह लिखती है "क्रिस्टिना नियति के कुर लपेटों से समाहित हो बेचना अविशवाह अपुष्ट की आसंका में डूबी हुई किरह के बरों से गीत गाती है। बिनमें हृदय की तड़पन और तड़कड़ाहट आकुल धारों की कसक और आंतरिक आशयों का संवाह है। महादेवी के भावों में भीठी कषट होते हुए भी बचन विश्वरता, अपूर्ण व्यंग्यता दिखती सब सती भाव प्रकृता है जो हृदय की महारई में उतरती चलती है और जिसमें सती गिरती विपुल तरंगधामियों की सी अविराम बड़कन सुन पड़ती है। इन सब विषय धारों के बावजूद इस दोनों के ही काव्य विचार की हल्की क्षीनी सुमिलता से आश्चर्य है जो उतरोत्तर लघन होती जाती है और जिसके अंतक में न धामे कितने अंत-स्वर आवाह हीकर उसके अन्तर क मूक हाहाकार में एकाकार होने के लिए छटपटा रहे है।" —इस प्रकार से लक्ष्मी मूर्दू ने हिंदी में तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया और अंतमें उन्हें बहुत कुछ सफलता मिली। हिंदी के



समीक्षकों की दृष्टि में व्यापकता आयी तथा विदेशी साहित्य और साहित्यकारों की उपकृतियों की बचसति भी उनमें हुई।

सम्भावनाएँ —

तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति ऐतिहासिक दृष्टिकोण से द्विवेदी युग से आरम्भ हुई। इसके क्षेत्र में जो क्रियाशीलता रही वह इस युग में प्रायः किन्हीं दो साहित्यकारों की पारस्परिक घेरेलता के प्रतिपादन तक सीमित थी। इस प्रकार के विचार में शास्त्रीय रूप से वैच और विहारी की समीक्षा ही प्रमुखता किये हुए थी। इन कवियों में से किसी एक के महत्त्व की घोषणा करते समय बहुधा समीक्षक वैयक्तिक आक्षेप करते हुए अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर भी आ जाते थे। परन्तु अब इस प्रकार के विचार इस रूप में समाप्त हो गये, अब इस समीक्षा प्रवृत्ति की व्यापकता शायद सम्भावनाएँ सामने आयी। अनेक समीक्षकों ने आधुनिक युग में इस प्रवृत्ति को स्वीकारा और विश्व साहित्य के अन्तर्गत पर साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयत्न किया। परन्तु अनेक समीक्षकों ने इस प्रवृत्ति के क्षेत्र में कार्य किया उन्होंने स्फुट रूप से ही इसको उठाया। वह उनके समीक्षा व्यक्तित्व का प्रधान रूप नहीं रहा। इसलिए उनकी कर्षा उनके विभिन्न क्षेत्रों में करता ही अधिक संभव होगा।

### शास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

शास्त्रीय समीक्षा या 'वैयक्तिक कठिनाई' में प्राचीन साहित्यशास्त्रीय और परम्परागत सिद्धान्तों के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। जिसमें समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियों के जो रूप मिलते हैं प्रायः इसी को अपने सर्वाधिक प्राचीन कहा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यदि हम हिन्दी समीक्षा को देखें तो हमें सात होगा कि संस्कृत साहित्य शास्त्र में माग्य सिद्धान्तों को हिन्दी रीति शास्त्र में अनुमोदित किया गया और जहाँ के आधार पर समीक्षा कार्य हुआ। वर्तमान युगीन समीक्षकों का भी एक बड़ा बर्ष इसी दृष्टि का समर्थक है। इसलिए समीक्षा के इसी रूप को प्राचीनता संज्ञात्मकता तथा विशुद्धता की दृष्टि से उच्च कोटि का माग्य किया जाता है।

पूर्व परम्परा कविराजा मुरारिदास —

साधुनिक हिन्दी में छात्रों की समीक्षा का आरम्भ रीतिबानीन साहित्यशास्त्र के अनुगमन पर हुआ था। आरम्भ में जो रचनाएँ सामने आईं वे प्रायः उसी वैदिक-मिश्रित निरूपण की परम्परा का प्रसार करने वाली हैं। इनमें सर्वप्रथम कविराजा मुपरिदास लिखित "असहस्रश्लोक" नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। सन् १९२० में रचित इस ग्रन्थ में रचयिता ने काव्य के स्वरूप, छन्द, शक्ति, युग रीति तथा अर्थकारण आदि की विवेचना की है। इसमें लेखक ने सत्य अथवा मिथ्याकारण अर्थकारणों के नाम की व्युत्पत्ति की विवेचना करते हुए उन पर विचार किया है, क्योंकि उनके यथानुसार अर्थकारणों के नाम स्वयं ही लक्षण हैं। उन्होंने लिखा है, "राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ निर्माण करने का कार्य आरम्भ करके विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अर्थकारणों के अर्थ अनेक हैं। पिच्छेपेक्ष तो स्वयं है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये कि जिससे विद्वानों को इस ग्रन्थ के अर्थोंकी ही वृत्ति होवे और विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ के पढ़ने से बिलक्षण लाभ होवे।" इस कथन में इस ग्रन्थ की रचना के पीछे नवीन दृष्टि का आग्रह आभासित होता है।

प्रतापशास्त्री सिद्ध —

महाराजा प्रतापशास्त्री सिद्ध लिखित "रस कुमुदाकर" भी इसी परम्परा में आनेवाली वृत्ति है। इसका विभाजन पद्य कुमुदों में हुआ है। इनमें से पहले कुमुद में उद्देश्य वृत्ति में स्थायी भाव वर्णन तीसरे में संचारी भाव चौथे में अनुभाव पाँचवें में हास छठे में सखा सखी वृत्ति अथवा सखी-आठवें में शत्रु वर्णन नवें में स्वकीया भेद दसवें में परकीया और सामान्य वर्णन ग्यारहवें में इस विधि नायिका वर्णन बारहवें में नायक भेद तीसरे चौदहवें तथा पन्द्रहवें में विविध रसों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार से रस के विविध अर्थों की विवेचनारूप पूर्णता इसकी प्रमुख विशेषता है।

कन्हैयालाल बोहरा :—

श्री कन्हैयालाल बोहरा ने "काव्य कल्पद्रुम" के अन्तर्गत प्रथम भाग "रस-मञ्जरी"

१ "असहस्रश्लोक", कविराजा मुरारिदास, प्रस्तावना पृष्ठ ३।  
 २ वही पृ० २३।

तथा द्वितीय मात्र के रूप में "असंकार मंजरी" की रचना की। इनमें "रसमंजरी" में लेखक ने अपने दृष्टिकोण से रस का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने काव्य का मूल वेदों को माना है। साहित्यशास्त्र की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'साहित्य शास्त्र सद्ये कठोरे है विद्यके द्वारा काव्य निर्माण और रसानुभाव का एवं उसके स्वरूप बोध जुग भाषि का ज्ञान प्राप्त होता है।'<sup>१</sup> इसी प्रकार से "असंकार मंजरी" में लेखक ने विविध अंशकारों का वर्गीकरण और व्याख्या प्रस्तुत की है। इस रचना में छै. प्रश्ना संकार सौ अंशकार तथा चार संसृष्टि अंशकार वर्णित हुए हैं। पोद्दार जी के विचारों पर मम्मट, बंसी तथा रामह के सिद्धांतों का प्रभाव कहीं-कहीं आभासित होता है।

#### अपभाष प्रसार 'मानु' —

श्री अपभाष प्रसार "मानु" के शास्त्रीय ग्रन्थों में "हिन्दी काव्यांशकार" "असंकार प्रस्नोत्तरी", 'रस रत्नाकर' "नायिका श्रेष्ठ कथावली" "कल्प प्रमाकर" तथा "काव्य प्रमाकर" आदि हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें लेखक ने काव्यांगों का सम्यक निरूपण प्रस्तुत किया है। लेखक ने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करते हुए इसमें लिखा है 'इस ग्रन्थ के द्वारा कुछ काव्य का पूर्व ज्ञान हो यही इसका मुख्य हेतु है और इसके रचने की आवश्यकता विशेषतः इसलिये हुई कि सम्प्रति भाषा में काव्य में ऐसे बहुत पीड़े ग्रन्थ बेकने में आते हैं कि जिनके पढ़ने से काव्य सम्बन्धी समस्त विषय सहज ही में ज्ञात हो सकें। बरन् एक को सम्मन कर लेने पर दूसरे की आवश्यकता बनी ही रहती है तो भी मनोरथ सिद्ध नहीं होता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है।' लेखक ने अपने इस विचार के अनुसार इस ग्रन्थ को विषयगत सम्पूर्णता प्रदान की है और वास्तव में यह सम्यक ज्ञान का परिचय प्रस्तुत करता है।

#### अपभाषीत —

माता अणुभाषीत कृत "असंकार मंजूषा" भी इसी परम्परा में आने वाला अंशकार विषयक ग्रन्थ है जिसमें विद्यालयों की उपयोगिता की दृष्टि से अंशकारों की

१ 'रस मंजरी' की कर्तृव्याजाल पोद्दार, पृष्ठ २१।

२ 'काव्य प्रमाकर' की अपभाषा प्रसार "मानु" सूचिका ६०।

विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने ग्रन्थ की रचना के सत्रहवें को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने कुछ परीक्षाएँ प्रचलित की हैं जिनमें नवयुवक लड़के और नवयुवती क्यारों सम्मिलित होने लगी है। हिन्दी काव्य के कुछ जन्मे ग्रन्थ भी पाठ्य-पुस्तकों में रखे गये हैं। परन्तु अर्थकार विषय समझे बिना काव्य को पूर्णतया समझ लेना दुःसह ही है और यह विषय शिक्षक के समझाए बिना नहीं जा सकता। कोई नुव अर्थकार विषय का कोई ग्रन्थ, ग्रन्थ को निरर्थकोच नाम से पढ़ा नहीं सकता, यही कठिनाता दूर करने के लिए हमने यह ग्रन्थ लिखा है।" इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में बराबरों का खनन बहुत समनतापूर्वक किया गया है। व्याख्या भी सरल भाषा और सुबोध शैली में प्रस्तुत की गयी है।

रामचंद्र सुफल 'रसाल' —

डा० रामचंद्र सुफल 'रसाल' ने इस परम्परा में अपने ग्रन्थ 'अर्थकार पीयूष' की रचना की है। यह ग्रन्थ डा० रसाल के संवेजी प्रबन्ध का हिन्दी रूप है। इसमें लेखक ने अर्थकार शास्त्र का सैद्धांतिक निरूपण प्रस्तुत करने के साथ ही साथ संस्कृत तथा हिन्दी भाषाओं में उसके विकास का इतिहास भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है, जिनमें 'पूर्वाव' तथा 'उत्तरार्ध' के अन्तर्गत लेखक ने विषय का सम्यक विवेचन किया है। हिन्दी में शास्त्रीय और सैद्धांतिक ग्रन्थों की जो परम्परा मिलती है उसमें डा० रसाल का यह ग्रन्थ विषय के वैज्ञानिक विवेचन और ऐतिहासिक परिचय की दृष्टि से सर्वप्रथम कहा जा सकता है।

सीताराम साहसी —

श्री सीताराम साहसी ने अपने ग्रन्थ 'साहित्य सिद्धान्त' की रचना बामन, शम्भट तथा विरवनाथ आदि के ग्रन्थों के आकार पर सम्बत् १९५० में की। इसमें लेखक ने काव्य, सग्न, अर्थ, कृति, मृग शेष अर्थकार, रस भाव स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संवारी भावों का विवेचन किया है। यह ग्रन्थ रचना शैली की दृष्टि से नवीनता लिए हुए नहीं है और अभिव्यक्ति की दुर्बलता की दृष्टि से विद्यमान है।

अर्जुनवास कैदिया —

आसंकारिक ग्रन्थों की परम्परा में भी अर्जुनवास कैदिया लिखित 'भारती भूषण' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक मूल असंकार के विविध भेदों के उदाहरण आवश्यक सूचना सहित प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में सेखक ने असंकारों की विषय सूची भी प्रस्तुत की है, जो सूचनारमक है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" —

पं० 'हरिऔध' लिखित 'रसकलस' नामक ग्रन्थ आधुनिक युग में लिखे गये रस विषयक ग्रन्थों में उल्लेखनीय स्थान रखता है। इसमें सेखक ने छठी रसों का वर्णन विस्तारपूर्वक उपस्थित किया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में जाने वाले काल्दसप्रकाश' साहित्य वर्णन तथा 'रससंगोचर' आदि ग्रन्थों से सेखक ने प्रभाव ग्रहण किया है। इसमें रस प्रसंग की उपयोगिता पर विचार करते हुए नायिका भेद के विषय में लिखा है 'नायिका भेद' के मूल में जो सत्य है, वास्तविक बैठ यह है कि वह सार्वभौम एवं सार्वकालिक है। उसके भीतर स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं जो व्यापक और सर्व देखी हैं इसलिये उसकी अधिम्यक्ति विरह भर में मजात रूप से क्या काल और सभावसर होती रही है। मेरा विचार है कि नाट्यशास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विविध करके साहित्य की ओमा ही नहीं बढ़ायी है। लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।" इस प्रकार से इस ग्रन्थ का महत्व प्राचीन और नवीन वृष्टियों की संयुक्तता तथा उपयोगिता की दृष्टि से विविध है।

बिहारीलाल मद्द —

मद्द की का विद्यास ग्रन्थ 'साहित्य सागर' पण्डित दरमों में विमल है जिनमें सेखक ने साहित्य काव्य एवं वृत्ति प्यति भाव, अनुभाव विभाव रस, नायिका भेद बोध गुण असंकार आदि की विस्तार से विवेचना की है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें साहित्य शास्त्र के किन्ही भी अंश से सम्बन्धित कोई आवश्यक तत्व उपस्थित नहीं किया गया है। अनेक विषय ऐसे हैं जिन पर सेखक ने नवीन मामची प्रस्तुत की है और प्राचीन सिद्धान्तों का अनुकरण नहीं किया है। वहाँ तक सेखक पर पूर्ववर्ती

धर्मों के प्रभाव का सम्बन्ध है उसका आधार 'साहित्य दर्पण', 'भारती भूषण' तथा 'अलंकार भूषण' आदि अनेक ग्रन्थ रहे हैं।

मिथबन्धु —

ऊपर मिथबन्धुओं के समीक्षामक व्यक्तित्व की चर्चा भी की जा चुकी है। यहाँ उनके दृष्टिकोण की सांख्यीयता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने 'मिथबन्धु विनोद' तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक ग्रन्थों में बिन कवियों की विस्तार से समीक्षा की है, उसका आधार परम्परा से मान्य सांख्यीय सिद्धान्त ही थे। देव आदि कवियों का मूल्यांकन करते समय उन्होंने जो दृष्टिकोण रखा है संस्कृत साहित्य शास्त्र से प्रभावित रख बायी दृष्टिकोण ही है। काव्य के अन्तर्गम और बहिरंग की परस्पर के सांख्यीय सिद्धान्तों की कसौटी पर ही उन्होंने इन कवियों की भी परीक्षा की।

मिथबन्धुओं की समीक्षा पद्धति महावीरप्रसाद द्विवेदी के उत्तर कालीन समीक्षा की प्रौढ़ता और पूर्णता की सूचक है। उसमें आधुनिक कालीन समीक्षा की अपूर्णताएँ भी नहीं मिलती। मिथबन्धुओं की समीक्षा कृतियाँ एक दृष्टिकोण से अपने विषय की सर्वप्रथम कृतियाँ कही जा सकती हैं। मिथबन्धुओं की समीक्षा पद्धति मुख्यतः सांख्यीय और ऐतिहासिक है। "मिथबन्धु विनोद" उनकी सर्वप्रमुख रचना है जो इस चीज़ का प्रतिनिधित्व भी करती है। मिथबन्धु के समय में ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति का जो रूप मिलता था वह मुख्यतः साहित्य के गुणबोध निरूपण से सम्बन्ध रखता था। इसमें या तो गुणवान होता था या दोष दर्शन। स्वयं मिथबन्धुओं ने लिखा है "कवियों की योग्यतानुसार लेखों में उनके गुण बोध बिल्लताने का यथा साम्य प्रयत्न किया गया। वर्तमान समय में लेखकों की रचनाओं पर समालोचना लिखने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया गया। उनके धर्मों के नाम और मोटी रीति से जो एक प्रति प्रकट गुण बोध लिखने पर ही हमने सन्तोष किया।"

हिन्दी नवरत्न —

मिथबन्धुओं की दूसरी समीक्षामक कृति 'हिन्दी नवरत्न' है। जैसा कि इस पुस्तक के नाम से स्पष्ट है इसमें हिन्दी के प्रसिद्ध नौ कवियों की विवेचना प्रस्तुत की गई है यद्यपि इसमें नौ से अधिक कवियों का उल्लेख है। हिन्दी कविता के विकास के प्रथम विकास युग अर्थात् और गाथाकाव्य के सर्वप्रसिद्ध कवि चन्द्रबरदाई से आरम्भ करके लेखकों ने परम्परा महत्वपूर्ण कवियों का मूल्यांकन इसमें किया है। इस पुस्तक की

समीक्षा में उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया। जिन कवियों को अध्ययन के लिये इसमें समाविष्ट किया गया है उनका विवेचन उनके साहित्य के भाषा, भाव और कलापलों के अतिरिक्त उनके वैचारिक निष्कर्षों पर भी आधारित है।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'हिन्दी गवर्नर' भी एक प्रकार का साहित्यिक इतिहास है जिसमें लेखकों ने हिन्दी के कुछ महान और प्रतिभावान कवियों को लेकर उनकी काव्य कला का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी में न केवल तुलनात्मक समीक्षा पद्धति से समीक्षा करने वाले समीक्षकों में भी मिश्रबन्धुओं का प्राथमिक स्थान है बल्कि ऐतिहासिकता और धारणीयता की दृष्टि से भी उनका महत्व है। इसमें तुलनात्मक या सांख्यिक समीक्षा पद्धति का कोई बहुत गंभीर परिष्कृत और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं किया गया है परन्तु इतना ध्येय इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी के गये समीक्षा क्षेत्र में गंभीर विद्यार्थियों का संकेत हुआ और आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस विद्या में कार्य किया।

#### साहित्य पारिजात —

सन् १९९७ में "साहित्य पारिजात" के नाम से मिश्रबन्धुओं ने एक सप्ताहिक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसमें काव्य की व्याख्या के सम्बन्ध में "काव्य प्रकाश", "साहित्य दर्पण" "रत्न मंथार" आदि संस्कृत ग्रन्थों की परिभाषा का परीक्षण करते हुए गंभीर व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए "भास्वापमृति" के विषय में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है "भास्वापमृति में किसी वस्तु का अनिश्चित वर्णन करते हुए भ्रान्ति के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन हुआ ठहराये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।" इसी प्रकार से ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर सप्ताहिक तथा उदाहरण आदि में यह ग्रन्थ गंभीरता लिये हुये हैं।

#### महत्व —

जहाँ तक मिश्रबन्धुओं के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है उन्हें सांख्यिक समीक्षा की परम्परा में रखा जा सकता है। उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था और उसकी सूक्ष्मताओं से उन्हें पूर्ण परिचय था। कहने का

आप्य यह है कि व्यावहारिक समीक्षा करते समय उन्होंने इन साहित्यिक सिद्धांतों और आशयों पर भी बराबर दृष्टि रखी। सम्भवतः मियबन्धुओं के दार्शनिक दृष्टिकोण का ही यह परिणाम हुआ है कि उन्होंने कबीर जैसे युग प्रवर्तक कवि के काव्य सौष्ठव पर भी सन्देहात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है क्योंकि यहाँ वे कबीर की वैचारिक उप शक्तियों से प्रभावित थे, यहाँ उनके काव्य की कलात्मक हीनता के विषय में भी उत्कृष्ट दृष्टिकोण विकसित था।

इसी प्रकार से देव आदि कवियों के सम्बन्ध में भी उनके मूल्यवान् दार्शनिक दृष्टिकोण पर आधारित हैं। वह तब काव्य सौष्ठव ही है, जिसके आधार पर मूल्यांकन करते हुए मियबन्धुओं ने सूर को तुलसी से उत्कृष्टतर कवि बताया। यहाँ तक आधुनिक युग के हिन्दी काव्य का सम्बन्ध है, मियबन्धु अपनी दार्शनिकता के कारण ही उसे स्तरीय मान्यता न दे सके। आधुनिक कविता में विषय, भाषा, छन्द और विचार के क्षेत्रों में उन्हें वह तर्कात्मक तर्कहीनता मान्य नहीं थी, जिसका समावेश करने का दावा आधुनिक कविता के क्षेत्र में नए कवियों द्वारा किया गया। इस कथन का प्रमाण यह है कि उन्होंने आधुनिक युग के जनमाया में काव्य रचना वाले कवियों को अधिक महानुभूति और समर्थन प्रदान किया है। उपरोक्त कारण से यह बहुत सम्भव है कि कुछ लोग उन्हें बने ही कड़िबारी कर्ण पर हमारी सम्मति में दार्शनिकता का जर्म कड़िबाबिता या परम्पराप्रामाण्यता नहीं है और मियबन्धु जैसे दार्शनिक समीक्षकों पर यह आरोप तयामा उनकी कृतकृतियों और बहुधा की उल्लास और बखशा करना है।

श्यामसुन्दर दास —

डा० श्यामसुन्दर दास की समीक्षा का क्षेत्र वैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों तक विस्तीर्ण रहा है। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक समीक्षा में प्राचीन भारतीय साहित्य सिद्धांतों की मान्यता देने के साथ ही साथ पारंपारिक विचार आशयों को भी परिष्कृत किया है। उन्होंने मुख्य रूप से देवी विदेयी समीक्षा सिद्धांतों का पुनः पुनः रूप से विश्लेषण किया तथा उन्हें तथा सम्भव दार्शनिक बनाने की चेष्टा की। इस लिए उनके समय से भारतीय साहित्य धारण के अध्ययन और व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोजन के साथ ही पारंपारिक साहित्य धारण की और भी क्षेत्रों की खोज बड़ी। सुप्रसिद्ध युग में पारंपारिक समीक्षा का हिन्दी पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा है उसका एक कारण यह भी है कि डा० श्यामसुन्दर दास जैसे दार्शनिक समीक्षक उठते लिये एक आचार्यमूर्ति निर्मित कर चुके थे।



भूमिका में उन्हें अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण भी किया। जिन कवियों को अध्ययन के लिये इसमें समाविष्ट किया गया है उनका विवेचन उनके साहित्य के भाषा, भाव और कलापद्धतियों के अतिरिक्त उनके वैचारिक सिद्धांतों पर भी आधारित है।

दूसरे भागों में यह भी कहा जा सकता है कि 'हिन्दी नवतरंग' भी एक प्रकार का साहित्यिक इतिहास है जिसमें लेखकों ने हिन्दी के कुछ महान और प्रतिभावान कवियों को लेकर उनकी काव्य कला का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी में न केवल तुलनात्मक समीक्षा पद्धति से समीक्षा करने वाले समीक्षकों में श्री मिश्रबन्धुओं का प्रामाणिक स्थान है बल्कि ऐतिहासिकता और सांस्कृतिकता की दृष्टि से भी उनका महत्त्व है। इसमें तुलनात्मक या सांस्कृतिक समीक्षा पद्धति का कोई बहुत गंभीर परिष्कृत और अनुकरणीय आदर्श उपस्थित नहीं किया गया है परन्तु इसका अर्थ इतना निश्चित है कि इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी के नये समीक्षा क्षेत्र में गंभीर विद्यार्थियों का संकेत हुआ और आगे चलकर अनेक विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया।

#### साहित्य पारिभाषा —

सन् १९९७ में "साहित्य पारिभाषा" के नाम से मिश्रबन्धुओं ने एक लक्ष्य ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसमें काव्य की व्याख्या के अन्तर्ग में "काव्य प्रकाश", "साहित्य दर्पण" "रस रंयाधर" आदि संस्कृत ग्रन्थों की परिभाषा का परीक्षण करते हुए गंभीर व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए "आत्मवापगृही" के विषय में मिश्रबन्धुओं ने लिखा है "आत्मवापगृही से किसी वस्तु का अतिरिक्त वर्णन कठोर भाषा के बहाने से किसी अन्य द्वारा यह कथन बूझा जाये जाने पर सत्य वस्तु कहकर इसका स्पष्टीकरण होता है।" इसी प्रकार से अन्य भी अनेक स्थलों पर लक्ष्य तथा उदाहरण आदि में यह ग्रन्थ गंभीरता लिये हुये हैं।

#### महत्त्व —

जहाँ तक मिश्रबन्धुओं के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का सम्बन्ध है उन्हें सांस्कृतिक मूल्यों की परम्परा में रखा जा सकता है। उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र का विशेष अध्ययन किया था और उसकी सूत्रमताओं से उन्हें पूर्ण परिचय था। कहने का

साधन यह है कि सांस्कृतिक समीक्षा करते समय हमें इन साहित्यिक विद्वानों और भाषियों पर भी बराबर दृष्टि रखनी। सुन्दरानन्द निन्दकबुद्धों के भारतीय दृष्टिकोण का ही यह परिचायक हुआ है कि उन्होंने कबौर जैसे दुप प्रसिद्ध कवि के साथ ही-पत्र पर भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विचार किया है क्योंकि यहाँ वे कबौर की वैयक्तिक उपस्थितियों से प्रभावित थे, यहाँ तक काव्य की सामाजिक हीनता के विचार में भी उनका दृष्टिकोण परिवर्तन था।

इसी प्रकार से देव कवि कवियों के सम्बन्ध में भी उनके सम्बन्ध सम्बन्ध दृष्टि खोद पर आधारित है। यह एक काव्य ही है, विद्वक साधारण पर नृसोक्तन करत हुए निन्दकबुद्धों ने मूर को दुबनों से उल्लेख करि बरमाना। यहाँ तक प्राथमिक युग के हिन्दी काव्य का सम्बन्ध है, निन्दकबुद्धों की भारतीयता के कारण ही उन्हे स्पष्ट साधना न दे सके। प्राथमिक कविता में विद्यन साथ, छन्द और विचार के क्षेत्रों में उन्हें यह उदात्तचित्त नवीनता प्राप्त नहीं थी, विद्वक समीक्षा करने का यथा प्राथमिक कविता के क्षेत्र में नए कवियों द्वारा किया गया। इस कथन का प्रमाण यह है कि हमें प्राथमिक युग के कवियों में काव्य रचना करने कवियों की अधिक संतुष्टि और समर्पण प्रदान किया है। अतुल्य काव्य से यह बहुत सम्बन्ध है कि सुन्दरानन्द उन्हें कबे ही कवितारी कहे पर हमारी समीक्षा में साम्योन्मत्त का सर्व अतिरिक्तता या परस्परानुपमिना नहीं है और निन्दकबुद्धों की भारतीय समीक्षाओं पर यह कठोर बतना समझे उचितियों और महाना की उद्वेगा और बरदा करत है।

स्वामीभूषण शर्मा —

डा० स्वामीभूषण शर्मा की समीक्षा का क्षेत्र वैयक्तिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर्यन्त तक विस्तृत रहा है। उन्होंने अपनी वैयक्तिक समीक्षा में प्राचीन भारतीय साहित्य विद्वानों की साधना देने के साथ ही साथ परम्परा विचार साधनों को भी शामिल किया है। उन्होंने मुख्य रूप से वेदों विरली समीक्षा विद्वानों का पुनर्पुनर्पुनर रूप से विस्तार किया तथा उन्हें तथा सम्बन्ध साहित्य बनक को केन्द्र की। इतिहास उनके समय के भारतीय साहित्य सम्बन्ध के सम्बन्ध और सांस्कृतिक समीक्षा में सम्बन्ध के साथ ही परम्परा साहित्य साधन की ओर भी लोगों की रुचि बढ़ी। सुन्दरानन्द युग में परम्परा समीक्षा का हिन्दी पर जो स्थाक प्रभाव पड़ा है उसका एक कारण यह भी है कि डा० स्वामीभूषण शर्मा जैसे भारतीय समीक्षक एक नये एक सांस्कृतिक निर्माण कर चुके थे।

कृतियाँ :—

डा० स्वामसुन्दर दास की कृतियों में “राधाकृष्ण प्रणवावली”, “हिन्दी निबन्ध मासा ‘चन्द्रावती’” अथवा “आधिकेयोपाख्यात” “भारतैन्दु हरिश्चन्द्र” “हिन्दी कोषिक ग्रन्थमाला” (श्री माय) “रूपक रहस्य” “साहित्यालोचन” तथा “हिन्दी भाषा और साहित्य” आदि मुख्य हैं। जैसा कि इस पुस्तक की सूची से स्पष्ट है इसमें विषयों की विविधता है तथा वैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों समीक्षा प्रकारों का समावेश है।

दृष्टिकोण —

डा० स्वामसुन्दर दास ने भारतीय तथा पारश्चात्य साहित्य शास्त्र का जो वैज्ञानिक विवरण उपस्थित किया है, वह इनके “साहित्यालोचन” शीर्षक ग्रन्थ में व्यवस्थित रूप से मिलता है। इसमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण के विषय में स्वयं ही लिखा है कि “मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा है कि भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसके तत्त्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ, कि जिसमें हिन्दी के विचारियों को किसी ग्रन्थ के मुक्त बोध की परत करने और साध ही ग्रन्थ निर्माण या काव्य रचना में कीर्तस प्राप्त करने अथवा दोनोंसे बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यञ्जित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।”

कला का स्वरूप —

डा० स्वामसुन्दर दास ने कला के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे भावनात्मक अभिव्यक्ति माना है। उन्होंने प्रकृति को उसकी प्रेरणा सिद्ध करते हुए ही लिखा है कि “किसी प्राकृतिक दृश्य को देखकर कलाकार के हृदय में जो भावना अतनी तीव्रता के अथवा स्वाधित्य के साथ उदय हो, यदि उतनी ही वास्तविकता और सच्चाई के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ हो तो घट

अभिन्निक्रम से इसका, अज्ञान अथवा पादक समाज की भी उन्नति ही दृष्टि हो सकती है। कला और प्रकृति के सम्बन्ध के विषय में डा० स्पाममुन्दर दास का मत है कि "प्रकृति की आर मनुष्य नियंत्रण: बाधित होता रहता है, क्योंकि उसमें उसकी बाधनाओं की दृष्टि होती है। इस मर्यादिक बाधन का परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृति के उन चिह्नों का अज्ञान दुःख के रूप में प्रकट कर अभिन्निक्रम करता है और वे अज्ञान चिह्नों के रूप में प्रकट हो मानव हृदय को उत्तमिष्ठ करते हैं।" डा० स्पाममुन्दर के कला विषयक इन विचारों को देखने पर यह बात बताई जा सकती है कि वह कला के विषय में उपवायिताकारी मत का समर्थन करते हैं और यही मत उन्नत अज्ञान सम्बन्ध मानते हैं।

काम्य —

वही एक कविता का अर्थ है डा० दास ने साधन्य रूप से भारतीय और पारसाय्य दोनों ही दृष्टियों से उस पर अपने विचार प्रकट किये हैं। वहीं कहीं देखा भी प्रतीय होगा कि जैसे उन्होंने बहुत स्पष्टता से किसी सिद्धांतों का परीक्षण नहीं किया है। यों कविता के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण में प्राचाय्य भारतीयता का ही है। उन्होंने यह मान्य किया है कि काल का जो आनन्द है वह एक विविध प्रकार का होते हुए भी आध्यात्मिकता से प्रत्येक प्रकार से सम्बन्धित है, क्योंकि वह एक सौन्दर्य काटि की वस्तु है और इसलिये यौक्तिकता से परे नहीं है। परन्तु काम्य के अज्ञान की दृष्टि से यह आनन्दानुभूति ही एक वस्तु नहीं है और इसलिये यदि अज्ञानी परिपति विश्व अज्ञान की मायना में हो तो वह निरिच्छत ही मान्य होनी चाहिए। उन्होंने लिखा है "पर केवल सौन्दर्य से मुक्त होकर, अथवा आनन्दपूर्ण एक अज्ञान पाकर भी काम्य रचना को वा सकती है और भी पर है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की अज्ञान उस काम में आकर स्वयं मोहहित बन जाती है, और काम्य के लिए यही अज्ञान मोहहित है। काम्य अथवा कला के संस्थापकों को वा बचते हुए और उनके प्रभाव को अज्ञान से हुए किसी अज्ञान नियमित सौन्दर्य को काम्य वा कला का अर्थ नहीं मान सकते।"

१. साहित्यालोचन" डा० स्पाममुन्दर दास भूमिका।

२. वही, पृ० ६।

काव्य और नीति —

काव्य और नीति के सम्बन्ध में भारतीय और विदेशी काव्य शास्त्रियों ने बहुधा विचार किया है। इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से दो प्रकार के मतों का प्रचार है। एक तो यह कि काव्य और नीति के सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हैं जिन की उपाय नहीं की जा सकती और दूसरा यह कि इन दोनों में कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है जो इनकी मर्यादा को किसी प्रकार से रोकबद्ध करे। डा० बास का इस विषय में दृष्टिकोण बहुत उदार है और उन्होंने नीति बर्न और बर्न का आचार लेकर उनका माप निर्धारण करने वालों का विरोध करते हुए भिन्ना है : 'उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और वास्तविक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास से इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझ कर धार्मिक विचार ही से उसकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही अष्ट कला का नियन्ता तथा मापदंड बन जाता है। ये कला समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का मूल सौन्दर्य छलन नहीं कर सकते न उस कटु सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस मूल्य से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की मात्र व्यञ्जना उनके बाह्य रूप को ही अपने कठिना आचार विचारों की कसौटी पर कसते हैं।'

समीक्षात्मक विचार —

डा० बास के समीक्षात्मक दृष्टिकोण के संबंध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि समझदायी है। साहित्य में कलात्मकता के साथ ही साधन आचारत्मकता को भी उन्होंने समान रूप से मान्यता दी है मर्यादा उनके विचारों पर कहीं कहीं पारंपार्य सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने भारतीय साहित्यिक सिद्धांतों को अधिक मान्य नहीं किया है। डा० बास के विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि उन्होंने भारतीय और पारंपार्य दोनों विचारधाराओं को जहाँ भी स्वीकार किया है, इस सीमा तक स्वीकार किया है कि उनमें मौलिकता कहीं भी नहीं रह गई है। यह आरोप यह सूचित करता है कि यद्यपि डा० बास ने साहित्य के सभी अंगों उपायों का सम्पूर्णता से विवेचन किया है पर उनमें मौलिक चिन्तन का पूर्ण अभाव है। इस विषय में इतना ही संकेत करना पर्याप्त होना कि डा० बास ने स्वयं भी अपनी रचनाओं की भूमिकाओं में यह स्वीकार किया है कि उनका कार्य विचारालम्ब होने की अपेक्षा संकलनात्मक अधिक है।

व्यावहारिक समीक्षा —

डा० इयामसुन्वर हास की सैद्धान्तिक समीक्षा तो उनके व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक है ही, उनकी व्यावहारिक समीक्षा भी युग की प्रवृत्तियों की दृष्टि से अपेक्षा कृत परिष्कार और मनीनता का ज्ञानास देती है। उदाहरण के लिए अपनी भारतेन्दु 'हृदयचन्द्र' नामक कृति में भारतेन्दु का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने लिखा है 'मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करना तथा कल्पना की सुविधि और मनोबेगों का परिष्कार करना कविता के उपयोगी कार्य है।' 'कृष्ण कवि भोग कल्पना की सुविधि तथा मनोबेगों की परिष्कृति का कार्य प्रकृति के दो विभाज्य कर बर्षात् वास्तव प्रकृति और मानव प्रकृति द्वारा सिद्ध करते हैं। इनमें से कई महाकवि तो दोनों कार्यों में कृष्ण होते हैं, जैसे बास्मीकि कालिदास भवभूति और तुलसीदास कोई प्रथम में और कोई द्वितीय में। बाबू हरिश्चन्द्र बहिकांस भावा कवियों के समान इस तीसरे प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि उन्होंने अपनी कविता द्वारा नए-नए प्रभाव उत्पन्न किए पर उनके छात्रों का परम्परागुण ही रहा। मानव व्यापारों ही के अन्तर्गत बच्चों को छोटकर उन्होंने मनो बेगों को उठावने और ठीक करने का प्रयत्न किया और प्राकृतिक पदार्थों तथा व्यापारों की शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया।' 'इन्होंने मनुष्य को सारी दृष्टि के बीच रख कर नहीं देखा, बल्कि उसी के अन्तर्गत हुए बेरे में रखकर देखा।'<sup>१</sup>

बदलाव :—

डा० इयामसुन्वर हास का स्वान हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में विधिष्ठ है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने न तो आस्थीय अनुगमन के प्रति ही पूर्ण जाग्रह दिखाया और न मनीनता को ही पूर्ण रूप से ध्याय्य बताया। उन्होंने इन दोनों का संतुलित समन्वय करने का समर्थन किया। उनकी लिखी हुई अनेक समीक्षा कृतियाँ इस कथन का प्रमाण हैं। यह एक उत्प्रेक्षणीय तथ्य है कि डॉक्टर हास ने केवल सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही अपने इस दृष्टिकोण का परिचय नहीं दिया है बल्कि व्यावहारिक समीक्षा में भी इसी का आरोपण किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अस्तकृत समीक्षा क्षेत्र में निर्दिष्ट मुख्य समीक्षा प्रथाभियों के पन्दीर अध्ययन के साथ-साथ पाठ्यात्म समीक्षा क्षेत्र का भी व्यापक रूप से अध्ययन किया था।

१ 'भारतेन्दु हृदयचन्द्र', डा० इयामसुन्वर हास, पृ० ३२।

उन्होंने वहाँ एक ओर किसी विषय पर समीक्षा करते समय पूर्ण रूप से भारतीय शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार विवेचना की है वहाँ-दूसरी ओर कहीं कहीं पश्चिमी सिद्धांतों का भी आरोपन किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यापक दृष्टिकोण से समीक्षा करने की जो प्रवृत्ति वर्तमान समय में बिखलाई पड़ती है, उसके प्रवर्तन का भेद डा० दास जैसे विद्वानों को ही है। बहुत से स्थलों पर काव्य ओर उसके विभिन्न तत्वों से सम्बन्ध रखने वाले कुछ विषयावस्थापर विषयों पर उन्होंने किसी प्रकार का वाद विवाद नहीं किया और न ही किसी मन्तव्य के संबन्ध या संबन्ध की चेष्टा की। उन्होंने बड़ा सम्भव संतुलित दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया और दूसरों को भी उसी का अनुगमन करने की प्रेरणा दी।

‘रामचन्द्र सुक्ल —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विकास में पं० रामचन्द्र सुक्ल का महत्व असाधारण है। उन्होंने अपने ‘चिन्तामणि’ (दो भाग) ‘रत्न मीमांसा’ ‘आमची चम्पावती’, ‘अमर पीठ सार’ तथा ‘गोस्वामी तुलसीदास’ आदि ग्रन्थों में साहित्य शास्त्र की अनेक समस्याओं पर प्राचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से विचार किया।—उन्होंने ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में वहाँ राष्ट्रीय और पारश्चात्य साहित्य शास्त्र के अनेक सिद्धांतों की व्याख्या प्रस्तुत की वहाँ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में भी एक वाचार्थ उपस्थित किया।

पं० रामचन्द्र सुक्ल ने यद्यपि क्रियात्मक तथा समीक्षात्मक साहित्य दोनों के ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया परन्तु यह एक विशिष्ट तथ्य है कि क्रियात्मक क्षेत्र में उन्हें न तो अधिक सफलता मिली और न उन्हें समीक्षकों द्वारा ही कोई विशेष महत्व दिया गया। उन्होंने कर्नाटियाँ सिन्धी नाटक के क्षेत्र में भी सक्रियता दिखाई तथा संक्षेपांश और सङ्गी बोली में स्कुट काव्य की भी रचना की। यहाँ तक कि ‘बुद्धचरित’ नाम का एक प्रबन्ध काव्य भी लिखा परन्तु इनमें से किसी भी क्षेत्र में वह ‘स्योमी कंय’ से न रह उनके और अष्टत एक महान् समीक्षक के रूप में ही उन्हें मान्यता मिली।

काव्य का स्वरूप —

आचार्य रामचन्द्र सुक्ल ने काव्य की जीवन और अथवा की अभिव्यक्ति माना है। जीवन और अथवा के अनेक रूप अनुपम को एक प्रकार की उन्मत्तता की स्थिति में ला बैठे हैं। यह स्थिति मार्तण्ड हृदय की मुक्तवस्था अथवा रस बधा होती है। इसी

की अनुभूति के प्रकाशन को काव्य कहते हैं। उन्होंने बिबा है "कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित संदल से ऊपर उठाकर लोक साधारण भाव भूमि पर से बाती है, वहाँ जगत् की भांग गतियों के मर्ममय स्वरूप का। तत्सात्कार और कुछ अनुभूतियों का ज्वार होता है। इस भूमि पर, पहुँच हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता से नीन करने रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है। इस अनुभूति योग के अन्वय से हमारे मनो विकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रचनात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।"

श्रीस्वामी तुलसीदास के सूक्तान्त के अन्वय में उन्होंने बताया है, कि काव्य के अनुकूल तथा प्रकृत-नामक दो रूप होते हैं। इनमें से कवि, की, भावविभक्तिक ही दृष्टि से प्रथम का महत्व विशेष होता है। जहाँ विचार है—कि जीवन के अनेक मर्म पक्षों की वास्तविक सहाय्युक्ति जिसके हृदय में समय-समय पर अपनी रहती है, उठी से ऐसे रूप व्यापार हमारे धामने लाते बनेवा जो हमें किसी भाव में भाव करते हैं और उठी से उस भाव की ऐसे स्वाभाविक रूप में व्यंजना, हो सकती है, जिसकी सामान्यतः सबका हृदय अपना सकता है। अपनी व्यक्तियुक्त सत्ता की अलग भावना से हटाकर, निज के योग क्षेत्र के सम्बन्ध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक बसावों में जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सत्ता कवि हृदय है।" इस प्रकार से सुक्त की काव्य के स्वरूप का निर्धारण भावमात्मक उद्देश्य से करते हैं और उसे भावों की अभिव्यक्ति मानते हैं।

काव्य का उद्देश्य —

काव्य के उद्देश्य पर विचार करते हुए आचार्य सुक्त ने बहुत व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इसे उन्होंने सास्वत् कौटि का माना है क्योंकि वह लोक कल्याण का प्रसारक और जीवन के लिए स्तुतिदायक होता है। उन्होंने बिबा है कि काव्य का कवि कर्म के लक्ष्य को हृदय कर्म से तीन भागों में बाँट सकते हैं १. १. कव्य विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना २. २. भावों का स्वल्प प्रत्यक्ष करना ३. ३. भाव

१ 'विन्यासवि' पं० रामचन्द्र सुक्त, भाग १ पृ० ११५१ ।

२. 'श्रीस्वामी तुलसीदास' पं०, रत्नचन्द्र सुक्त, पृ० २२ ।



परायों के साथ उनका प्रकृत सम्बन्ध प्रत्यक्ष करना। मेरी समझ में काव्य का अन्तिम लक्ष्य वीर्य है। यह दूसरी बात है कि अपनी सक्ति के अनुसार कोई पहली सीढ़ी पर रह जाया है, कोई दूसरी ही तक पहुँच पाया है। शोका के सम्बन्ध में यदि हम पहले दो विचारों का ही विचार करते हैं तो कविता केवल ध्यानम् या मनोरंजन की वस्तु प्रतीत होती है।<sup>१</sup>

काव्य के उद्देश्य के विषय में उन्होंने भाषात्मक ताशात्म्य से युक्त सन्देश को भी ध्यान में रखा है। उनका कथन है कि 'आजकल कवि के सन्देश (संदेश) का फल बहुत ही रूढ़ है। हमारे जादि कवि का जादि से अधिप्राय प्रथम कवि से है जिसने काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा की सन्देश है कि सब शूरों तक, सम्पूर्ण बचपन तक अपने हृदय को फँसाकर बगल में बाज रूप में धम बाजी हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के साथ एकता का अनुभव करो। कल्प अवर्ष' की जो बाणी उनके मुख के पहले पहल निकली उसमें यही सन्देश भरा था।'<sup>२</sup>

इस प्रकार काव्य को जीवन की प्रेरक एक सक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने यह मत प्रकट किया है कि उसका अन्तिम उद्देश्य रसानुभूति है और उसका सम्बन्ध हमारे हृदय से है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने अन्य विषयों का काव्य से सीमा निर्धारण करते हुए यह निरवचन किया है कि वाग्मय के अन्य अर्थों की अपेक्षा साहित्य किसी भी प्रकार से हीनतर नहीं है। वहीं तक काव्य में सांघनिक तत्त्वों का समावेश का सम्बन्ध है उन्होंने यह प्रतिपादित किया है अन्ततः यह दोनों ही एक प्रकार की साधना का साधन करते हैं इसलिए इन दोनों में उद्देश्यमय विभेदा नहीं है।

#### काव्य और कल्पना :—

काव्य में कल्पना तत्त्व के समावेश में शुक्ल जी की यह धारणा है कि वह निरन्तर रूप से काव्य का एक भावभूक तत्त्व है। परन्तु उन्होंने इन दोनों का संतुलन साधक्यक बताया है। उनका यह विचार है कि काव्य में कल्पना का समावेश उसी सीमा तक वांछनीय होगा चाहिए जिस सीमा तक वह एक साधन के रूप में प्रतीत हो क्योंकि वह काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है और उसके अभाव में काव्य में रसात्मकता की

१ 'रस नीमाता', पं० रामचन्द्र शुक्ल वृष्ट ८२।

२ 'काव्य में रस्यवाद' पं० रामचन्द्र शुक्ल, वृष्ट १६।

सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। इसके बतिरिक्त कल्पना पाठक के लिए भी मय्य हानी चाहिए। सभी कल्पना के विषय में सुकन जी ने लिखा है कि 'काम्य बगल की रचना करने वाली कल्पना इसी को कहते हैं। किसी भावोद्देक द्वारा परिवर्तित अस्तित्व का वह उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट घाटकर सामने रखने लगती है, तब हम उसे सभी कल्पना कह सकते हैं। यों ही 'ठिरपन्नी कले' बिना किसी भाव में मय्य हुए कुछ-कुछ जमीने रूप सहे करना या कुछ को कुछ कहने मयना या तो भावसाधन है या विभावी कथरत सन्ने कवि की कल्पना नहीं। वास्तव के बतिरिक्त या वास्तव के स्थान पर जो रूप सामने लाए गए हों उनके सम्बन्ध में यह देखना चाहिए कि वे किसी भाव की उमंग के उस भाव को जँभासने वाले या बढ़ाने वाले होकर क्या सहे हुए हैं या यों ही समझा दिखाने के लिए कुछ-कुछ उत्पन्न करने के लिए अबरहस्ती पकड़ साए गए हैं। यदि ऐसे रूपों की सहे में उनके प्रवर्तक या प्रेरक भाव का पता लग जाय तो समझिए कि कवि के हृदय का पता लग गया और वे रूप हृदय प्रेरित हुए।<sup>१</sup> इस प्रकार के सुकन जी के कल्पना को काम्य में एक साधन माना है, जो उसकी प्रभाव पूर्णता में बुद्धि करता है।

काम्य और भावा —

काम्य की भाषा के विषय में आचार्य सुकन का मत है कि वह साक्षात् भाषा से निम्न होती है। उन्होंने काम्य की भाषा की पहली विशेषता यह बतायी है कि उसमें सभीरता होनी चाहिए, जिससे उसमें अधिष्पत्य भाव नूत रूप में हमारे सामने आ सके। इसकी दूसरी विशेषता विचारमयता है। काम्य चयन में अनुकूलता का ध्यान रखना भी कवि के लिए आवश्यक है। इनके बतिरिक्त काम्य भाषा में संगीतारम्यकता तथा प्रबंधानुकूलता के गुण भी होना चाहिए। सुकन जी का विचार है कि 'भाव सीमर्य से कविता भी जानु बढ़ती है। तात पत्र, भोजपत्र, कापत्र आदि का धारण धूह जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की निरुहा पर नाचती रहती है। बहुत सी उल्लियों को लोग उनके अर्थ की उबधीमता दरदरि की ओर ध्यान से जाने का-कष्ट सहाये बिना ही, प्रसन्न बिना रहने पर सुननुगामा करते हैं। जत-भाव सीमर्य का धोम भी कविता का; पूर्ण स्वरूप सहा करने के लिए कुछ न कुछ आवश्यक होता।'<sup>२</sup>

१. 'अनरभीत' सं० रामचन्द्र सुकन, पृष्ठ १८।

२. 'विस्तारवि' सं० रामचन्द्र सुकन, भाग १, पृष्ठ १७१-८०।

काव्य और अलंकार —

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकार की अवलोकन के लिए सहस्रक नामा है। उनका विचार है कि वर्णन यैसी जयवा कथन की पद्धति की विशेषताओं को ही अलंकार कहते हैं। काव्य में अलंकार के समावेश के सम्बन्ध में उनका मत है कि कविता में भाषा की सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार की जायना बटकीसी करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी कभी वस्तु का अकार या गुण बहुत बढ़ा कर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप रंग या गुण की जायना को उसी प्रकार के और कम रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और बर्ण बाधी धीर वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को भी बुझा फिराकर कहना पड़ता है। इस तरह से जिस-जिस विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं। इनके सहारे कविता अपना प्रभाव बहुत कुछ बढ़ाती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना काम ही नहीं चल सकता। पर साथ ही साथ यह भी स्पष्ट है कि ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य को मुलाकर इन्हीं को साध्य मान लेने से कविता का रूप कभी-कभी इतना विकृत हो जाता है कि वह कविता नहीं रह जाती। पुरानी कविता में कहीं-कहीं इस बात के उदाहरण मिल जाते हैं। परन्तु अलंकार में काव्य के सीम्बर्ष की वृद्धि उनी होगी जब उसमें भावार्थक सीम्बर्ष भी होमा। इसीलिए कुल भी लिखा है कि बिच प्रकार कृप्या स्त्री आभूषण बांध कर सुन्दरी नहीं हो सकती उसी प्रकार से समीपता के अभाव में काव्य सजीव नहीं हो सकता।

रस —

रस सिद्धान्त के हिन्दी पौषकों में सबसे उल्लेखनीय नाम पं० रामचन्द्र शुक्ल का है। 'उद्भूति' में केवल हिन्दी साहित्य-सालेन की परम्परा में रस का विकास किया 'वरन्' रस सिद्धान्त की नदीन मंगोविस्लेषकारक वृष्टिकोण से व्याख्या करके काव्य और साहित्य के एक व्यापक परीक्षा केन्द्र के विभिन्न रूप में विभिन्न रस बसतियों जाकि की प्रासंगिक विवेचना करते हुए इसका सम्पूर्णता के 'साध पुष्टीकरण भी किया' है। शुक्ल भी रस को काव्य का सर्वस्व मानते थे। रस की अनुभूति के नियम में उद्भूति लिखा

१ 'विस्तारमि', पं० रामचन्द्र शुक्ल, भाग १, पृष्ठ १८३।

२, वही, पृष्ठ १८२।

है कि 'पूर्ण रस की अनुभूति अर्थात् जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना क्यों उत्तम या श्रेष्ठ है इसका भी कुछ विवेचन कर लेना चाहिए। काव्य दृष्टि से जब हम बसंत को देखते हैं तभी जीवन का प्रकृत रूप प्रत्यक्ष होता है। जहाँ व्यक्ति के भावों के पृथक् विषय नहीं रह जाते मनुष्य मात्र के भावों के आत्ममगनों में हृदय लीन हो जाता है जहाँ हमारी भाव सत्ता का सामान्य भाव सत्ता में लय हो जाता है वहीं पुनीत रस भूमि है। आभय के साथ वह तादात्म्य आत्ममग्न का वह साधारणीकरण जो स्वामी भावों में होता है, दूसरे भावों में जाहे वे स्वतन्त्र रूप में भी जाये हों नहीं होता। दूसरे भावों की व्यंजना का हम अनुभोवन मात्र करते हैं। इस अनुभोवन में भी रसात्मकता रहती है, पर उस कोटि की नहीं।<sup>१</sup>

इस प्रकार पूर्ण रस बोध के लिए उन्होंने अभिव्यक्ति भाव में लीनता की स्थिति को आवश्यक बताया है। इस लीनता की अवस्था को उन्होंने रस की प्रतीति की सबसे उत्कृष्ट स्थिति बताया है। उन्होंने एक अर्थ स्थिति मध्यम प्रकार की बतायी है। जिसमें पाठक अथवा श्रोता स्वयं भावानुभव नहीं करता और उसे भावार्थक तादात्म्य भी नहीं होता। सुकसमी ने रसानुभूति का विश्लेषण करते हुए कल्पना और भावुकता की भी व्याख्या की है और इन दोनों को ही कवि के लिए आवश्यक निर्दिष्ट किया है। सुकसमी की समीक्षा में उनके रस विषयक दृष्टिकोण का बहुत अधिक महत्व है। प्राचीन भारतीय संस्कृत विचारकों के समान ही उन्होंने भी रसानुभूति को काव्य का प्रधान उद्देश्य स्वीकार किया। उन्होंने प्राचीन संस्कृत शास्त्रियों के रस सिद्धान्त को प्राह्य करते हुए उसमें समीक्षा बर्धन के लक्षिततर तत्त्वों का समावेश करके उसे युग के अनुकूल बनाया।

महत्व —

पं० रामचन्द्र सुबल का हिन्दी समीक्षा के इतिहास में असाधारण महत्व इस कारण है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय समीक्षात्मक सिद्धान्तों को सांख्यिक चिन्तन से से संयुक्त करके उसका निरूपण किया तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उनका प्रयोग किया। उनके दृष्टिकोण की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने समीक्षात्मक मानकों के लिए केवल प्राचीन सिद्धान्तों की ओर ही दृष्टि नहीं रखी बल्कि उन्होंने महाकवियों की कृतियों में निहित मूल्यों का संश्लेषण किया तथा उन्हें जो अपनी समीक्षा

१ 'काव्य में रसव्यापार', पं० रामचन्द्र सुबल पृष्ठ १०१।

का मान बढ़ बनाया। इस प्रकार से उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों के उस मंथ को त्याग दिया जो कड़िबाहिता का सूचन करता था। इसक अतिरिक्त उन्होंने दूसरा कार्य यह किया कि प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण को आधुनिक चिन्तन तथा पारम्पर्य वैचारिक आन्दोलनों से युक्त करके समन्वित रूप में प्रस्तुत किया।

गुलाबराय —

डॉ० गुलाबराय का स्थान भी आधुनिक हिन्दी समीक्षा की शास्त्रीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत अस्मैसनीय है। उनको कृतियों में 'नवरत्न' 'सिद्धान्त और अध्ययन' 'काम्य के रूप' 'हिन्दी काम्य विमर्श' तथा 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें उन्होंने विविध काम्य शैलियों तथा रूपों का ऐतिहासिक विश्लेषण उपस्थित किया है।

काम्य —

डॉ० गुलाबराय ने काम्य की पूर्णता के लिए पाठक को भी कवि के समान ही आवश्यक माना है। कवि कथन की सार्थकता पाठक द्वारा उसके आचारमक साम्य में ही है। इस दृष्टिकोण से काम्य की परिभाषा करते हुए डॉ० गुलाबराय ने लिखा है कि 'काम्य संसार के प्रति कवि की भाव प्रधान (किन्तु कुछ वैयक्तिक तन्मन्त्रों से युक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की, कल्पना के ढाँचे में उनी हुई, श्रेय की प्रेम रूपा अभिव्यक्ति है।'<sup>१</sup> उन्होंने काम्य और साहित्य के विषय में लिखा है कि 'अपने संयुक्त अर्थ में साहित्य काम्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रयत्न करते हैं, वहाँ साहित्य से काम्य ही अभिप्रेत होता है। यही हार्न अंग्रेजी शब्द 'लिट्रचर' का है। व्यापक अर्थ में चिन्ता अकारों (सेटर्स) का आयोजन है, यह उस लिट्रचर है। 'लिट्रचर' शब्द सेटर्स से ही बना है। संयुक्त अर्थ में लिट्रचर काव्य का पर्याय है किन्तु व्यापक अर्थ में काम्य में बह और पद्य दोनों ही आते हैं। कविता शब्द अद्यपि पद्यारमक काम्य में रूढ़ हो गया है तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ में भी प्रयोग होने लगता है... कविता से पद्यारमक साहित्य का बोध होता है। किन्तु काम्य शब्द पूरे भाव प्रदान बंध पद्यारमक साहित्य का बोधक होता है।'<sup>२</sup>

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन डॉ० गुलाबराय पृष्ठ ३४।

२. वही पृष्ठ ३३।

काम्य और कला :—

काम्य और कला के सम्बन्ध पर विचार करते हुए डॉ० मुत्तावरय ने भारतीय और पारश्चात्य दारदशाओं का भी परीक्षा किया है। उन्होंने बताया है कि “—काम्य की भावना स्वल्प रस ही कलाओं को अनुप्राणित करता है। शीतल कलाओं में समस्त पूर्ण के अतिरिक्त काम्य से सम्बन्ध और भी कलाएँ, जैसे प्रतिमात्ता (अभ्यासरी) माटकों का अभिनय करना, माटकों का दैसना-विद्याना, कलाओं का कहना-मुग्घना, अधिधान कोष, स्मृति का ध्यान प्रहेमिका आदि तब आह्वितिक विद्याएँ कलाओं में परिवर्धित हैं। काम्य का चितना मनोरञ्जक पक्ष है, यह सब कलाओं में जा जाता है। हमारे यहाँ यह पक्ष उपविद्या रूप से स्वीकृत हुआ है। जिस प्रकार विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष तत्सम्बन्धी कलाओं में जाया जाता है उसी प्रकार काम्य का व्यावहारिक एवं मनोरञ्जक पक्ष कलाओं में जा जाता है। पारश्चात्य देशों में काम्य का संयुक्त पक्ष कला के अन्तर्गत है। भारतीय परम्परा में उसका व्यावहारिक अर्थात् शिल्प सम्बन्धी पक्ष कलाओं में जाता है। उसमें जो काम्य के रूप जाते हैं, वे विद्य बह्वाव और समय कटने के साधन से हैं। काम्य की नीची श्रेणियाँ कला में अन्तर्गत जा जाती हैं, किन्तु ऊँची और नीची श्रेणियों का निश्चित पार्वन्ध भी नहीं हो सकता।”

काम्य और कल्पना —

कवि के कार्य में कल्पना के प्रयोग की अतिवार्धता और स्वाभाविकता बताते हुए डॉ० मुत्तावरय ने सिखा है “कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अन्तर्गत के भाविक विषय अस्मिता करते हैं। कल्पना का अर्थही वर्धन ‘अर्थविशेषण’ है। यह शब्द ‘अर्थ’ का भाविक विषय से बना है। संस्कृत में कल्पना शब्द ‘कल्प’ शब्द से बना है, जिसका अर्थ है कृष्टि करना। स्वयं के अन्तर्गत की भाँति कल्पना भी अन्तर्गत परिधिगत अस्मिता कर देती है। कल्पना द्वारा अस्मिता किये हुए विषय भूय, भविष्य और वर्तमान तीनों काल के हो सकते हैं।”

रस —

अपने ‘अन्तर्गत भाविक पक्ष में डॉ० मुत्तावरय ने रस की व्याख्या के सम्बन्ध में

१ ‘विद्वान्ध और अस्मिता’ डॉ० मुत्तावरय, पृष्ठ १११।

२ यही, पृष्ठ १०७।

प्राचीन मठों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य कश्मिरी, बीर, मयामक बीमस्त अब्जुत छात्र तथा वास्तव्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस वीथ तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका मेघ आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक वास्तवीय समीक्षकों द्वारा रस पर सिद्धी मरी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

### सीताराम चतुर्वेदी —

पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा 'समीक्षा छात्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी नहीं करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों, प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा वाचों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस अभी का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी नहीं भी सम्भव उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

### लक्ष्मीनारायण सुधासु —

लक्ष्मीनारायण सुधासु लिखित 'काम्य में अभिव्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काम्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन संवत् १९४२ में हुआ था। 'काम्य में अभिव्यंजनावाद' में लेखक ने संस्कृत साहित्य छात्र सहजानुभूति का तत्व 'अभिव्यंजना और कला' रसानुभूति अस्कार और प्रमाण प्रतीक और उपमान अमूर्त का मूर्त विधान तथा विविध अभिव्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार वे जीवन के तत्व और काम्य के सिद्धान्त में लेखक ने माघ विन्यास और जीवन का वातावरण और काम्य प्रवृत्ति आत्ममान और काम्य विधान मन का ओम और रस काम्य का अर्थ बोध काम्य की प्रेरणा शक्ति लय और अन्त, ग्राम्य गीत का मर्म कला गीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्द्वंद्व आदि पर विचार किया है। काम्य में अभिव्यंजनावाद में बाष्पार्थ में काम्याय धीरेक निरवध में सुधासु भी ने लिखा है कि 'काम्य का लीख्ये लक्षणा से अवश्य पड़ता है, पर उलका भी बाष्पार्थ ही मिला पड़ता है। लक्षणा का बाष्पार्थ प्रायः व्याहृत तथा बुद्धि को अज्ञात्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोम्यता में काम्य का लीख्ये द्विधा रहता है। साधारणतः बाष्पार्थ के बाधित तथा अनुत्पन्न होने पर अन्य अन्य शक्तिओं की सहायता भी जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना, काम्य की स्वामीयता तथा विविधता के लिए बाष्पार्थ ही चाहिए। लक्षणा का

वाक्यांश के स्वल्प में काव्य का सौन्दर्य बल लक्ष्य होता है पर उसमें यह नहीं हो पाता। भाषुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।<sup>१</sup>

हजारी प्रसाद द्विवेदी :—

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ सांस्कृतिक समीक्षकों में शीर्षस्थ हैं। संस्कृत साहित्य के महान् परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कौटि का विस्तृत भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने मुसल मी से ही प्रसाद के रूप में यह पाठित्व प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार भी कृत्रिमता नहीं दिखाई देती है। बूँक द्विवेदी जी के संस्कृत हिन्दी और बंभता साहित्य के महान् अध्ययन के साथ इतिहास, पद्योपपासन, वर्तमानसाधन का भी यत्नपूर्वक अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षार्थक कृतियों के अतिरिक्त किमार्थक रचनाएँ भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३४), 'सूर और प्रकाश काव्य' (१९४४) 'हिन्दी साहित्य की सुमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४१) 'अक्षरार्णव में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और विचार' (१९४३), 'बसो के फूल' (१९४८), 'हजारी साहित्यिक समस्याएँ' (१९४०), 'साहित्य का मर्म' (१९४०), 'साहित्य का साधन' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९४२), 'भाषुनिक साहित्य पर विचार' (१९४२), 'वाचक सम्प्रदाय' (१९४०), 'हिन्दी साहित्य का आधिकार' (१९४२) 'मध्यकालीन नव साधना' (१९४२) आदि उनकी समीक्षार्थक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। और कि प्रथम रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है वे रचनाएँ ऐतानिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें विस्तृत स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कौटि की हैं। कुछ पुस्तकें देसी भी हैं जो केवल विचारियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त बागमट्ट की आर्यकथा' नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४९) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपन्यास 'बाबू चन्द्रबेह' है।

१ 'काव्य में अतिरिक्ततावाद', श्री लक्ष्मीनारायण सुबोसु, पृष्ठ १४२।



प्राचीन मठों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य, कवच रीति, बीर, भयानक बीमत्स अद्भुत आन्त तथा बाल्यस्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस बोध तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत गायिका भेद आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। साधुनिक धार्मिक समीक्षकों द्वारा रस पर सिद्धी मयी स्वतंत्र कृतियों में इस रचना का अपना स्थान है।

सीताराम चतुर्वेदी :—

पं सीताराम चतुर्वेदी द्वारा 'समीक्षा धारण' नामक ग्रन्थ का संस्केद भी नहीं करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों श्रयोभों तथा बाधों का विस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनात्मक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस क्षेत्र का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी नहीं भी सम्भव उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

सखीनारायण सुभाषु —

सखीनारायण सुभाषु लिखित 'काम्य में अनिर्व्यंजनावाद' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्त्व तथा काम्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ था। 'काम्य में अनिर्व्यंजनावाद' में लेखक ने संस्कृत साहित्य धारण सहजानुवृत्ति का तत्त्व अनिर्व्यंजना और कला रसानुवृत्ति अस्कार और प्रभाव प्रतीक और उपमान, अनूर्त का मूर्त विधान तथा विशिष्ट अनिर्व्यंजना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्त्व और काम्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काम्य प्रवृत्ति आत्मभाव और काम्य विधान, मन का बोध और रस काम्य का अर्थ बोध तन्मय की प्रेरणा शक्ति तय और अन्त, प्राम्य गीत का मर्म कला पीठ की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्दशन आदि पर विचार किया है। काम्य में अनिर्व्यंजनावाद में बाष्पार्थ में काम्यत्व धीरे-धीरे निरग्रह में सुभाषु भी ने सिद्धा है कि 'काम्य का सीम्य लक्षणा से अवश्य उद्भूत है, पर उतका भी बाष्पार्थ ही सेना पड़ता है। लक्षणा का बाष्पार्थ प्रायः व्याहृत तथा बुद्धि को अपाह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अनोन्मत्ता में काम्य का सीम्य क्षिपा उद्भूत है। साधारणतः बाष्पार्थ के बाधित तथा अनुत्पन्न होने पर काम्य अर्थ साक्ष्यों की सहायता भी जाती है, किन्तु यह चाहे लक्षणा ही वा अर्थवना, काम्य की स्वामीयता तथा विशिष्टता के लिए बाष्पार्थ ही चाहिए। लक्षणा का

साध्याय के स्वरूप में काम्य का सौन्दर्य नूतन बनस्य होता है पर उसमें वह नहीं हो जाता। भाषुनिक कविताओं में वह विवेचना कुछ-कुछ देखी जाती है।<sup>१</sup>

हृदारी प्रसार दिवेदी —

डा० हृदारी प्रसार दिवेदी हिन्दी के प्रौढ़ सांख्यीय समीक्षकों में दीर्घक है। संस्कृत साहित्य के गहन परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उष्ण कोटि का विस्तार भी किया है विविध प्रकार की रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह पं० रामचन्द्र शुक्ल के शिष्य हैं और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रसार के रूप में यह पाठित्व प्राप्त किया। दिवेदी जी ने यद्यपि अपनी समीक्षा में भारतीय दृष्टिकोण को बतलाया है परन्तु उसमें कितनी प्रकार की कृत्रिमता नहीं दिखाई देती है। भूँक दिवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंसा साहित्य के गहन अध्ययन के साथ इतिहास पयोतिवसाय, वर्धनघातन का भी समीक्षक सम्पन्न किया है वह उनमें एक प्रकार की समीक्षा और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में यथोक्त कृतियों के अतिरिक्त कितान्यक रचनाएँ भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९१८), 'सूर और उनका काम्य' (१९४८) हिन्दी साहित्य की धूमिका (१९४०), 'कबीर' (१९४१), 'जबर्पन में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और विवेक' (१९४३), 'असोक के फूल' (१९४४), 'हृदारी साहित्यिक समस्यार्ण', 'कल्पलता' (१९४०), 'साहित्य का नय' (१९४०), 'साहित्य का चार्गी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९४९), 'भाषुनिक साहित्य पर विचार' (१९४२), 'आज सम्प्रदाय' (१९४०) 'हिन्दी साहित्य का आधिकार' (१९४२) 'अभ्यन्तरीय नय साधना' (१९४२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। जैसा कि उपर्युक्त रचनाओं के दीर्घकों से स्पष्ट है वे रचनाएँ वैज्ञानिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ साधुत्वके विस्तार स्तर की दृष्टि से बहुत उष्ण कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्वानों के हित की ध्यान में रचकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त बाबुभट्ट की आत्मकथा नामक एक उपमायत भी उन्होंने सन् (१९४६) में प्रकाशित किया था। उनका दूसरा उपमायत 'आज जबके' है।

१ 'आज में अभिज्ञानाचार्य', जो समीक्षात्मक पुस्तक, पृष्ठ १४६।

प्राचीन मनों का परीक्षण करते हुए शृंगार, हास्य, कथन, रोद्र, नीर, भयानक बीमस्य, अश्रुमुत्, शान्त तथा वास्तव्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस बोध तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत नायिका मेघ आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। आधुनिक सात्त्विक समीक्षकों द्वारा रस पर लिखी गयी स्वतंत्र छवियों में इस रचना का अपना स्थान है।

### सीताराम चतुर्वेदी :-

पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा 'समीक्षा शास्त्र' नामक बृहत् ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है, जिसमें 'संसार भर के साहित्य रूपों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा चारों का सविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनारमक निरूपण, परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस मोर्ची का कोई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक जानकारी बड़ी भी असम्भव नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

### लक्ष्मीनारायण सुभांशु -

लक्ष्मीनारायण सुभांशु लिखित 'काव्य में अभिव्यञ्जनाभाव' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन सन् १९४९ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यञ्जनाभाव' में लेखक ने संस्कृत साहित्य शास्त्र सहजानुभूति का तत्व अभिव्यञ्जना और कला रसानुभूति अस्कार और प्रभाव प्रदीप और उपमान अमूर्त का मूर्त विधान तथा विविध अभिव्यञ्जना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रवृत्ति आत्मभाव और कम्ब विधान, मन का और और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति समय और छन्द, साम्य गीत का मर्म कला नीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्द्वेष आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यञ्जनाभाव में बाष्पार्थ में काव्यारं धोर्षक निरूपण में सुभांशु भी ने लिखा है कि 'काव्य का लीन्यत सज्जता से अवश्य उद्भूत है, पर उसका भी बाष्पार्थ ही होता पड़ता है। सज्जता का बाष्पार्थ प्रायः व्याहृत तथा बुद्धि को अग्रहण हुआ करता है पर अर्थ की इसी अशोष्यता में काव्य का लीन्यत दिया जाता है। साधारणतः बाष्पार्थ के बाधित तथा अनुत्पन्न होने पर अन्य चम्ब शक्तियों की सहायता ही जाती है, किन्तु वह चाहे कसबा हो या व्यञ्जना काव्य की उन्मीलता तथा विचित्रता के लिए बाष्पार्थ ही चाहिए। सज्जता की

साधारण के स्वरूप में वाक्य का संश्लेषण पूरा अवस्था होता है पर उसमें वह नहीं होता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।<sup>१</sup>

द्वितीय प्रकाश द्वितीय —

डा० इराटी प्रकाश द्वितीय हिन्दी के प्रौढ़ सास्त्रीय कवीश्वरों में शीर्षस्थ है। संस्कृत साहित्य के महान परिवर्तन के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का विचित्र भी किया है जिसका प्रभाव उनकी रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। वह १० रामचन्द्र युक्त के विषय है और उन्होंने दुःख भी से ही प्रभाव के रूप में यह पौराणिक प्राप्त किया। द्वितीय जी ने यद्यपि अपनी कबीला में सास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार भी कविताविद्या नहीं दिखाई देती है। चूंकि द्वितीय जी ने संस्कृत हिन्दी और संयुक्त साहित्य के महान सम्मेलन के साथ इतिहास, व्योमिषासन, वर्तमानकाल का भी समीर सम्मेलन किया है अतः उनमें एक प्रकार की समीक्षा और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त किन्तु एक रचनाएँ भी हैं। 'सूर साहित्य' (१९३४), 'सूर और उनका काल' (१९४४) 'हिन्दी साहित्य की सुमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४१), 'ब्रह्मदर्शन में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और विचार' (१९४२), 'अयोध के युग' (१९४०), 'इराटी साहित्यिक सम्मेलन', 'कल्पवृक्ष' (१९२०), 'साहित्य का नय' (१९२०), 'साहित्य का साथी' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९२२) 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९२२), 'नय सम्मेलन' (१९२०), 'हिन्दी साहित्य का विकास' (१९२२) 'सम्प्रदायिक नय साधना' (१९२२) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। वैसे कि उपर्युक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है कि रचनाएँ ऐतिहासिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ कुछ पुस्तकें विचित्र स्तर की दृष्टि के बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विचारधारा के दृष्टि की ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त वाक्यमाला की आत्मकथा नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४९) में प्रकाशित किया था। उनका मुख्य उपन्यास 'नय नयनेक' है।

१ 'वाक्य में अविष्यंजनाभाव', श्री जसवीररायण शुक्ल, पृष्ठ १४२।

प्राचीन मतों का परीक्षण करते हुए श्रृंगार, हास्य, कथन रीति, बीर, भयानक कीमत्स बहुभूत शान्त तथा भास्वर्य रसों की व्याख्या की है। अन्त में रस बोध तथा रस निष्पत्ति पर भी विचार किया गया है। श्रृंगार रस के अन्तर्गत मायिका श्रेय आदि विषयों का भी समावेश हुआ है। साधुनिक शास्त्रीय समीक्षकों द्वारा रस पर मिली गयी स्वतंत्र छवियों में इस रचना का अपना स्थान है।

### सीताराम चतुर्वेदी —

पं० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा 'समीक्षा शास्त्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी यहाँ करना आवश्यक है जिसमें 'संसार भर के साहित्य क्यों समीक्षा सिद्धान्तों प्रवृत्तियों प्रयोगों तथा चारों का संविस्तार ऐतिहासिक तथा विवेचनारमक निरूपण परीक्षण और प्रतिपादन किया गया है।' इसके स्पष्ट है कि विषय विस्तार की दृष्टि से हिन्दी में अभी तक इस अभी का कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि एक ग्रन्थ में इतनी अधिक कामकारी नहीं भी सम्भव उपलब्ध नहीं है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

### लक्ष्मीनारायण सुधाधु —

लक्ष्मीनारायण सुधाधु लिखित 'काव्य में अभिव्यञ्जनाचार' का प्रकाशन संवत् १९९३ में हुआ था तथा 'जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त' का प्रकाशन संवत् १९४९ में हुआ था। 'काव्य में अभिव्यञ्जनाचार' में लेखक ने संस्कृत साहित्य प्राप्त सृष्टानुभूति का तत्व अभिव्यञ्जना और कला रसानुभूति अस्कार और प्रमाण प्रतीक और उपमान अनुपम का मूर्त विधान तथा विविध अभिव्यञ्जना प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। इसी प्रकार से जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त में लेखक ने भाव विन्यास और जीवन का वातावरण और काव्य प्रवृत्ति आरम्भभाव और काव्य विधान मन का बोध और रस काव्य का अर्थ बोध काव्य की प्रेरणा शक्ति लय और छन्द, शान्त गीत का मर्म, कला गीत की प्रवृत्तियाँ तथा अन्तर्ज्ञान आदि पर विचार किया है। काव्य में अभिव्यञ्जनाचार में बाष्पार्थ में काव्यार्थ धीरे-धीरे निरूपण में सुधाधु जी ने लिखा है कि काव्य का सीम्बल सज्जना से अन्वय पड़ता है, पर उसका भी बाष्पार्थ ही सेना पड़ता है। लक्ष्मी का बाष्पार्थ प्रायः व्याहृत तथा बुद्धि को असाध्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अव्ययता में काव्य का सीम्बल छिपा रहता है। साधारणतः बाष्पार्थ के बाधित तथा अनुत्पन्न होने पर अर्थ सम्बन्धितियों की सहायता ही जाती है, किन्तु वह चाहे लक्ष्मी ही या व्यञ्जना, काव्य की समीक्षता तथा विविधता के लिए बाष्पार्थ ही चाहिए। लक्ष्मी

वाक्यार्थ के स्वरूप में काव्य का संस्कार बहुत आवश्यक होता है पर उसमें यह नहीं हो पाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।<sup>१</sup>

हमारी प्रस्ताव द्विवेदी —

डा० हमारी प्रस्ताव द्विवेदी हिन्दी के प्रौढ़ सांख्यिक समीक्षकों में शीर्षस्थ हैं। संस्कृत साहित्य के महान् परिचय के साथ ही साथ उन्होंने उच्च कोटि का विस्तृत भी किया है जिसका प्रभाव उन ही रचनाओं पर स्पष्ट देखा जा सकता है। बहुधा रामचन्द्र शुक्ल के विषय में और उन्होंने शुक्ल जी से ही प्रस्ताव के रूप में यह परिचय प्राप्त किया। द्विवेदी जी ने मर्यादा अपनी समीक्षा में सांख्यिक दृष्टिकोण को अपनाया है परन्तु उसमें किसी प्रकार भी कड़िबाँधता नहीं दिखाई देती है। चूंकि द्विवेदी जी ने संस्कृत हिन्दी और बंगला साहित्य के महान् अध्ययन के साथ इतिहास, ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र का भी गम्भीर अध्ययन किया है अतः उनमें एक प्रकार की गम्भीरता और पूर्णता है। उनकी रचनाओं में समीक्षात्मक कृतियों के अतिरिक्त किमार्थक रचनाएँ भी हैं। 'युग साहित्य' (१९३४), 'युग और जनका काव्य' (१९४४), 'हिन्दी साहित्य की सुमिका' (१९४०), 'कबीर' (१९४१), 'अक्षरार्पण में हिन्दी कविता' (१९४१), 'विचार और विचार' (१९४३), 'अधोके के फूल' (१९४४), 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' 'कल्पलता' (१९४०), 'साहित्य का मर्म' (१९४०), 'साहित्य का साधन' (१९४९), 'हिन्दी साहित्य, उसका उद्भव और विकास' (१९४९), 'आधुनिक साहित्य पर विचार' (१९४९) 'नव सम्प्रदाय' (१९४०), 'हिन्दी साहित्य का आधिकार' (१९४९) 'मध्यकालीन मर्म साधना' (१९४९) आदि उनकी समीक्षात्मक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। वैसा कि उपरोक्त रचनाओं के शीर्षकों से स्पष्ट है वे रचनाएँ शैक्षणिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इनमें से कुछ छ पुस्तकें विस्तृत स्तर की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की हैं। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो केवल विद्यार्थियों के हित को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त बाणभद्र की आत्मकथा नामक एक उपन्यास भी उन्होंने सन् (१९४९) में प्रकाशित किया था। जनका द्वारा उपन्यास 'चार चन्द्रोदय' है।

इस प्रकार से हिन्दी की नए समीक्षा क्षेत्र और वैचारिक परिधि बहुत विस्तृत है। सांख्यिक युग के अन्त में समीक्षाओं में बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने इस प्रकार से समीक्षा क्षेत्र में और विचारमय रचना के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया हो। हिन्दी की का युग वह युग है जब हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अत्यधिक क्रियाशीलता लक्षित हो रही थी। पं० रामचन्द्र शुभ्र समीक्षा के क्षेत्र में उच्च स्तरीय आदर्श प्रस्तुत कर चुके थे। कविता के क्षेत्र में छायावाद अपने विकास के उच्चतम बिन्दु पर था और उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द बहुत प्रसिद्ध थे। प्रपत्तिवादी विचारधारा का आरम्भ हो रहा था और प्रपत्तिहीन लेखक छायावादी कविता का विरोध करते हुए प्रपत्तिहीनता के तर्कों के साहित्य में समावेश पर बल दे रहे थे। हिन्दी की की प्रारम्भिक समीक्षा कृतियों जब प्रकाशित हुईं तब हिन्दी साहित्य में उपर्युक्त स्थिति ही थी। हिन्दी की की प्रारम्भिक रचनाओं की ओर स्वभावतः लोगों का ध्यान गया क्योंकि वैचारिक बाधा विवाद से घरे उन्होंने स्वस्थ और गम्भीर साहित्य चिन्तन की परम्परा का आरम्भ किया था।

हिन्दी की मुख्यतः शास्त्रीय समीक्षा है। उनकी प्रारम्भिक समीक्षा कृतियाँ एक प्रकार की छोक रचनाएँ कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें उन्होंने बिना समीक्षा-पद्धति का प्रयोग किया है वह गवेषणात्मक है। यह एक उत्प्रेक्षणीय तथ्य है कि 'सूर साहित्य' 'हिन्दी साहित्य की भूमिका 'कबीर', 'नाम सम्प्रदाय' हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का आदि काश' सम्प्रदासीन धर्म साधना' आदि पुस्तकों में हिन्दी की की गवेषणात्मक शैली बहुत महान रूप में प्रकटी है। छोक के भावमय तर्कों का उनके इन कृतियों में उपलब्धतापूर्वक समावेश हुआ है। यह कहना अनुचित न होना कि हिन्दी की की समीक्षा में गवेषणा शक्ति महान रूप से निरक्षर है, इसलिए कभी-कभी ऐसा आभासित होता है कि उसमें छोक और समीक्षा का मिश्रित रूप विद्यमान है। हिन्दी की की कुछ पुस्तकों उनके वैचारिक और वैयक्तिक कोटि के निदानों का संग्रह हैं। इन संग्रहों का स्वतंत्र महत्व तो है ही परन्तु इसके अतिरिक्त एक और दृष्टि से इनका महत्व है। और वह यह कि इन निदानों से हिन्दी की के साहित्य और समीक्षा विषयक दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है। हिन्दी की के साहित्य के उत्कर्ष में विचार करते हुए प्रासंगिक रूप में जो बलव्य दिये हैं वे उनके दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण में सहायक हैं। उनसे पता चलता है कि हिन्दी की मानवतावादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनकी प्रायः सभी समीक्षा कृतियों में इसी कारण से मानवतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता दिखाई देती है।

हिन्दी की की कुछ पुस्तकें विषय की दृष्टि से वैज्ञानिक समीक्षा से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार की पुस्तकों में जहाँ-साहित्यशास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन किया है। इस प्रकार की कृतियों में साहित्यशास्त्र के प्राचीन सिद्धांतों को सरल और सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि इस प्रकार की पुस्तकों में मौखिक विचारों और नवीन सिद्धांतों का अभाव नहीं है परन्तु ये पुस्तकें हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए ही अधिक उपयोगी हैं। 'साहित्य का सार' जैसी पुस्तकों की बचवा उठी कोटि में की जाती। वास्तव में इस प्रकार की पुस्तकों का महत्व राष्ट्रीय दृष्टि से कम और विद्यार्थियों के उपयोग की दृष्टि से अधिक होता है। सामाजिक चिन्तन और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की समकालीन समस्याओं की दृष्टि से 'हिन्दी की हमारी साहित्यिक समस्याएँ' नामक कृति उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा के वर्तमान स्वरूप का दृष्टि में रखते हुए उन्होंने विभिन्न समस्याओं पर चिन्तन किया है और इन पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यही नहीं साहित्यकार के दायित्व और क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले कुछ निर्देश भी इस पुस्तक में दिये गये हैं। उन्हें देखने से यह पता चलता है कि हिन्दी की एक साहित्यकार के कार्य की कठिनायियों और कठिनायियों का दायित्वपूर्ण समझते हैं।

जहाँ तक वैयक्तिक तथा अन्य प्रकार के निबन्धों का सम्बन्ध है 'असोक के फूस' तथा 'विचार और बर्तक' आदि कृतियाँ हिन्दी की की निबन्ध शैली का समग्रता से परिचय देने में समर्थ हैं। बीसा कि ऊपर संकेत किया गया है हिन्दी की के विविध विषयों पर लिखे गये निबन्धों से उनके मूलबतवासी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। उन्होंने किसी भी विषय पर लिखते समय साहित्यकार के दायित्व पर सदैव दृष्टि रखी है। मानव कल्याण की भावना उनके चिन्तित होती है। इसीलिये हिन्दी की का यह विचार है कि साहित्य का विकास मानव समाज का विकास है। इसलिये उसका प्रमुख दायित्व भी मानव समाज में अनुपम के प्रति ही है और इस दायित्व का निर्वाह साहित्यकार का प्राथमिक कर्तव्य है।

विरचनाय प्रसाद निधः।

पं० विरचनाय प्रसाद निध साहित्य समीक्षकों की परम्परा में जाते हैं। उनकी समीक्षा शैली पर पूर्ववर्ती समीक्षकों का विशेष रूप से ज्ञाना बचवागदीन तथा पं० राम चन्द्र शुक्ल का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। निध की की कृतियों में अनेक



ऐसी है जो प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन है। इन ग्रन्थों में उन्होंने विस्तृत भूमिकाएँ लिख कर उन्हें प्रकाशित किया है। 'भूपन ग्रन्थावली' 'कवितावली' 'सुखामा चरित्र' और 'हमीर हठ' आदि पुस्तकें इसी प्रकार की हैं। वहीं तक स्वतन्त्र समीक्षारमक कृतियों का सम्बन्ध है 'विहारी की वाचविमूर्ति' 'वांगमय विमर्श', सम्बत् १९९९, 'विहारी' सं० १००७, 'समसामयिक साहित्य' सं० २००८, 'भूपन' आदि हैं। इन ग्रन्थों में निम्न भी ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समीक्षा विषयों और कवियों को वासोचना की है। इनमें से बहुत ही पुस्तकें विद्यविद्यालय की कक्षाओं के साहित्यिक विद्यार्थियों की भाव व्यक्तताओं को ध्यान में रखकर भी लिखी गयी हैं। इस प्रकार की कृतियों में 'अज्ञातसूची विपिका' और 'हिन्दी में मद्रव साहित्य का विकास' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वहीं तक सम्पादन ग्रन्थों में ही गयी भूमिकाओं का सम्बन्ध है, उनमें उल्लेखनीय की अन्वेषणरमक कृति का परिचय मिलता है। कुछ भूमिकाओं में उल्लेखित लोग तब हिन्दी सोच के लिए विद्या विविष्ट करने वाले हुए हुए।

सम्पादनार्थ —

उपयुक्त समीक्षाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान भी राष्ट्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आते हैं परन्तु अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों के क्षेत्र में महत्तर उपलब्धियों के कारण उन्हीं के सम्बन्ध में उनकी चर्चा की जायगी। यहाँ इस प्रवृत्ति की भावी सम्पादनार्थों के सम्बन्ध में बह संकेत करना अनुचित न होगा कि वर्तमान काल में इसके अन्तर्गत न केवल राष्ट्रीय ग्रन्थों की रचना का ही कार्य हो रहा है, बल्कि इसके साथ ही साथ भारतीय तथा पारस्परिक समीक्षा राष्ट्रीय प्रवृत्तियों इतिहासों का भी विविध रूपों में संयोजन हो रहा है, जो इस प्रवृत्ति की व्यापकता और प्रसार का सूचक है।

## सम्पादकी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

साधुनिक हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत विन विविष्ट प्रवृत्तियों का प्रथम पृष्ठा उनमें से साधुनिकी भी एक है। साधुनिक कविता के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी

के प्रथम अनुपाद में "छायावाद" के नाम से एक नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इसके अन्तर्गत कतिपय नवीन शैलियों में लिखी गयी कविता की रचना की जाती थी। यह काव्य राष्ट्रीय आन्दोलन विशेषी सुधीन काव्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में जन्म था। आरम्भ में इसका रूप बहुत विवादास्पद रहा तथा इसके स्वरूप का निश्चित रूप से निर्धारण नहीं हो पाया परन्तु धीरे धीरे यह सुनिश्चित हुआ और उसका वैचारिक मान्यता प्राप्त की। इस समय तक कतिपय पारंपारिक काव्य शैलियों का भी इस पर प्रभाव पड़ा और उसने भी इसके स्वरूप निर्धारण में योग दिया था। छायावादी आन्दोलन के प्रेरक और अनुपमन कर्ता कुछ प्रमुख कवियों तथा विचारकों द्वारा प्रस्तुत की गई वैचारिक समीक्षा रचनाएँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखी जाती हैं। यहाँ पर प्रमुख छायावादी विचारकों की समीक्षा प्रवृत्तियों का सखिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

### अपराध प्रसार —

प्रसार का स्थान हिन्दी कविता के क्षेत्र में आधुनिक छायावादी आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में मान्य है। उनकी समीक्षा के स्वरूप की परिचायक उनकी "काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध" नामक कृति है जिसमें उनके वैचारिक निबन्ध संग्रहित हैं। इन निबन्धों में प्रसार ही न काव्य और कला रहस्यवाद उस नाटकों में उस का प्रयोग नाटकों का आरम्भ संभव, आरम्भिक पाठ्य काव्य तथा सचायवाद और छायावाद आदि विषयों पर विचार किया है।

### काव्य और कला —

प्रसार ने काव्य को सहीत कला की भाँति ही समूर्त कला के अन्तर्गत माना है। य दोनों कलाएँ नाशरमक हैं और परस्पर साम्य रखती हैं परन्तु इन दोनों काव्य कला का आपेक्षिक महत्व अधिक है। उन्होंने लिखा है कि—काव्य कला को समूर्त मानने में जो अमोक्षुति बिलसारी होती है वह महत्व उसकी परम्परा के कारण है। मैं तो साहित्य कला समूही तर्कों के आभास पर पूर्ण भी मानी जा सकती है, क्योंकि साहित्य कलाओं अपनी चार्चमाताओं के द्वारा प्रत्यक्ष सुविमती है। वर्णमाताओं की विपद् बरचना तथा धान्धों में बहुत विस्तृत रूप से की गयी है। "अ" से आरम्भ होकर 'इ' तक के ज्ञान का ही प्रदीक बहू है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, बहू के आरम्भ के हैं। ये सब वर्णमाता के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमाताओं के

३२२ ] समीक्षा के मान और हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

सम्बन्ध में अनेक प्राचीन देशों की आरम्भिक सिधियों से यह प्रमाणित है कि यह वास्तव में विश्व सिधि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चिन्तकता और भावमय भिन्न भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्मताओं और विशेषताओं का निर्धारण न करके केवल मूर्त और अमूर्त के भेद से साहित्य कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।<sup>१</sup> प्रसाद जी ने काव्य को "आत्मा की संकल्पारमक अनुभूतिमाना है। और उद्यी की व्यापकता माय्य की है।

रस —

रस शब्द को "प्रसाद" जी ने काव्य का आन्वयव्यतिकर शब्द माना है। ऐतिहासिक दृष्टि कोण से उन्होंने रस के स्वरूप विषयक विविध मन्तव्यों का विचार कर मेरे हुए उसका विवेचन किया है। नाटकों में रस के प्रयोग पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र वैशिष्ट्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टि कोण रस के लिए इन चरित्र और यक्ति वैशिष्ट्यों की रस का साधन मानता रहा साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले माने के लिए इनकी शीघ्र का माध्यम सा ही मानता आया। भारतीय रसवाद में मिसन सुख की सृष्टि मुख्य है। इस में लोक संगम की कल्पना प्रचलित रूप से अनेक रहित है। सामाजिक स्फूर्त रूप से नहीं किन्तु आधुनिक सूक्ष्मता के आचार पर रसवाद में आनन्दारमकतया रिक्त मनोवृत्तियाँ जिनके द्वारा चरित्र की सृष्टि होती है साधारणीकरण के द्वारा आनन्दमय बना दी जाती हैं इसलिए यह वास्तव का संशोधन करके उनका साधारणीकरण करता है।—"<sup>२</sup>

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' —

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की मजमा हिन्दी के प्रमुख आधुनिक कवियों और विचारकों में की जाती है। आधुनिक हिन्दी कविता की जायावाद प्रवृत्ति के चार प्रमुख स्तम्भों में उन्हें एक माना जाता है। यों यह आधुनिक हिन्दी कविता प्रवर्तक कवियों में भी है। आधुनिक हिन्दी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों प्रमत्तिवाद और प्रयोगवाद के बीच इनकी रस कविता में विद्यमान है जो सन् १९२५ और

१९३० के बीच लिखी गयी थी। 'निराशा' की कविता से हिन्दी की इन नयी कविता धाराओं ने मार्ग ग्रहण किये। 'निराशा' को साधुनिक हिन्दी कवियों में भाषा भाव स्पष्ट अभिव्यक्तता और प्रतीकों में सर्वाप्रथम प्रयोग करने का श्रेय है। साथ ही जब यह भी स्वीकार किया जाता है कि निराशा के प्रयोग कुछ छन्दों के क्षेत्र में 'नयी पीढ़ी' का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखते हैं। इस मायमता का साधार 'निराशा' का मुक्त छन्द का बहुत सफल कवि होना है। उनकी कविताओं में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो छन्द की नवीनता की दृष्टि से विविष्ट हैं। निराशा की तथा कवित्त छायावादी अथवा रहस्यवादी कविताएँ कोमल और मधुर भावनाओं की प्रकानता मिले होने के साथ ही साथ आध्यात्म के प्रभाव से भी रहित नहीं हैं। 'निराशा' की आस्था भावना उनकी 'परिमल' 'अनामिका' तथा 'पुससीवास' आदि कृतियों में मिलती है। यों नये प्रयोगों की दृष्टि से उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृष्टि 'अधना' है जिसके मीन नाव, अक्षर और ध्वनि के क्षेत्रों में प्रयोग की दृष्टि से पर्याप्त सफल है। परन्तु भी उनकी इस रचना का विविष्ट गुण है। 'अधना' निराशा के काव्य में एक नयी नई का सृजन करती है। इसके बहुत से मीन नाव गीतों का अन्तमत्त भी रहे या सकते हैं। परन्तु इसमें कुछ मीन ऐसे भी हैं जो कवि के निराशावादी दृष्टि कोष के परिचायक हैं।

'निराशा' के काव्य विकास के उत्तर काल में यथार्थवादिता का उन पर विशेष प्रभाव प्रतीत होता है। इस दृष्टिकोण से उनकी 'कुङ्कुमुत्ता' धीरे-धीरे रचना विधायक का मे उल्लेखनीय है जिसका प्रकाशन सन् १९४२ में हुआ था। 'निराशा' की इस काल की रचनाओं में यथार्थ का मूल रूप सामने आता है। उनकी ये रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वह छायावादी गुण की विरोध भावना ही थीं। जो पुरानी परम्पराओं की धीमाएँ तोड़कर नये रूपों को ग्रहण करना चाहती थी। लेकिन 'निराशा' की ये रचनाएँ यथार्थ पर व्यंग्य के रूप में लिखी गयी थीं उनसे समझीता न कर सकी थी। इस काल में लिखी गयी 'निराशा' की रचनाएँ मानवतावाद के भी कुछ लक्ष्य सिधे हुए हैं। उनकी अनेक कविताओं में मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। परन्तु 'निराशा' के शरवर्ती कवि उनकी कविता के जिस गुण से विशेष रूप से

प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त 'निरामा' में 'निरामा' में एक समीक्षारमक आगच्छता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिभा' तथा 'बाबु' आदि कृतिमें में उन्होंने अपने सैदागिक तथा व्यावहारिक आलोचनात्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

### काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिभा दीर्घक निवन्ध संग्रह में "निरामा" में इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण सम्बन्ध अनुपास एवं असंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बन्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है पूरे वर्णों की सत्रह साल की सुन्दरी की आँसों की पहचान की तरह वेह की क्षीणता पीनता में तरंग ही उठरती चढ़ती हुई, मिम मिम वर्णों की बनी बापी में कुस कर क्रमशः मय मधुरतर होकर मीन होती हुई जैसे केवस बीज से पुष्प की पूरी कसा विकसित नहीं होती न अक्षर से न शब्द से न पौधे से, नद से लेकर, तथा शब्द पत्तन और फूल के रूप रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कसा के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कसा के लिए काव्य के सभी सहाज और जिध तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के हरम समस्त भाग को ढके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रखती है पेड़ की काष्ठ निष्ठुरता विकसित हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य कला आवस्यक अक्षोभन वग सम्प्रदाय को अपनी मनोबला के भीतर आसे रहती है। तने शब्द, पद और फूल के रंगों के भेद और उनके चढान उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन धारा है इसकी श्रुति कला के एक अद्य की श्रुति होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्भूम रूप से समस्त में आ जाता है। एक केन्द्र से खींची हुई अक्षय रेखाओं की तरह काव्य विषय की अक्षय कसाएँ हैं। श्रुति स्वयं कला की अक्षयता का प्रमाण है।' इसी प्रकार से काव्य को जनता को प्रभावित करनेवासी एक शक्ति के रूप में उन्होंने मायता भी है। उनके विचार से 'कविता के हृदय निर्मल कविता कपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी मति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में बैठ या बैठ जाती है प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता

प्रायः वही सम्पत्ति सब भागती है जो कवि से प्राप्त होती है।<sup>१</sup> निराला ने काव्य में उपदेशात्मकता का विरोध करते हुए उपदेश को कवि की कमजोरी बताया है।<sup>२</sup>

काव्य और छन्द —

ऊपर कहा जा चुका है कि निराला को सर्वप्रथम भाषुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में छन्दों के नये प्रयोग करने का ध्येय है। उन्होंने मुक्त छन्द के विषय में विचार करते हुए लिखा है हिन्दी काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मानूँ दिये एक बर्ष बृत्त में। 'बुढ़ी की कमी' की बर्ष बृत्त वाली जमीन है। इसमें अन्वयानुप्रास नहीं। यह गार्ह नहीं जाती। इससे पङ्क्त की बसा ब्यक्त होती है। 'परिमल' के छंदरे खंड में इस छन्द की रचनाएं हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्राबद्ध वाली रचनाएं हैं परिमल के दूसरे खंड में हैं। इनमें लड़ियाँ आसमान हैं, पर अन्वयानुप्रास है। भाषा रसात्मक होने के कारण ये गार्ह जा सकती हैं। पर संयोज अंग्रेजी ढंग का है। इस पीठ को मैं 'मुक्त गीत' कहना हूँ।<sup>३</sup> काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की आवश्यकता के विषय में उनका विचार है कि भाषों की मुक्ति छन्द को भी मुक्ति चाहती है। यही भाषा भाव और छन्द तीनों स्वतन्त्र हैं। इसका फल भीषण में क्या होगा है हिन्दी में समझदार होठ धो जब तक व्यापक रूप से मानूँ कर चुके होते। से पैकर को चार जानकार हैं। प्रमाण में इतने से चुका हूँ इतम बार पङ्क्त चुका हूँ कि और आवश्यकता जनकी साहित्यिकता पर ही टंका होगी। मैंने पङ्क्त और गान दोनों के मुक्त रूप निमित्त किये हैं। पहला बर्ष बृत्त में है बृत्त मात्राबद्ध में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द जा नहीं सकता।<sup>४</sup> यही नहीं निराला भी ने काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की स्वाभाविकता भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है 'अब मैं अपने काव्य के वर्णाकार लिखता हूँ। मैं हिन्दी के भीषण के सम्बन्ध में बर्षों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि कित्त बर्षों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप सीख्य पर ध्यान

१ 'भापुरी', अथस्त १९२१, पृ० ४९।

२ 'अबन्ध प्रतिमा', श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २५४।

३ 'अबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २९।

४ वही, पृ० २७०।

प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिभा के अनिश्चित 'निराला' में 'निराला' में एक समीक्षात्मक जागरूकता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिभा' तथा 'बाबु' आदि कृतियों में उन्होंने अपने सदाभित्तक तथा व्यावहारिक मासोबनात्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

### काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिभा शीर्षक निबन्ध संग्रह में 'निराला' में इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण शब्द श्रव्य, अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध जीवन की पूर्ण सीमा है पूरे जंगल की सभल सास की सुन्दरी की आँसों की पहचान की तरह वह की क्षीणता पीनता में तरंग धी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न भिन्न वर्णों की बनी बांधी में झुल कर क्रमशः मन्त्र मन्त्रतर होकर लीन जाती हुई जैसे केवल बीज है पुष्प की पूरी कला विनियमित नहीं होती, न अंकुर से न बाल से न पौधे से जड़ से लेकर, तथा डाल पत्तन और फूल के रंग रेणु मन्त्र तक फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है बैठ ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण, और बिना तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त माग को ढके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रक्षती है पेड़ की नाट्य निष्कृष्टता दिखती हुई भी छिपी रहती है उसी तरह काव्य कला आवश्यक असोमन बंध सम्प्रदाय को अपनी मनोमता के भीतर बाँधे रहती है। उसे डाल पत्त और फूल के रंगों के तैर और उनके चढ़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन धारा है इसकी वृत्ति कला के एक अर्थ की वृत्ति होगी। इस प्रकार कला का मर्म स्वयं रूप से समझ में आ जाता है। एक कैम्ब से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य विषय की असंख्य कलाएं हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है।' इसी प्रकार स काव्य को जनता को प्रभावित करनेवाली एक शक्ति के रूप में उन्होंने मायता दी है। उनके विचार से कवियों के हृदय निर्गत कविता कपी जगत् में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर कीच लेता है। कवि की सुसार्ई हुई बात जनता के चित्त में बैठ जा बैठ जाती है प्रतिकूल विचारों का बस घटा देती है। जनता

प्रायः वही सम्मति सब मानती है जो कवि से प्राप्त होती है ।<sup>१</sup> निराला ने काव्य में उपदेयात्मकता का विरोध करते हुए उपदेश को कवि की बमबोरी बताया है ।<sup>२</sup>

काव्य और छन्द —

ऊपर कहा जा चुका है कि निराला को सर्वप्रथम आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में छन्दों के नये प्रयोग करने का ध्येय है। उन्होंने मुक्त छन्द के विषय में विचार करते हुए लिखा है कि हिन्दी काव्य की मूर्ति के मुझे दो अणु मान लूँ तो एक बर्ण वृत्त में। 'बुढ़ी की कसी' की बर्ण वृत्त वाली बमोरी है। इसमें अन्तयानुप्रास नहीं। यह गार्ह नहीं आती। इससे पढ़ने की कसा ब्याक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खंड में इस तरह की रचनाएँ हैं। इनके छन्द को मैं मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएँ हैं परिमल के दूसरे खंड में हैं। इनमें सड़ियाँ आसमान हैं पर अन्तयानुप्रास है। भाषा समाजिक होने के कारण ये माई जा सकती हैं। पर संगीत अप्रती डग का है। इस गीत को मैं 'मुक्त गीत' कहता हूँ।<sup>३</sup> काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की आवश्यकता के विषय में उनका विचार है कि — भाषों की मूर्ति छन्द को भी मूर्ति चाहती है। यही भाषा भाव और छन्द तीनों स्वतंत्र हैं। इसका फल जीवन में क्या होगा है हिन्दी में समझदार होते तो अब तक व्यापक रूप से मान्य कर चुकें होत। न देखें दो बार जानकार हैं। प्रमाण में इतने से चुका हूँ। इतने बार पढ़ चुका हूँ कि और आवश्यकता उनकी साहित्यिकता पर ही संका होगी। मैं पढ़ने और पान दोनों के मुक्त रूप निमित्त लिखे हैं। पहला बर्ण वृत्त में है, दूसरा मात्रावृत्त में। इनसे हटकर मुक्त रूप में छन्द जा नहीं सकता।<sup>४</sup> यही नहीं निराला भी ने काव्य में मुक्त छन्द के प्रयोग की स्वाभाविकता भी स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है 'अब मैं अपने काव्य के वर्णानुसार लिखता हूँ। मैं हिन्दी के जीवन के सम्बन्ध में बर्णों के भीतर से विचार कर चुका हूँ कि किन वर्णों का सामीप्य है। मुक्त छन्द की रचना में मैंने भाव के साथ रूप सौन्दर्य पर ध्यान

१ 'आधुनी', अगस्त १९२३, पृ० ४९।

२ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २८४।

३ 'प्रबन्ध प्रतिमा' श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० २९९।

४ वही पृ० २७०।



प्रभावित हुए, वह भी माध्यम के नये प्रयोग। काव्य प्रतिभा के अतिरिक्त 'निराला' में 'निराला' में एक समीक्षात्मक जागरूकता और प्रौढ़ता भी है। 'प्रबन्ध प्रतिभा' तथा 'आमुक' आदि कृतियों में उन्होंने अपने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आलोचनात्मक विचारों प्रस्तुत किया है।

### काव्य और कला —

अपने प्रबन्ध प्रतिभा कीर्तिक निबन्ध संग्रह में 'निराला' में इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है 'कला केवल वर्ण चम्पु छन्द, अनुप्रास रस अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है। पूरे अर्थों की सजह साल की सुन्दरी की आँखों की पहचान की तरह बेह की क्षीणता पीनता में तरंग ही उतरती चढ़ती हुई, मिश्र मिलन बर्णों की बनी बाणी म सुल कर क्रमशः मध्य मञ्जुस्तर होकर नीम हाठी हुई जैसे बबल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती म अङ्कुर से म डाल से, म पीपे से अङ्क से लेकर, तथा डाल पत्तल और फूल के रंग रेणु गन्ध तक फूल की पूरी कला के लिए बहरी है जैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी सजल और जिस तरह फूलों की सुगन्ध पेड़ के सूख समस्त भाग का हके हुए अपने सौन्दर्य तत्व के भीतर रचती है पेड़ की काष्ठ निष्कृ-रता दिखाती हुई भी छिपी रहती है। उसी तरह काव्य कला आवश्यक असोमन बल सम्प्रदाय को अपनी मनोबता के भीतर आसे रहती है। उनके डाम पत्ते और फूल ने रंगों के मेघ और उनके अड़ाव उतार की तरह काव्य की भी प्रभावित धारा है, इसकी मृटि कला के एक अंश की मृटि होती। इस प्रकार कला का मर्म स्तुस रूप से समझ में आ जाता है। एक नेत्र से खींची हुई असंख्य रेखाओं की तरह काव्य विषय की असंख्य कलाएँ हैं। सृष्टि स्वयं कला की असंख्यता का प्रमाण है।' इसी प्रकार से काव्य को जनता को प्रभावित करनेवाली एक शक्ति के रूप में उन्होंने मांगता भी है। उनके विचार से 'कविता के हृदय निर्बल नभिता कपी उद्गार में इतनी शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी कति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में पैठ या बीठ जाती है। प्रतिकूल विचारों का बस भटा देती है। जनता

का स्पन्दन करने के लिए उसमें प्रार्थों की मधुर उभंगता तथा बीभत्त के करुण संवादे के लिए भाव्य का स्पष्ट तथा सौम्य का परिधान अनिवार्य है ।<sup>१</sup>

भाषा : —

भाषुनिक युव के बनेक साहित्य चिन्तकों की भांति पन्त जी ने भी काव्य की भाषा के स्वरूप पर विविध दृष्टियों से विचार किया है । उन्होने ब्रजभाषा काव्य की उपलब्धियों की तुलना में खड़ी बोली को हीन स्थिति में बताया है । परन्तु उनका विविध विचार है कि जिस गति से उसकी उन्नति हो रही है वह असम्योपग्रह नहीं है । गद्य तीन सप्तशतियों में इसके स्वरूप का जो बहु क्षेत्रीय विकास है और उसकी विविधरूपी सम्भावनाएँ सामने आयी हैं, वे भी आश्चर्यजनक हैं । उन्होने लिखा है "खड़ी बोली भाषे की स्वर्वासा है, उसकी बात कला में घापी की लोकोग्रबल पूर्विमा क्षिपी है । वह हमारे अविभाकास की स्वर्ग्या है जिसके अन्धष्ट व्योमिपुत्र में, न जाने कितने जागृह्यमाण सूर्य राशि अर्धस्व वह उपग्रह अमन्द लज्ज तथा अनिम्य लाभ्य लोक अन्तहित है । वह समस्त भारत का हृत्कम्प्य है देश की धिरोमभिरात्रों में नय बीज संसारिणी संजीवनी है वह हमारे अनीरव प्रयत्नों से अहित भारत के भाव्य विधाता की बरदान स्वरूप विश्व कवि के हृत्कम्प्य से निःसृत समुत् स्वरो की आत्मवी है, जिसने गुप्त देश के कर्षकुहरो में प्रवेश कर उस जया दिया जिसकी विधात पाप में हमारे राष्ट्र का विश्व स्वर्ग्यान आर्म प्राति के वीरव का अन्धेदी मस्तूल डंडा किं धर्म और ज्ञान की निर्मल मालों को फहराता हुआ जपगी सूर्योन्म्वल आभातिम कला अग्निमोन्म्वल कला तथा नीति ज्ञापन की विपुल रत्नरविमो से उचित बाबा अन्तों की तरंगों को काटता दिव्यविहंगम की तरहू शिप्रवेश से उडता हुआ पछार के विधात टायर संभव की ओर अग्रसर हो रहा है ।" इव प्रकार उसकी सम्भावनाओं के प्रति आश्चर्यता प्रकट करते हुए पन्त जी ने भाषा को नावात्मक चित्र और अद्विचय स्वरूप मानते हुए उसकी अतिवर्तनधीनता भी स्वीकार की है ।

प्राभाषा —

पन्त जी ने प्राभाषा के स्वरूप पर विचार करते हुए उसके असामयिक अन्त

१ "सिन्ध और श्योन" श्री बुनित्राजबल पन्त पृ० २४० ।

२ " " " श्री २० ।

रखा है बसिक कहना चाहिए ऐसा स्वभावतः हुआ नहीं तो मुस्त छत्र न मिला या सकता नहीं कृत्रिमता नहीं बस सकती।”

सुमित्रानन्दन पन्त —

छायावादी समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत पन्तजी का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी ‘बीचा’ ‘पस्तक’ ‘ब्रह्मि’ ‘गु इन’ ‘युवायु’ ‘युवाची’, ‘ग्राम्या’ ‘स्वर्ग’ ‘स्वर्ग’ ‘स्वर्गमूर्ति’ ‘मधुज्वाल’ ‘उत्पद्य’ ‘युगपद्य’ ‘पस्तबिनी’ ‘आधुनिक कवि पन्त तथा कविता’ आदि काव्य कृतियों में से अनेक में भूमिका आदि के रूप में अपनी वैचारिक माध्यताओं का स्पष्टीकरण किया है। पन्त के काव्य विकास के साथ ही साज उनकी चिन्तन धारा में भी प्रयति होती रही है तथा उनकी जीवन दृष्टि युग वर्धन के अनुसार परिवर्तित होती रही है।

काव्य —

पन्त ने अपने काव्य “रश्मिबन्ध” की भूमिका में लिखा है कि एक कवि या लेखक अपने युग से तो प्रभावित होता ही है, साथ ही वह अपने युग को भी प्रभावित करता है। उनके विचार से काव्य या साहित्य मानव चेतना का माहक होता है। उन्होंने एक स्थल पर कहा है “मैं चाहता हूँ कि स्वामीन भारत की कलाकृतियाँ लोकोपयोगी सांस्कृतिक तत्वों से ओतप्रोत रहें और मधुसूक्त कलाकार अपनी कलाओं के माध्यम द्वारा समाज में नवीन मानव चेतना के आलोक को वितरण कर एवं लोक जीवन को बाहर भीतर से संस्कृत सुकृषिपूर्ण तथा सत्यप्र कथाने में सहायक हों।” इसी प्रकार से काव्य के स्वरूप के विषय में उनका विचार है कि “वह हम काव्य जबवा कसा की संक्षिप्त परिभाषा बताना चाहे तो इतना कहना पर्याप्त होगा कि काव्य सत्यं चिन्तं सुन्दरम् की अभिव्यक्ति है। काव्य का सत्य सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। दूसरे शब्दों में कविता की भावना सौन्दर्य के पंखों में उड़कर ही सत्य के बसीम धीर छूती है। सौन्दर्य विहीन सत्य कुछ बर्धन हो सकता है तथा धामन्हीन चिन्तं नैतिक साधना बनवा आचार यात्र हो सकता है, पर काव्य नहीं। सत्य के अस्तिपंजर में हृदय

१ ‘ब्रह्मि प्रतिज्ञा’ पृ० २७३।

२ “रश्मिबन्ध” श्री सुमित्रानन्दन पन्त भूमिका, पृ० ८।

३ ‘उत्पद्य’ श्री सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २०४।

जाबुनिक हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[ ८२९ ]

कूलता उत्पन्न करता है।<sup>१</sup> जाबुनिक युग में साहित्यकार के भावित्वों के सम्बन्ध में भी अनेक दृष्टियों से मठ प्रकट किये गये हैं। राज्यालय तथा आजीविका के हेतु साहित्य सृजन आदि पर भी गम्भीर विचार विनिमय हुआ है। परन्तु महादेवी ने इस प्रकार के दृष्टिकोण से साहित्य या काव्य की सृजन वृत्ति को त्याग्य घोषित किया है। उनका विचार है कि "यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकृत कोई एक व्यापार मान लिया जाने तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए मुक्ति सिद्धि मिल सकता है और न उक्त कर्म से उसके कबिचित्तम तयाग को उचित कहा जा सकता है।

जाबुनिक युग के अनेक आसोबकों ने महादेवी की कविता पर बुरह बौद्धिकता के समावेश का शोध समायो है। इस सम्बन्ध में महादेवी ने लिखा है "काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसके दर्शन में बौद्धिक तर्क प्रभावी है और न सूक्ष्म विम्वु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार प्रवृत्ति। यह तो जीवन को चतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। नत कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का हृदय नाम है। इसी प्रकार से युग जीवन के साथ परिचरित होते हुए यथार्थ के रूपों को परम्परायुत दृष्टि से समन्वय का अनुमोदन करते हुए महादेवी ने लिखा है कि "यदि हम पहले मिली सीम्यर्ष्य दृष्टि और आश की यथार्थ दृष्टि का समन्वय कर सकें पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की धुन्कना को शिवाय बना सकें। और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण प्रतिष्ठा कर सकें। तो जीवन का सार्यवत्स्यपूर्ण चित्र व सकेंगे।"<sup>२</sup>

छायावाद -

श्रीमती महादेवी वर्मा जाबुनिक हिन्दी कविता में छायावादी आन्दोलन के अन्त में अन्यतम कवियित्री के रूप में विख्यात हैं। जाबुनिक युग के अनेक विचारकों की भाँति उन्होंने भी छायावादी आन्दोलन को प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने अपने जाबुनिक कवि भाग्य १" संग्रह में लिखा है "छायावाद स्पृम की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। नत स्पृम को उसी रूप में स्वीकार करना उसके सिद्ध सम्भव न हो सका, परन्तु उसकी सीम्यर्ष्य दृष्टि स्पृम के आचार पर नहीं है, यह कहना स्पृम की परिभाषा को संकीर्ण कर देता है।"<sup>२</sup> छायावादी कविता के दृष्टिकोण को

१ 'आपका' श्रीमती महादेवी वर्मा पु० ११९।  
२ वही पु० ११५।

के कारणों पर विचार किया है। उतकी धारणा है कि 'छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्य बोध को जगसा आकांक्षाओं का बीज बो समस्य तथा समस्य प्रदान किया था वह पूत्रीवाद युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव चेतना उस युग की बसती हुई कठोर वास्तविकता क निकट सम्पर्क में नहीं आ सकी थी।' उनके विचार में छायावाद के अस्त का एक कारण यह भी था कि "उसके साथ भविष्य के लिए उपयोगी नवीन भाषणों का प्रकाशन नवीन भाषणा का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था।" साथ ही उनका विचार है कि छायावादी कविता में आध्यात्मिक चेतना की अनुसूति का भी अभाव था। इसमें शैथिल्य का प्रभाव और समावेश ही अधिक रहा। यदि वह युग जीवन की कठोर वास्तविकताओं से विमुख न होता तो शीर्षकीनी हो सकता था। फल ही के इन विचारों को देखने पर यह प्रतीत होता है कि उनमें छायावाद के पर्याय स्वरूप के उद्घाटन का प्रयत्न किया गया है। छायावाद के पोषक की इच्छा से अन्य साहित्यकारों ने जो संकुचित वैचारिकता का परिचय इस प्रकार के कृतियों में दिया फल ही की धारणा में उसका अभाव है और इसलिए वह उसके वास्तविक महत्व की चीठन करने में असमर्थ है।

महादेवी वर्मा :—

छायावाद के चार प्रमुख स्तम्भों में श्रीमती महादेवी वर्मा की गणना भी उनकी वैचारिक उपलब्धियों के महत्व के कारण की जाती है। महादेवी जी ने "आधुनिक कविता ग १" 'आनवा' 'शब्द के माधी' "जीठ के चतुर्धर" "स्मृति की रेखाएँ", "दीपसिखा" तथा "मामा" आदि कृतियों में जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे युग जीवन तथा साहित्य आदि के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। यहाँ पर उनके कुछ विचारों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण उल्लिखित किया जा रहा है।

काव्य —

महादेवी ने साहित्य अथवा काव्य का उद्देश्य "समाज के अनुसासन के बाहर स्वयंस्व मानव स्वभाव में लसकी मुक्ति को असुख रखते हुए, समाज के लिए अनु

१ "मद्यपद" श्री सुमित्राधरन पन्त पृ० ४४ ४१ ।

२ "रश्मिबाग", मुद्रिका पृ० ११ ।



स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि छयाबाब का कवि न प्रकृति के किसी रूप को लक्ष्य या निरपेक्ष मानता है न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही बिराट रूप समष्टि में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्पन्दन पाते हैं। जीवन के रूप दर्शन के लिए प्रकृति अपना अक्षय सौन्दर्य कोप जोस देती है और प्रकृति के प्राण परिचय के लिए जीवन अपना रंगमय भावाकाश वै डालता है।<sup>१</sup>

महादेवी के काव्य में आध्यात्मिक तत्व भी अधिकता से मिलता है। उनसे अन्तर्गत की भावनाओं के सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत प्रतीत होते हैं। इस विषय में उनका विचार है कि "कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित है या नहीं इसका निर्णय व्यक्तित्व के चेतना ही कर सकेगी। जो कृत्रिम स्तूल अस्त, प्रत्यक्ष और यथार्थ नहीं है यदि केवल यही आध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य हीन शक्ति, प्रेम भावि की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फँसा हुआ अनेक अस्पष्ट तत्व सम्बन्धी बारम्बारों में अंकुरित, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न चुरी की परीक्ष रूप भावना में क्षिपा हुआ और अपनी ऊर्ध्ववामी वृत्तियों से निर्मित विस्मय बन्धुता मानव चार्म धारि के ऊँचे धारकों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत धार्मिक कड़ियों को हम आध्यात्म की संज्ञा देते हैं तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व नहीं रहता। इस रूप में आध्यात्म का बलात् लोकसंप्रही रूप देने का या उसकी ऐकान्तिक अनुभूति मस्वीकार करने का कोई साधन नहीं है। अन्वय ही वह अपने ऐकान्तिक रूप में भी सफल है परन्तु इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति सौक्यिक रूपों से ही तो सम्भव हो सकेगी।"<sup>२</sup> इसी प्रकार से छयाबाब के अन्त के विषय में कारण निर्बंध करते हुए भीमती वर्मा ने लिखा है कि "छयाबाब ने कोई कड़िगत आध्यात्म या वर्णवत सिद्धांतों का संक्षम न देकर हमें केवल समष्टियत्न चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।"<sup>३</sup>

साहित्यप्रिय द्विवेदी :—

श्री साहित्यप्रिय द्विवेदी की समीक्षा सीमा ३ अन्य छयाबाबी विचारकों की

१ 'श्रीपरीक्षा', भीमती महदेवी वर्मा पृ० १७।

२ "साहित्यिक कवि" भीमती महदेवी वर्मा भाग १, पृ० १७ १८।

३ वही पृ० १२।

शक्ति मानवनामकता की अधिकता बिसासी देती है। उनका समीक्षारमक चिन्तन प्रायः समकामीय काव्य प्रवृत्तियों से ही अधिक सम्बद्ध है। हिन्दी की ही समीक्षारमक कृतियों में "कवि और कार्य" "गुरु और साहित्य" "साहित्यिकी" "ज्योतिषिह्व" तथा "हमारे साहित्य निर्माता" आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी की का स्वान छायावादी युगीन कवियों में भी उल्लेखनीय है। सबसे पहले एक कवि के रूप में ही उन्होंने काव्य रचना आरम्भ की थी। यही कारण है कि उनकी कृतियों में समीक्षात्मक चिन्तन के साथ कवि सुलभ भावनाओं का भी अभाव नहीं है। श्री धान्ति मिश्र हिन्दी के विचार से "कविता हमारी मानवताओं का सबसे मजबूत रूप है। संसार के कौलाहल से दूर, हृदय के एकान्त में, जब हम अपने आपको अधिक पहचानने लगते हैं, उस समय हम अधिक सरस हो उठते हैं और तब कुछ ऐसे मानवमय उच्चार हमारे अन्तर्मन से स्वयंसेव निकल पड़ते हैं जिनकी स्वरसहृदी में संसार का सम्पूर्ण वैषम्य बहू-बाठा है एवं हमारे तन मन, प्राण एक अक्षम मार से मुक्ति पाकर हल्के हो जाते हैं हममें नई स्फूर्ति, नई ज्योति आ जाती है।

वयाप्रसाद पांडेय -

श्री वयाप्रसाद पांडेय का नाम भी छायावादी वैचारिक परम्परा के अन्तर्गत ही उल्लेखनीय है। उन्होंने छायावादी काव्य प्रवृत्ति के विषय में लिखा है विरह की किसी वस्तु में एक अज्ञात सपना छाया की झंझी पाता अथवा उसका आरोप करना ही छायावाद है। छायावादी कवि प्रकृति के बुझापी की भाँति विरह के रूप में अपने सर्वभ्यापक प्राणों की छाया बैलता है। यगुप्य को वास्तव सौम्य से हटाकर उसे प्रकृति के साथ अधिकृत सम्बन्ध स्थापित कराने का कार्य इसी काव्य वारा में किया है।<sup>१</sup>

इससे स्पष्ट है कि पांडेय की के मध्य के अनुष्ठार छायावाद एक प्रतिस्पर्धात्मक क्रमव्यवस्था है। उन्होंने छायावादी काव्य चिन्तकों की भाँति सबकी सामान्य विशेषताओं को स्वीकार किया है। उनकी व्यावहारिक समीक्षा में दृष्टिकोण की व्यापकता की विशेषता विकसित है। इसीलिए कहीं-कहीं तुलनात्मक दृष्टि से भी उन्होंने साहित्यकारों का महत्व साँका है। उदाहरण के लिए "प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में पाँची का दर्शन



स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया है कि छायावाद का कवि न प्रकृति सद्म या निरपेक्ष मानता है, न अपने जीवन को, क्योंकि वे दोनों ही में स्थिति रखते हैं और एक व्यापक जीवन से स्वयं पाते हैं।<sup>१</sup> के लिए प्रकृति अपना जलय सौन्दर्य कोष खोल देती है और प्रती के लिए जीवन अपना रममय माबाकाष्ठ बे दासता है।<sup>२</sup>

महादेवी के काव्य में आध्यात्मिक तत्व भी अधिकता अन्तर्भवत की भावनाओं के सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत प्रतीत हो उनका विचार है कि 'कविता के लिए आध्यात्मिक पृष्ठभूमि उचित निर्जय व्यक्तिगत चेतना ही कर सकती। जो कुछ स्वून व्यक्त, प्र है यदि केवल यही अध्यात्म से अभिप्रेत है तो हमें वह सौन्दर्य व की सभी सूक्ष्म भावनाओं में फैला हुआ अनेक अव्यक्त तत्व संकृष्ट, इन्द्रियानुभूत प्रत्यक्ष की अपूर्णता से उत्पन्न नहीं की सिद्धा हुआ और अपनी ऊर्ध्वगामी वृत्तियों से निर्मित विपन्न व के ऊँचे भावनों में अनुप्राणित मिलेगा। यदि परम्परागत अध्यात्म की संज्ञा वेते है तो उस रूप में काव्य में उसका महत्व में अध्यात्म का बसाए लोकसङ्गही रूप देने का या उसकी ऐका करने का कोई साधन नहीं है। अचर्य ही वह अपने ऐका परन्तु इस अक्षय रूप की अभिव्यक्ति सौक्यिक रूपों में ही इसी प्रकार से छायावाद के अन्त के विषय में कारण निर्देय जितता है कि 'छायावाद ने कोई कृत्रिम अध्यात्म या वा बेकर हमें केवल समझिगत चेतना और सुखमगत सौन्दर्य विद्या या इसी से उभे यथार्थ रूप में प्रह्वन करना हमारे विद्यामितिप्रिय द्विवेदी :-

भी चाम्तिप्रिय द्विवेदी की समीक्षा चीनी में म

- १ 'दीपशिखा', श्रीमती महादेवी वर्मा पृ० १७।
- २ "साधुनिक कवि" श्रीमती महादेवी वर्मा भा
- ३ वही पृ० २२।

संविधानसँवर्धक आन्दोलनों के विषय में कहा जाता है प्रयतिवादी विचारवाच को भी ऐक्यविला के दोष से मुक्त कहा गया । इसका कारण यह है कि प्रयतिवादी विचारवाच का निर्धारण मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार हुआ है, जो मूलतः समाज के वर्म संघर्ष के आर्थिक कारणों के विविध पक्षों से सम्बन्धित है । मानसवादी जीवन दर्शन या इन्द्रात्मक मीतिवादी सिद्धांतों की साहित्यिक परिपक्वता को भी प्रयतिवाद कहा जाता है । मार्क्सवाद मूलतः राजनीतिक वाद है, परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह वाद अपने साहित्यिक रूप में भी तीव्रता से विकसित हुआ ।

प्रारम्भ -

ऊपर कहा गया है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रयतिवाद का स्वल्प निर्धारण उसके राजनीतिक दर्शन के आधार पर हुआ । एक साहित्यिक वाद के रूप में इसका आरम्भ वर्ष १९३० के लगभग से माना जाता है । यह समय आयावाच का परवर्ती काल कहा जा सकता है । यह प्रभाव मूलतः पाश्चात्य मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्राप्त किया गया । आयावादी विचारवाच को प्रयतिवादी विचारकों ने पलायनवादी कह कर उसका विरोध किया । आरम्भ में इस वाद को भी अन्य सभी नवीन धारों की भाँति पर्याप्त समर्थन हुआ परन्तु बाद में यह भी जतना अधिक प्रवर्धित न रहा, क्योंकि इसे व्याक्तिवादी विचारधारा का विरोध सहन करना पड़ा । परन्तु यह विचारवाच आयावाच की भाँति केवल काव्य चिंतन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही बल्कि यह साहित्य के सभी अंगों तक इसका प्रसार हुआ । वहीं एक ओर इसे अनेक कवियों का समर्थन मिला वहीं दूसरी ओर पत्रकारों का भी । यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत गिने जाये जाये प्रमुख समीक्षकों के विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

राहुल सांकृत्यायन -

राहुल सांकृत्यायन ने विविध विषयों पर हिन्दी में तो से अधिक पुस्तकें लिखी हैं । इनमें से "हिन्दी काव्य धारा", "व्यक्तिवादी काव्य धारा" और "साहित्य मिथ्यावादी" के अतिरिक्त अन्य बहुत सी कृतियों में उनकी समीक्षात्मक भूमिकाएँ भावि उपलब्ध हैं जो उनके समीक्षात्मक विचारों का परिचय देने समर्थ हैं । प्रयतिवादी समीक्षाको य राहुल जी का उत्कृष्टतमोत्तम रूप है । उन्होंने १९४७ में प्रयतिवाद के पक्ष में एक मासिक किया था और इसमें उनके मार्क्स स्वल्प पर प्रकाश डालते हुए कहा था "प्रयतिवाद कोई 'कस्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है । प्रयतिवाद का काम है प्रयति के र्थ रास्ते

दिया तो इसाचन्द्र ने मनोविज्ञान का। भयवतीप्रसाद बाबुपेयी ने मध्ययुग की भावुकता में आधुनिकता की पालिश बढ़ाई तो भयवतीचरण बर्मा ने उसमें जासो की चमक ला दी। गिरासा और र्धनम्बर ने भारतीय दर्शन को व्यावहारिकता की तो भनक में स्नेह की स्पष्टता। बृश्यावतलाल बर्मा का इतिहास और साहित्य का समन्वय अपने ढंग का अकेला है जैसे प्रसाद के नाटकों का। "बंगमंग" के बाप अन्त-सभिता की जगिन प्रवाहित ज्ञान्ति की भावना में भी साहित्य में अपने मस्तक्य का प्रकाशन पाया है। यद्यपि इसके अगुना हैं विन्तु कान्ति की अपेक्षा यौवन की उष्णता के वे अधिक निरुष्ट हैं।

महत्त्व और सम्भावनाएँ —

इस प्रकार से हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में छायावादी समीक्षा प्रवृत्ति के उपर्युक्त रूपों के परिचय से यह स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत प्रायः उन्हीं विचारदलों की पधमा की जाती है जो रचनात्मक क्षेत्र में क्रियाशील रहे थे। इसलिए यह समीक्षा प्रवृत्ति एक प्रकार के अभिव्यक्ति कृत स्पष्टीकरण के बक्तव्यों के रूप में भी मिलती है जिसमें साहित्य अथवा काव्य के स्वभाव पर इस विशिष्ट काव्य शैली के सम्बन्ध में विचार किया गया है। छायावाद के जो कवि प्रमुख स्तम्भों के रूप में मान्य हैं उनके अतिरिक्त भी एक बड़ी संख्या ऐसे साहित्यकारों की है जिनका इस आन्दोलन के विकास में योग है। मुख्यतः इनका विषय क्षेत्र समकालीन काव्य की अभिव्यक्ति शैली के ही विविध पक्षों तक सीमित रहा। परन्तु जिस प्रकार से आधुनिक काव्य के इतिहास में छायावादी आन्दोलन का ऐतिहासिक महत्त्व है यद्यपि उसकी सम्भावनाएँ सन्निवृत्त हैं उन्हीं प्रकार से छायावाद की वैचारिक और समीक्षारमक उपसंक्षिप्तियाँ भी असन्निवृत्त हैं।

### प्रगतिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

आधुनिक युग की विचारधाराओं में प्रगतिवादी विचारधारा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके स्वरूप-निर्देशन की हिन्दी साहित्य में अनेक विस्तृत व्याख्याएँ उपलब्ध हैं। प्रगतिवादी आन्दोलन दूरदूर विदेशी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी में आरम्भ हुआ और पद्यार्थवादी प्रवृत्ति से संयुक्त होकर इसका विकास हुआ। परन्तु वैसे कि

अधिकतर वैचारिक मान्यताओं के विषय में कहा जाता है, प्रगतिवादी विचारधारा को भी ऐकात्मिकता के बोध से युक्त कहा गया। इसका कारण यह है कि प्रगतिवादी विचारधारा का निर्धारण मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार हुआ है जो मूलतः समाज के बर्तमान चर्च के आर्थिक कारणों के विविध पक्षों से सम्बन्धित है। मार्क्सवादी जीवन दर्शन या इन्डियात्मक भीतिकवादी सिद्धांतों की साहित्यिक परिणति को भी प्रगतिवाद कहा जाता है। मार्क्सवाद मूलतः राजनीतिक बाद है परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह बाद अपने साहित्यिक रूप में भी तीव्रता से विकसित हुआ।

प्रारम्भ —

ऊपर कहा गया है कि साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद का स्वरूप निर्धारण उसके राजनीतिक दर्शन के आधार पर हुआ। एक साहित्यिक बाद के रूप में इसका आरम्भ सन् १९३० के लगभग से माना जाता है। यह समय छायावाद का परवर्ती कास कहा जा सकता है। यह प्रभाव मूलतः पाश्चात्य मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्राप्त किया गया। छायावादी विचारधारा को प्रगतिवादी विचारकों ने पन्नायनवादी कह कर उसका विरोध किया। आरम्भ में इस बाद को भी अन्ध समीक्षाओं की भाँति पर्याप्त समर्थन हुआ परन्तु बाद में यह भी अपना अन्ध प्रवृत्ति में चला गया कि इस व्यक्तिवादी विचारधारा का विरोध सहन करना पड़ा। परन्तु यह विचारधारा छायावाद की भाँति किञ्चन काव्य चिंतन के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही बल्कि यह साहित्य के सभी अंगों तक इसका प्रसार हुआ। यहाँ एक ओर इसे अनेक कवियों का समर्थन मिला वहीं दूसरी ओर गद्यकारों का भी। यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत गिने जाने वाले प्रमुख समीक्षकों के विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

राहुल सांकृत्यायन —

राहुल सांकृत्यायन ने विविध विषयों पर हिन्दी में छोटे-छोटे अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें से 'हिन्दी काव्य धारा', 'दक्षिणी काव्य धारा' और 'साहित्य निवृत्तवादी' के अतिरिक्त अन्य बहुत सी दृष्टियों में उनकी समीक्षात्मक सूचियाँ आदि उपलब्ध हैं जो उनके समीक्षात्मक विचारों का परिचय देना समर्थ हैं। प्रगतिवादी समीक्षा को वे राहुल जी का उत्प्रेक्षणीय स्थान है। उन्होंने १९४७ में प्रगतिवाद के पक्ष में एक भाषण किया था और उसमें उसके पक्ष में स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा था "प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के क्षेत्र का स्त

को जोसना उसके पक्ष को प्रशस्त करना । प्रगतिवाद कलाकार की स्वतन्त्रता का नहीं परतन्त्रता का सन्तु है । प्रगति जिसके रोम रोम में जीव गई है प्रगति ही जिसकी प्रवृत्ति बन गई है वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है प्रगतिवाद कला की बंधनता नहीं कर सकता । वह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में बाधक रुढ़ियों को हटा कर सुविधा प्रदान करता है । वह रुढ़िवाद और कृपमजूकता दोनों का विरोधी है । हमारे लिये देश और काम दोनों के लिये विस्तृत दृष्टि रखना सबसे अधिक आवश्यक है ।

### प्रगतिवाद की एकांगिता —

अगर कहा गया है कि प्रगतिवाद पर एकांगिता का दोषारोपण किया जाता है । राहुल जी ने प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य की एकांगी प्रवृत्ति के विषय में लिखा या "साहित्यकार की बहुधा एकांगी प्रकृति होती है । समालोचक उसके सामने तस्वीर का दूसरा पहलू रसकर साहित्यकार की कमी को दूर कर सकता है । नाम का साहित्यकार अपनी रचनाओं में एक पक्ष पर प्रहार करते हुए बहुत क्षति में जमा जाता है और उसे उसका कोई युव नहीं दिखाई देते दूसरा साहित्यकार दूसरे पक्ष की ओर जाता है । इस तरह दोनों ही वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं । समालोचक ही उनके इस अविचार को बिलसाते हुए वास्तविकता के पास ला सकता है ।"

राहुल जी की विचारबाधा पर राजनीतिकता की छाप अधिक है । उनकी औप-म्यासिक दृष्टियों में भी उनके इस प्रकार के विचारों का स्पष्ट रूप से अभिव्यक्तीकरण हुआ है । उनके 'अग्नि के लिये' नामक उपन्यास का एक पात्र वैयक्तिक स्तर पर सघन अभिप्राय की निरर्थकता के विषय में कहता है—'मेरे दिल में बाल भीम से ही देश सेवा की विद्युती जमने हैं । तुम यह भी जानते हो कि देश की स्वतन्त्रता के लिए मेरा चिरा कितना उत्तेजित हो जाता है । और यदि इसके बुद्धके बम और पिस्तील जमाने पर मुझे विश्वास होता तो मैं कबका उसमें लग गया होता ।' इसी प्रकार से एक स्थान पर सामाजिक एकांगिता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है 'सभी बयों की एकांगिता को मैं अपना समझता हूँ लेकिन यह सम्भव नहीं । राजा महाराजा और

धर्मियों का स्वार्थ बह नहीं है वा कि साधारण जनता का। रेडिफ़ेड के सामने चाहे महाराज सटक जाते हों लेकिन अपनी प्रजा की इज्जत बन और प्राण के साथ वे खल खेल सकते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार से राहुल जी ने अपनी विविध विषयक कृतियों में प्रवृत्तिबारी विचारधारा का जो अभिव्यक्तीकरण किया है उसका सम्बन्ध साहित्य आदि के स्वरूप की अपेक्षा समाज और राजनीति की समस्याओं से अधिक है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त —

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रवृत्तिबारी आलोचन के समर्थक इसके आरम्भिक काम ल ही रहे हैं। उनके विचारों का परिचय उनके स्फुट निबन्धों से मिल जाता है जो 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' एक दृष्टि तथा, नया हिन्दी साहित्य' एक दृष्टि आदि कृतियों में संगृहीत हैं। साहित्य और समीक्षा के प्रवृत्तिबारी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'सभी प्रवृत्तिबारी आलोचन' एक मत हैं कि साहित्य का तत्त्व सजीव और विकासोन्मुख होना चाहिए। क्या सजीव और विकासोन्मुख है इसकी वैज्ञानिक बसीटियाँ हैं और उन पर साहित्य क्या जा सकता है। उदाहरण के लिए आज हमारे देश की भयानक आर्थिक कठिनाइयों का हल साहित्य व्यवस्था के पास नहीं है, इसका निराकरण नया जनवादी भारत ही कर सकता है। परन्तु, इस समाज व्यवस्था का समर्थक कोई लेखक वैज्ञानिक दृष्टि से प्रवृत्तिबारी नहीं कहा जा सकता। आज वही लेखक प्रवृत्तिबारी है, जो इस वर्चस्व समाज व्यवस्था पर निर्मम प्रहार करता है वैसे अव्यक्तित्व लेखक कर रहे हैं।<sup>२</sup>

इस प्रकार से गुप्त जी ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि साहित्य की रचना करने वाला व्यक्ति कभी भी समाज के स्वरूप विकास के ह्यासारिक कारकों की ओर से विमुक्त नहीं रह सकता। उनका विचार है कि यदि हमारे समाज में किसी प्रकार का वर्चस्व जयवा जनवर्ग संघर्ष है, तो उसका अभिव्यक्तीकरण साहित्य में भी होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि संघर्ष तो जीवन की अनिवार्यता है, मात्र मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। उनकी निम्नलिखित कला की व्याख्या भी इसी विचार का

१ 'जीके के लिये' श्री राहुल साहसवायन पृ० २७६।

२ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० ३६

सूचन करती है मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युक्त करता है और प्रकृति की विराट् सत्त्वियों के विरोधी मूस में अपने में नया बस अनुभव करता है। इस संघर्ष में उत्पन्न हुई अनुभूतियों को वह कला से सजाता है। इस प्रकार काव्य, संगीत चित्रकला आदि का जन्म होता है। भारत के कवि प्रबान भायों ने अपने अनुभव को वेदों की ऋचाओं में बन्धी बनाया दूर अमरीका के "रेड इन्डियन्स" ने अपने बाबेट जीवन के चित्र अपनी गुफ्तमो की दीवारों पर बनाए, किन्तु उनकी मूल प्रेरणा एक ही थी स्कूम जीवन से संघर्ष का अनुभूति रचित वर्णन।" कला और साहित्य की यह पारणा गुप्त की के इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण करती है कि जीवन के स्वरूप में परिवर्तन और विकास का मूस तत्त्व संघर्ष है और चूँकि साहित्य में मनुष्य का जीवन प्रतिबिम्बित होता है, अतः उसमें इस संघर्ष का भी चित्रण होना चाहिए।

डा० रामबिनास शर्मा —

डा० रामबिनास शर्मा का नाम प्रगतिवादी समीक्षकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने पत्रिकावादी विचारधारा को आधुनिक युग की सर्वाधिक विचारधारा की आधुनिक युग की सर्वाधिक प्रचलित "प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ" की भूमिका में प्रगतिशीलता तथा प्रगतिवादिता के विषय में लिखा है। प्रगतिवाद असय है प्रगतिशील साहित्य कोई और चीज है। इस तरह का सूक्ष्म नेत्र किया गया है। उसे छायावादी कवि की रचनाएँ छायावाद से भिन्न नहीं हैं वैसे ही प्रगतिशील लेखकों की रचनाएँ प्रगतिवाद से भिन्न नहीं हैं। हिन्दी आलोचना में प्रगतिशील और प्रगतिवाद का उसी तरह व्यवहार होता है जैसे छायावाद और छायावादी का। एक आलोचक का विचार है कि मार्क्सिय सौम्यशास्त्र का नाम प्रगतिवाद है। सकिन् बीसवीं सदी के मरठ मुनि या धरतू के ध्यान में वह सौम्य शास्त्र अभी रचा नहीं जा सका। इस तरह प्रगतिवाद एक भविष्य की बस्तु उहुरती है जो किसी भावी सौम्य शास्त्री के जन्म पर अवलंबित है। ऐसे प्रगतिवाद की चर्चा करना हमाग उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य है उस नई विचार धारा और साहित्य की चर्चा करना जिसे सौम्य प्रगतिवाद या प्रगतिशील साहित्य कहते हैं और जिसका प्रसार जगमग

पृष्ठ १० के बाव हिन्दी साहित्य और हिन्दुस्तानी समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ है।<sup>१</sup>

डा० रामबिलास शर्मा के मतानुसार साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। समाज में प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्व होते हैं उनसे कोई भी लेखक तटस्थ नहीं रहे सकता। उनका विचार है कि वास्तव में जो लोग कहते हैं कि साहित्य स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है वे अत्यन्त रूप से यह मानकर बसते हैं कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का वाक्य है। कोई भी घटना प्रवाह किसी की तुलना ही में प्रगतिशील होया। इसलिए निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है।... न केवल कलाकार का सामाजिक अनुभव निरपेक्ष नहीं है, उसकी सौम्ययंमूलक प्रवृत्ति भी सामाजिक विकास और सामाजिक सम्बन्धों से परे नहीं है। किसी भी समाज विरोध के मनुष्य की सौम्ययं मूलक प्रवृत्ति उसके सामूहिक ऐतिहासिक विकास का परिणाम होती है।<sup>२</sup>

डा० रामबिलास शर्मा ने नवीनता का अर्थ अनिर्धार्य रूप में पुष्टतन्त्रता का विरोध करना नहीं माना है। उन्होंने लिखा है 'जैसे साहित्य और विरोधकर गई समालोचना पर यह अभिप्राय लनाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परम्पराओं से तटस्थ और उनके प्रति उदासीन है। पुष्पनी परम्परा का उल्लेख करते पर यह भी जोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेन्दु को बबरदस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यन्त आश्चर्यक है कि हम अपने साहित्य की पुष्पनी परम्पराओं से परिचित हो। परिचित होने के साथ साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण भी करना चाहिये...मैत्र उन लोगों से अतमेव है जो साहित्य को समाज हित या अहित से परे मान कर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं उनके लिए बिहारी और तुलसीदास दोनों ही समाज रूप से बर्हीय हैं और दोनों की ही परम्परा समाज रूप से बर्हीय है। प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते हुए मैरी दृष्टि में समाज के हित और अहित को नहीं मूल माना जाहिए यदि बरबायों में परम्पराओं की जादूकारिता करते हुए

१ 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', डा० रामबिलास शर्मा, मुद्रिका, पृ० ८०।

२ वही पृ० १२।



भी स्पष्ट साहित्य रचा जा सकता था तो इसे संत कवियों की संकल्प ही माननी चाहिये कि वे दरबारों में आगन्तव्यपूर्वक समय न बिताकर चिमटा बजाते हुए कड़िकावियों का बिचित्र सहन करते रहे । १

ऊपर कहा गया है कि प्रगतिवादी मार्क्सवादी राजनैतिक विचारधारा की साहित्यिक परिणति है । डा० रामबिलास शर्मा ने इस विषय पर अपने एक निबन्ध 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन में लिखा है "समाज को समझने और बदलने तथा घोषणाहीन समाज व्यवस्था का निर्माण करने के विज्ञान का नाम 'मार्क्सवाद' है । यह व्यवस्था हवा में नहीं बगती प्राचीन व्यवस्था के उपकरणों का महत्वपूर्ण योग भी उसमें होता है । इन पुराने उपकरणों को बताने में विभिन्न बर्गों का योग हो सकता है । यह आवश्यक नहीं कि सापेक्ष बर्ग ने नैतिक व्यवस्था के लिए मूल्यों का निर्माण किया है वे सभी सापेक्षमूल्य बर्ग के लिये अनुपयोगी हों । उदाहरण के लिये समाजवादी व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वयं के अनुसार न कि अपनी आवश्यकता के अनुसार पारिधायिक मिलता है । मार्क्स और सेनिंग ने इसे पूँजीवादी नियम बताया है । ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण सापेक्ष मूल्य मानव भी इस पूँजीवादी नियम से अपना पीछा नहीं छुड़ा पाता । यदि सापेक्ष क्षेत्र में पूँजीवादी नियम को तुरन्त ठुकराया नहीं जा सकता तो साहित्य और कला के क्षेत्र में तो और भी संभवतः कठम रसता आवश्यक होता है ।" २

इस प्रकार से डा० रामबिलास शर्मा के विचारों को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि उनके दृष्टिकोण में प्रगतिवादी आन्दोलन के लिये यह मान्यता है कि यह एक व्यापक जीवन बर्धन है । प्रगतिवाद का अर्थ अनिवार्य रूप से किसी संकल्पित धार से ही नहीं लेना चाहिए क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही प्रगतिशील है तथा चूँकि मानव जीवन ही साहित्य में अपने विविध रूपों में प्रतिबिम्बित होता है, अतः साहित्य को भी स्वभावतः प्रगतिशील होना चाहिए । हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का अग्रम एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में हुआ । अग्रम सेरकों और पाठकों को इस आवश्यकता को उठाने

१ 'संस्कृति और साहित्य', रामबिलास शर्मा, मुद्रिका ।

२ आलोचना २१, पृ० १५ ।

जीवन से निकटता ही उसकी शक्ति है और उसकी सम्भावनाओं में संदेह नहीं किया जा सकता।

शिवदान सिंह चौहान:—

श्री शिवदान सिंह चौहान ने एक भावुक विचारक के रूप में प्रगतिवादी साहित्य के विभिन्न पलों पर विचार किया है। उनके विचार से युगीन यथार्थ का प्रतिबिम्ब साहित्य का एक अनिवार्य तत्त्व है और उसी की विरसनीयता उसके परीक्षण की कसौटी है। उन्होंने सिखा है 'साहित्य और कला वस्तु विषों तथा मानव शक्तियों की माया में जीवन के वैविध्यपूर्ण और परस्पर विरोधी सम्बन्धों और अन्तर्सम्बन्धों के यथार्थ को उसके यम में विकासमान सम्भावनाओं की दृष्टि से मूर्त और कलात्मक रूप में प्रतिबिम्बित करती है। साहित्य और कला की कृतियाँ इसका परिणाम होती हैं।' उनकी या किसी भी युग के कलाकार और साहित्यकारों की प्रतिभा ईमानदारी और उनकी कृतियों की कलात्मक श्रेष्ठता को परखने की वैज्ञानिक कसौटी भी यही है कि नाच करके यह बेबाक भाव कि अपने जीवन काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों द्वारा प्राप्त अनिवाच्य विचार सीमाओं के होते हुए भी उन्होंने सच्च कलाकार की उत्साहेपी वस्तु निष्ठ से अपने युग जीवन की वास्तविकता या सत्य का कितना यथार्थ और मूर्त चित्रण किया।<sup>१</sup>

श्री शिवदान सिंह चौहान ने कला और साहित्य के क्षेत्रों से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर सम्प्रीकृतपूर्वक विचार किया है और उनकी रचनात्मक सम्भावनाओं के संकेत बोधे हैं। इस क्षेत्र में व्यावहारिक समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने एक स्थान पर लिखा है 'इसदिने राष्ट्रीय साहित्य और कला के निर्माण की समस्या के दो पहलू हैं (१) ऐसी परिस्थितियों को पैदा करना जिनमें राष्ट्रीय कला और साहित्य अक्षुण्ण रूप से विकास कर सकें अर्थात् समाज का सांस्कृतिक जीवन ऐसा बनाएँ जो कला क्षेत्र में प्रेरक बने बाधक नहीं। (२) विरस की कला साहित्य और विज्ञान की विरासत से जो कुछ सीखा जा सकता है सीखकर ऐसी कृतियों का निर्माण करने का प्रयत्न करना जिनमें इस युग ने हमारी बनना के सामने जो नैतिक और सामाजिक धन उठा दिये गये हैं उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति देने तथा अपनी बनना के

यथार्थ रूप में अनुभव करते हुए अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रयत्नशील साहित्य युग की माँग को पूरा करनेवाला साहित्य है अतः यथार्थ आर्थिक गुणों का उद्घाटन करने की समस्या का समाधान पा सके। ऐसी कृतियाँ ही अपनी विचारोत्तेजक शक्ति से जनता की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती हैं और साथ ही अन्य देशों की जनता के भाँगे हमारे राष्ट्रीय जीवन का सही-सही प्रतिनिधित्व करके एक दूसरे को अधिक निकट सामे में जोड़ दे सकेंगी। ऐसी कृतियाँ ही वास्तव में अन्तरराष्ट्रीय या विश्वजनीन महत्ता प्राप्त करती हैं। ?

#### प्रयोग की कसौटी —

प्रगतिवाद के परवर्ती साहित्यिक आन्दोलन प्रयोगवाद के स्वरूप और आवश्यकता के साथ ही साथ बोझ भी से उसकी उपलब्धियों आँकने का प्रयत्न को अपनी विचाररत्मक रचनाओं में किया है। इसी प्रकार नये प्रयोग क्या भीषण संरूप को अभिव्यक्त देते हैं इसके लिए हमें केवल यही नहीं देखना चाहिये कि जीवन के किसी अनुभव की पुनः सृष्टि करने से यह कितने सफल है बल्कि यह कि अनुभव की मानवीय वस्तु कैसी है उस कला से कि प्रकृति का अनुभव व्यक्त हुआ है। अर्थात् अपने समय के समग्र सामाजिक जीवन की अपेक्षा वह अनुभव कितना सारवान् और सगत है उसमें व्यक्त भावनाएँ और विचार कितने मानवीय हैं कि प्रकृति के मनुष्यों को कला में प्रबिष्ट किया गया है। और अतः से हमें देखना चाहिये कि नये प्रयोग जीवन का जो आकलन करते हैं वह कैसा है अर्थात् समाज के भीतर मानव सम्बन्धों के द्वारे में लेसक या कलाकार का दृष्टि कील गया है। ये कतिपय कसौटियाँ हैं जिन पर किसी भी नये प्रयोग को परखना आवश्यक है। इन प्रश्नों को बिना उठाये केवल प्रयोग को आत्मात्मिक महत्त्व देना, चूँकि प्रयोग निरन्तर होते आते हैं परम्परा से ही विच्छेद करना नहीं है, बल्कि पाठकों से भी विच्छेद कर देना है और प्रयोगों को भी निरर्थक बना देना है।<sup>१</sup>

#### प्रयत्न और प्रचार —

प्रगतिवाद पर एक और आरोप यह लगाया जाता है कि उसमें प्रचारवादिता

१ 'आलोचना' १ सम्पादकीय पृ० ८।

२ 'आलोचना' २, सम्पादकीय पृ० १।

का आधिपत्य है। चौहान भी ने साहित्य में इस प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति का विरोध किया है। उन्होंने कहा है 'हमें प्रचार की चीजें नहीं सिखनी हैं, साहित्य सिखना है क्या। इस साहित्यिक प्रवेष्टना में पढ़कर हम अपने कर्तव्य को भुला सकते हैं? साहित्यकार की विशेषता यही है कि उसके अनुभूत की अभिव्यक्ति कक्षात्मक होती है - 'किर हमारे मन में प्रचार और साहित्य का प्रश्न उठकर इन्हें क्यों मचाता है? और जब हम अपनी लेखनी के अन्त से लड़ने की सोचना करते हैं तो क्या हमारा आत्म अपनी रचनात्मक शक्ति और कक्षा संपुष्ट से नहीं होता।' चौहान भी के विचार से प्रवृत्तिवादी समीक्षा ने हिन्दी के साहित्यकारों को नयी दृष्टि दी है और उन्हें अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाया है।<sup>१</sup>

श्री विमल सिंह चौहान के विचार से प्रवृत्तिवाद साहित्य की बहू बाध है, जो पूर्वोक्त के अंतिम काल में उत्पन्न होती है। उन्होंने उसे साहित्यिक क्षेत्र में एक मानववादी दृष्टिकोण के रूप में मान्य किया है जो नयी चेतना के आपरम की प्रतीक है।<sup>२</sup> उनका विचार है कि यथार्थ एक कक्षाकार स्वभाविक रूप से प्रवृत्तिवादी ही होता है। वह युव जीवन के निरन्तर परिवर्तित होते हुए रूपों की प्रत्यक्ष अवगति रखता तथा उनके अनुसार अपने साहित्य को नवीन रूप प्रदान करता है। इसलिए उसकी कला की एक आवश्यक शर्त उसकी यथार्थगत विरवसनीयता है और यही उसके साहित्य की प्रवृत्तिवादीता की सबसे बड़ी कमी है।<sup>३</sup>

अन्वयनाथ मुक्त -

श्री अन्वयनाथ मुक्त के वैचारिक निबन्ध 'प्रवृत्तिवाद की कुरीतियाँ' नामक पुस्तक में संवृष्ट है। इन निबन्धों में से कुछ में लेखक ने प्रवृत्तिवादी विचारवादा के सम्बन्धित कुछ अत्यन्त समस्याओं पर विचार किया है। उन्होंने प्रवृत्तिवादीता के विरुद्ध प्रस्तुत किये गये तर्कों का खंडन करते हुए उसके यथार्थ मूल्यांकन पर बल दिया

१ 'साहित्य की बरख' श्री विमलसिंह चौहान, पृ० २४ ।

२. 'आत्मोत्थान' १ सम्पादनकीय, पृ० १ ।

३ 'प्रवृत्तिवाद', श्री विमलसिंह चौहान, पृ० १ ।

४ 'हंस', अन्वयनाथ-कलमवी, पृ० २४२ ।

है। उनका विचार है कि प्रगतिशीलता की परत राजनीतिक दसबंदी से पृथक होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रगतिशीलता की परत साहित्य को साम्यवादी अथवा किसी अन्य राजनीतिक दल के छात्राधिकार से मुक्त बताया है। गुप्त जी के विचार से प्रगति का अर्थ है विकास। उन्होंने लिखा है 'यह स्पष्ट है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होती। प्रगति में प्रयास तो अन्तर्निहित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होगा तो वह समाज प्रगति नहीं करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहिये जड़ रहेंगे और समाज स्थितिशील होकर रहेगा। वह समाज निरन्तर हो जायगा। इतिहास में ऐसे कई समाज विमर्श हो गए, बूझों ने उन पर अधिकार कर लिया उनको अपने में अन्त कर लिया। इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास में विचारधारा एक बहुत बड़ी भूमिका है और साहित्य कला यदि विचारधारा में ही आ जाते हैं। विचारधारा कान्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है इस लिए साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का अन्त हो सकता है। स्वाभाविक रूप से वह साहित्य को समाज को आगे की ओर से जाने में मदद देता है प्रगतिशील है। जो साहित्य को पीछे धकेलता है वह प्रतिक्रियावादी है।"

प्रगतिवाद की अनिवार्यता —

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने प्रगतिवाद को बेध बाधा के लिए एक अनिवार्यता बताते हुए उसे जाघाबाध का प्रचारक कहा है। उनका विचार है कि साहित्य के विकास की सम्भावनाएं प्रगतिवादी विचारधारा में ही निहित हैं। अन्य संकुचित और अनिश्चित विचारधाराएं अन्तः साहित्य को हसोमुसी बनाती हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारे नए स्वतंत्र बेध में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों में जागृता उत्पन्न कर के नए संघर्षों के लिए हमको तैयार करे। और किसी बेध में कुछ भी हो, हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रखते हुए मुस्वीदी के साथ समाज रचना में भाग लेना पड़ेगा। प्रगतिशील मतवाद का कैवल इतना ही बहुसा। हम अन्तहीनता पलायनवाद रहस्यवाद छायावाद में पड़कर अपनी कर्मशक्ति को विपटित नहीं होने से सकते।"

१ 'प्रगतिवाद की कपरेखा', श्री मन्मथनाथ गुप्त पृ० ६।

२ 'वही' पृ० १०।

वैयक्तिक स्वातन्त्र्य —

कलाकार की स्वतंत्रता पर विचार करते हुए श्री मम्मयनाथ मुन्त ने बताया है कि 'कला' शब्द बहुत व्यापक है। उसमें बिना कला संगीत साहित्य आदि सभी कुछ आ जाता है। कलाकार के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक तो सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। जहाँ तक सृजन का प्रश्न है, वह इस विषय में पूर्वरूपेण स्वतंत्र है, परन्तु उसका सामाजिक पक्ष भी गण्य है। उनके विचार से यदि (१) बाबा क्रिया मान कि कलाकार सृजन करके मुक्त हो गया तो वह बिल्कुल गलत है। कलानी या कविता केवल सिखाने में ही कोई रस नहीं होता, बरि उसका कोई पाठक समान, जसे ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो, न होता। इसी प्रकार बिना आदि के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इन भाषा से होती है, कि किसी भाषानी काल में उस साधना के परिपक्व पल को बर्णक पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा हो सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही दौरान म मर जाय और उसकी कृतियों को कभी दूसरों के सामने जाने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र में भी यह मानना पड़ेगा कि पुष्कलभूमि में उन सम्भव बर्णक, पाठक श्रोताओं की बात कलाकार को अनुभावित करती है।<sup>१</sup> इस प्रकार से मुन्त जी के मतानुसार एक कलाकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता वहीं तक अनुमोदनीय है जहाँ तक वह जनता के विरुद्ध न जाय। यदि वह इस सीमा का अतिक्रमण करना चाहे तो उसे इसकी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अन्ततः वह जनता का ही एक अंग है और कला के रूप में जनता की सेवा का दायित्व ही है।

अतीत का ज्ञान —

अतीत के विषय में व्यापक अवधारणा को श्री मम्मयनाथ मुन्त ने बहुत ही आवश्यक बताया है, क्योंकि जाने बिना कोई कभी भी अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। परन्तु इसके साथ ही साथ इसी समय के एक दूसरे पक्ष की ओर भी उन्होंने लक्षित किया है। उनका विचार है कि जहाँ अतीत का ज्ञान उपयोगी हो सकता है, वहाँ उसका अंधालोकन भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है "इसीलिए मरना यह बल्लम्य है

१ "प्रवृत्तियाँ की कवरीका", श्री मम्मयनाथ मुन्त, मुन्त पृ० ७६ ।

है। उनका विचार है कि प्रगतिशीलता की परब राजनीतिक दसबंदी से पूरक होनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने प्रगतिशीलता की परब साहित्य को साम्यवादी अथवा किसी अन्य राजनीतिक दस के सत्वाधिकार से मुक्त बताया है। गुप्त भी के विचार से प्रगति का अर्थ है विकास। उन्होंने लिखा है 'यह स्पष्ट है कि समाज का मानवीय उपादान यदि कुछ भी प्रयास न करे, तो भी प्रगति होगी। प्रगति में प्रयास तो अस्तित्वित है। यदि किसी कारण से प्रयास न होया तो वह समाज प्रगति नहीं करेगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहिले कुछ रहिये और समाज स्थितिशील होकर रहेगा। वह समाज विनष्ट हो जायगा। इतिहास में ऐसे कई समाज विनष्ट हो गए, दूसरों ने उन पर अधिकार कर लिया उनको अपने में अन्त कर लिया। इस कारण प्रगति का एक अनिवार्य उपादान प्रयास है। प्रयास में विचारधारा एक बहुत बड़ी शक्ति है और साहित्य कला बाकि विचारधारा में ही जा बाते हैं। विचारधारा अन्ति अथवा प्रतिक्रिया का एक प्रधान साधन हो सकती है इसलिये साहित्य प्रगति अथवा प्रतिक्रिया का अस्त हो सकता है। स्वामाविक रूप से वह साहित्य को समाज को अाने की ओर से आने में मदद देता है प्रगतिशील है। वो साहित्य को पीछे ढकेलता है वह प्रतिक्रियावादी है।'<sup>१</sup>

प्रगतिवाद की अनिवार्यता :—

श्री मम्मयनाथ गुप्त ने प्रगतिवाद को देश भाषा के लिए एक अनिवार्यता बताया हुए उसे आशावाद का प्रचारक कहा है। उनका विचार है कि साहित्य के विकास की सम्भावनाएं प्रगतिवादी विचारधारा में ही निहित हैं। अन्य संकुचित और अनिश्चित विचारधाराएं अस्त-साहित्य को हतोन्मुखी बनाती हैं। उन्होंने लिखा है 'हमारे नए स्वतंत्र देश में इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य लोगों में आशा उत्पन्न कर के नए संघर्षों के लिए हमको तैयार करे। और किसी देश में कुछ भी हो हमारे यहाँ साहित्य को साहित्य रहते हुए भुस्तवी के साथ समाज रचना में आन लेना पड़ेगा। प्रगतिशील मठवाद का केवल इतना ही रहना। इस अस्तित्वता पलायनवाद रहस्यवाद छायावाद में पड़कर अयनी कर्मधक्ति को विपटित नहीं होने से रकटे।'<sup>२</sup>

१ 'प्रगतिवाद की अपरेबा', श्री मम्मयनाथ गुप्त पृ० ६।

२ 'वही पृ० १०।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता —

कलाकार की स्वतन्त्रता पर विचार करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बताया है कि 'कला' शब्द बहुत व्यापक है। उसमें बिना कला, सजीव साहित्य आदि सभी कुछ या काठा है। कलाकार के व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं। एक तो सामाजिक और दूसरा वैयक्तिक। जहाँ तक मूल्य का प्रश्न है, वह इस विषय में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है, परन्तु उसका सामाजिक पक्ष भी गम्य है। उनके विचार से यदि 'कला' या 'कविता' का अर्थ है कि कलाकार मूल्य करके मुक्त हो गया तो यह बिल्कुल पसन्द है। कहानी या कविता केवल लिखने में ही कोई रस नहीं होता, यदि उसका कोई पाठक समाज, जैसे ही वह एक व्यक्ति तक सीमित हो न होता। इसी प्रकार बिना साहित्य के सम्बन्ध में भी कला का सकता है। जहाँ नीरव साधना होती है वहाँ भी वह इस भाषा से होती है कि किसी भाषायी काल में उस साधना के परिपक्व फल की रचना पाठक या श्रोता के सामने रखा जायगा। ऐसा ही सकता है कि ऐसे कई नीरव साधक अपनी साधना के ही बीजान में मर जाय और उसकी कृतियों को कभी दूसरों के सामने जाने का मौका न मिले। पर ऐसे क्षेत्र में भी यह मानना पड़ता कि कृष्णभूमि में उन सम्बन्ध रचक, पाठक, श्रोताओं की बात कलाकार को अनुप्राणित करती है।<sup>१</sup> इस प्रकार से गुप्त जी के मतानुसार एक कलाकार की वैयक्तिक स्वतन्त्रता जहाँ तक अनुमोदनीय है जहाँ तक वह जनता के विरुद्ध न जाय। यदि वह इस सीमा का अति उल्लंघन करना चाहे तो उसे इसकी स्वतन्त्रता नहीं होगी चाहे, क्योंकि जनता वह जनता का ही एक अंग है और कला के रूप में जनता की सेवा का अर्थ लिये हुए है।

अतीत का ज्ञान —

अतीत के विषय में व्यापक अवगतियों को श्री मन्मथनाथ गुप्त ने बहुत ही आश्चर्यपूर्ण बताया है क्योंकि जाने बिना कोई कभी भी अपने भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता। परन्तु इसके साथ ही साथ इसी समय के एक दूसरे पक्ष की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। उनका विचार है कि जहाँ अतीत का ज्ञान उपयोगी हो सकता है, वहाँ उसका अनावश्यक भी नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है "इसीलिए मैंने यह बतलाना है

१ "प्रगतिवाद की कपरेखा", श्री मन्मथनाथ गुप्त, गुप्त वृ० ३६।



कि मतीज को हम आदर्श के रूप में नहीं रख सकते। जन्मेपणों से तो यह भी बात हुआ है कि प्रत्येक देश में जो ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति हुई, उसके पीछे भी वीर पूजा की भावना थी। हमारे देश में जहाँ राम कृष्ण बुद्ध आदि ऐतिहासिक व्यक्ति अवतार के रूप में मान लिए गए, इस आरना को बहुत स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। कण्ड पण्ड, बराह आदि अवतार पशु प्रतीक पूजा के ही रूप हैं। कई बार दो-दो बार बार कबीलों के देवता एक हो गए हैं एक मुह का ले लिया गया तो दूसरे का बड़ या अन्य अंग। इसी प्रकार के पनेज आदि देवताओं की उत्पत्ति हुई। इस सम्बन्ध में जो पनेपणारे हुई हैं उनके यह पता चलता है कि प्रत्येक जाति में वीर पूजा का या वीर का सूक्ष्मीकरण होकर ईश्वर की उत्पत्ति हुई। देवों के कार्यवाह में ईश्वरवादी हुए हैं। पहले सोचान में वे बहुदेव देवी से। १

#### प्रगतिवादी बुद्धि —

श्री मम्मथनाथ दुप्ल की आरना है कि प्रगतिवाद के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार के भ्रामक मतों का प्रचार है, उसका कारण यह है कि लोगों को उसके विषय में पर्याप्त पदार्थ ज्ञान नहीं है। उनके विचार से प्रगतिवादी विचारवादा की मुख्य विशेषता यह है कि वह साहित्य को समाज की कसौटी पर ही कसता है। जन्हीने लिखा है “प्रगतिवाद प्राथमिक रूप से और मुख्यत एक सामाजिक बहिष्क समाज सम्बन्धी मतवाद है। मैंने मतवाद शब्द का प्रयोग किया इससे यह न समझा जाय कि इस क्षेत्र में मैं किसी दूसरे मत की मुजाहस मानता हूँ। प्रगतिवाद अर्थात् समाज की प्रगति हो रही है और उसमें हम हाथ बटा सकते हैं यह मत एक मत एक वैज्ञानिक सिद्धान्त की तरह है, और उसमें मतभेद का कोई स्थान नहीं है। यह स्मरण रहे कि प्रगतिवादी सिद्धान्त का आविष्कार तो आर को हुआ पर वह बचकर समाज में लागू ना। यह बात उसी प्रकार की है, कि न्यूटन के पहले भी गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त लागू ना। इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी मतवाद की स्थापना के पहले प्रगतिवादी साहित्य मौजूद ना।” २

इसी सम्बन्ध में प्रगतिवादी समीक्षा पर भी विचार किया है। उनका विचार है

१ “प्रगतिवाद की कुरेदा” श्री मम्मथनाथ दुप्ल, पृ० १०२।

२ वही, पृ० २४८-४९।

कि "यद्यपि प्रगतिवादी आलोचना किसी रचना के सामाजिक दृष्ट से ही मुख्यतः सरो-  
कार रखती है, फिर भी प्रगतिवादी सबक भाषा आदि के प्रति उदासीन नहीं रह  
सकता। सब तो यह है कि भाषा के सम्बन्ध में मोटे तौर पर एक ऐसा दृष्टिकोण है  
जो प्रगतिवादी कहला सकता है। प्रगतिवाद का आशय कान्तिकारी जनता के प्रति है,  
इस कारण प्रगतिवादी साहित्य की भाषा और ऐसी जनता की मनपसन्द होनी  
चाहिए। हमारे देश में कई बार भाषा को उस समय के प्रगतिशील विचारों के उदात्त  
कारण ब्रह्मना पड़ा और फिर जब प्रतिशान्ति हुई तो फिर भाषा बरसी। संस्कृत से  
बुद्धि ने पानी प्राकृत को अपनाया, फिर जब प्रतिशान्ति हुई, तो फिर संस्कृत बसी।  
स्वयं हिन्दी की उत्पत्ति अपेक्षाकृत प्रगतिशील प्रवृत्तियों के कारण हुई।" १

डा० रमिय रायब —

डा० रांगेय रायब के प्रगतिशील चिन्तन विषयक निम्न उनकी "प्रगतिशील  
साहित्य के मानदंड" शीर्षक कृति में संगृहीत हैं। इसमें उनका दृष्टिकोण  
अतीत और वर्तमान की व्याख्या करना रहा है। उनकी विरोधता यह रही है कि उन्होंने  
प्रगतिवाद के विरोधियों के समान ही उसके समर्थकों की भी कड़ी आलोचना की है।  
डा० रमिय रायब की धारणा है कि प्रगतिशील साहित्य घोषण का विरोध करता है।  
यह घोषण आर्थिक न होकर विविध रूपरमक है। उदाहरण के लिए जब मानसिक  
घोषण होता है और मनुष्य को अपनी बुद्धि को बेचना पड़ना है तब कबा का ह्रास  
होता है। मनुष्य के जीवन के इतिहास से यह सिद्ध हो जाता है कि घोषण किसी न  
- किसी रूप में सदैव जीवित रहा है समाज की व्यवस्था में परिवर्तन के साथ यद्यपि इस  
घोषण के रूप परिवर्तित होते रहे हैं परन्तु घोषण की भावना बचपन रही है।

जहाँ तक प्रगतिशील विचार भाषा साहित्य का सम्बन्ध है वह प्रत्येक रूप में  
घोषण का विरोध करती है। उनके विचार से "जब प्रगतिशील साहित्य उस व्यवस्था  
को धीमे-धीमे ताना बाँधता है जो घोषण का और समाप्त करने में सहायक हो। कान्ति  
का मतलब मजदूरों का उत्थान मात्र नहीं है। पहले बौद्धिक परिवर्तन की कई जमाती  
पड़ती हैं। एक विशेष व्यवस्था में जब समाज के विभिन्न वर्ग अपनी कान्तिकारी शक्तियों  
को काम में लया बुद्धे हैं तब मजदूर वर्ग जागे जाता है। तब मजदूर वर्ग का आगे

जाता है। आज मजबूर कल्पिता का दौर नहीं है, साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे को बूढ़ करने का भारत में प्रयत्न है। यही प्रगतिशील साहित्य का राजनीतिक और वर्तमान पक्ष है। किन्तु प्रगतिशील साहित्य हठने में ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका ध्येय जन कल्याण के और मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विन्नन करते हुए भ्रष्ट कला को जन्म देना है। वह व्यंग्य और प्रहारों में समाप्त नहीं हो जाता वह स्वयं नया निर्माण है। १

डॉ० रामेश रायच ने प्रगतिशीलता की भावना के जन्म और विकास का विवरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि प्रगतिशीलता प्रायः प्रत्येक युग में साहित्य का स्वाभाविक तत्व होकर विद्यमान रहती है। 'महान् लेखक प्रायः ही अपने भीतर प्रगति तत्व धारण करता है। प्रगति जनकस्थान है, किन्तु अधिक किन्तु कम, इसका निर्धारण प्रगतिशीलता में मानबद्ध कर सकते हैं। प्रगति संसार में सर्वत्र रहती है जीवन में भी किन्तु जब हम जिसे प्रगतिशीलता कहते हैं वह सामाजिक तथा राजनीतिक विस्फोटन के आकार पर स्थित है और उसी के आधार पर हम किसी कवि को उत्कृष्टतम समाज और उत्कृष्टतम राजनीति में सापेक्ष रूप से रस कर उसकी आलोचना करते हैं। २

रामेश्वर घर्मा —

राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य शीर्षक निबन्ध संग्रह में भी रामेश्वर घर्मा ने प्रगतिवादी विचारधारा के स्वल्प विस्तार से सम्बन्धित कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने प्रगतिवाद को हिन्दी साहित्य की नींव और प्रेरणादायक शक्ति माना है जिसने एक नयी भूमि का निर्माण किया है। प्रगतिवाद पर लगाये गये कुछ आपेक्षों का निराकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि 'प्रगतिवाद के प्रारम्भ से कुछ सामान्य आधार थे। एक तो यह कि वह युग की सामयिक परिस्थितियों को काव्य में प्रतिबिम्ब करता है, जनता की विकासशील परम्परा में साहित्य अपना भी योग देता है साथ ही प्रगतिवाद साहित्य को केवल मनोरंजन का साधन न मानकर उसकी सामाजिक उपयोगिता में विश्वास रखता है। दक्खिनायुगी आलोचकों के मतानुसार इसी कारण उनका स्वान साहित्य की श्रेष्ठतम (श्रेष्ठ वर्गता) से गिर जाता है और जनम

१ 'प्रगतिशील साहित्य के मानबद्ध', डॉ० रामेश रायच पृ० ६, ७।

२ वही, भूमिका।

## भाषुनिक हिन्दी समीला की विषय प्रवृत्तियाँ

की श्रुति उपसन्धि सबसे नहीं होती। इसी प्रकार के श्लेष हैं जो भाष तक के हकियामुवी भासोचक प्रवृत्तियाँ पर सगते जाये हैं और उसका विरोध करते रहे हैं।<sup>१५</sup>

भी रामेश्वर शर्मा ने प्रवृत्तियाँ जाँचने को पारचात्य प्रभाव के फलस्वरूप बलपूर्वक साधा हुआ बाद नहीं स्वीकार किया है। उनके विचार से वह भारत की ही अपनी विचारधारा है। जब परिस्थितियों ने उसके जन्म को अनिवाय बना दिया तब सुसम्बद्ध चिन्तन के रूप में उसका विकास हुआ। उन्होंने इस कारण का भी विरोध किया है कि प्रवृत्तियाँ विचारधारा में साहित्य या काव्य में कलात्मक तत्वों की अपेक्षा की जाती है या वह उनसे रहित होता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्तियाँ विचारधारा के पोषकों पर राजनैतिक दबाव का भी उन्होंने विरोध किया है। उन्होंने उसे चिन्तन का एक स्वतंत्र रूप मानते हुए लिखा है 'भाष प्रवृत्तियाँ भाष साहित्य की एक बीजगत धारा के रूप में वर्तमान है। उसकी अपनी साहित्यिक माय्याएँ हैं। और उनके अनुकूल उसने साहित्य की नई विधाओं को जन्म दिया है। काव्य उपन्यास नाटक क्लासी निबन्ध और भासोचना के अतिरिक्त स्केच और रिपोर्टाज लिखने की कला का प्रवर्तन प्रवृत्तियाँ धारा के अन्तर्गत ही हुआ। एक पाठक के साथ हम भारतीय से अपेक्षा करते हैं कि वे प्रवृत्तियाँ साहित्य की धारा के हिन्दी में हुए उद्यम तथा विकास को बतलाते। उसमें मुबरित हुई प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते। संक्रान्तिकाल की नव्य साहित्यिक धाराओं के बीच उसे रखकर मूल्यांकन करते और फिर अपने निष्कर्ष निकालते। प्रवृत्तियाँ के वैज्ञानिक पक्ष की व्याख्या प्रवृत्ति के स्वरूप का विश्लेषण एवं प्रवृत्तियाँ भासोचना तथा साहित्य के साथ सम्बद्ध जो मौलिक समस्याएँ हैं उनका विश्लेषण करते तथा बीजगत और साहित्य के सम्बन्ध में नए ढंग से विचार उपस्थित करते।<sup>१६</sup>

१ "राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रवृत्तियाँ साहित्य", श्री रामेश्वर शर्मा, पृ० २१७।

२ "राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रवृत्तियाँ साहित्य", श्री रामेश्वर शर्मा

महत्व और सम्भावनाएँ —

हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा के रूप पर विचार करने पर यह ज्ञान होता है कि प्रायः सन् १९३६ से उसका आन्दोलन एक संयोजित रूप में आरम्भ हुआ। इसने उत्कामीन छायावादी विचारधारा से संघर्ष कर उसका विरोध किया परन्तु इसे सीधे ही व्यक्तिवादी विचारधारा से भी संघर्ष करना पड़ा। काव्य या साहित्य के विषय में छायावादी जगत्वा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से प्रगतिवाद का मौलिक रूप में मठभेद है। यह समाज के प्रति साहित्य का गम्भीर दायित्व मानता है। परन्तु यह एक अस्मत्सनीय तथ्य है कि प्रगतिवाद के स्वरूप के विकास में भी अन्य विचारधाराओं की भाँति पर्याप्त मठभेद रहा और बाद विचार हुआ।

कुछ विचारकों ने इसे एक स्वतंत्र बाद मानने का विरोध किया और प्रगतिशीलता को साहित्य का अनिवार्य और स्वामधिकृतत्व बताया। कुछ लोगों ने इसे राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित सिद्ध करते हुए इसमें इसी पक्ष की प्रभावता सिद्ध की। प्रगतिवादी विचारकों में पारस्परिक विचार वैभिलस्य भी रहा और उनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की। प्रगतिवादी विचारधारा साहित्य में मानव समाज के दमार्थ प्रतिबिम्ब पर बहुत बल देती है और उसकी अपेक्षा का बट्टर विरोध करती है। समष्टिवादिता के समझ व्यक्तिवादिता को यह कोई स्थान नहीं देती। इस प्रकार से वर्तमान युग में कुछ प्रमुख विचारधाराओं में प्रगतिवाद का भी स्थान है, जो अपने प्रसार के लिए संघर्षशील है।

### व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

व्यक्तिवादी विचारधारा सामाजिकता की विरोधिनी न होते हुए भी साहित्य में युक्तानुकूल प्रयोगों का समर्थन करती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में इसे काव्य के क्षेत्र में प्रयोगवादी आन्दोलन के पर्याय के रूप में समझा गया तथा गद्य साहित्य के विविध अंगों के क्षेत्र में भी इसका समावेश हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्य प्रवृत्तियों की भाँति व्यक्तिवादी विचारधारा के भी अन्विकीस समर्थकों ने इसके स्वरूप के विद्वेक्षण के विविध प्रयत्न किये तथा साहित्य में प्रयोगशीलता की भावना की

स्वामाधिकार का स्पष्टीकरण किया। इस दृष्टिकोण से समीक्षा की व्यक्तिवादी प्रणाली स्पष्ट रूप से पश्चार्थवादी अथवा प्रगतिवादी प्रणाली की विरोधी प्रवृत्ति नहीं जा सकती है।

इस समीक्षा पद्धति के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि एक क्रियात्मक साहित्यकार सबैव उन्हीं अनुभूतियों को अपने साहित्य में प्रथम से जिनका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से है। इसके विचारकों की यह धारणा है कि अनुभूति के दूसरे प्रकार भी हैं, जिनका अतिव्यक्तिगत सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु वे किसी भी प्रकार से उसकी अपेक्षा कम महत्वपूर्ण भी नहीं हैं। इसलिये सबैव पश्चार्थवादी कसौटी को ही सर्वमान्य करना इस प्रवृत्ति के विचारकों के मतानुसार उचित नहीं है। निम्न प्रकार की अनुभूतियाँ भी असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो सकती हैं। उनका युग की सामाजिक पश्चार्थता को विवृत करना आवश्यक नहीं है। बहुत से महान् साहित्यकारों की कृतियों में सामाजिक यथार्थ का विषय अधिक नहीं है परन्तु फिर भी वे सामाजिक यथार्थ का विषय करने वाली किसी भी महान् कृति से हीन नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुभूति का प्रकार अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि उसकी सत्यता और व्यापकता महत्तर होती है।

भारत —

हिन्दी में व्यक्तिवादी अथवा प्रयोगवादी समीक्षात्मक विचारधार का भारत में तो बहुत समय पूर्व से विद्यमान है, परन्तु एक संघठित अथवा सुनियोजित प्रवृत्ति के रूप में इसका भारत में १९२० के लगभग से माना जा सकता है। इस समय तक आधुनिक हिन्दी साहित्य विशेष रूप से हिन्दी कविता के क्षेत्र में व्यापक तथा प्रगतिवादी विचारधार पर प्रवर्तित हो चुकी थी तथा विविध रूपों में उनका विकास भी हो रहा था। व्यक्तिवादी आन्दोलन मूलतः प्रगतिवाद के विरोध में हुआ। भारत में यह काव्य और चिन्तन के क्षेत्र में ही रहा परन्तु बाद में गद्य साहित्यों द्वारा भी इसे प्रथम निम्न। यहाँ इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाले कुछ प्रमुख विचारकों की विचारधार का संक्षिप्त विवरण उपरि उचित किया जा रहा है।

संविधानम् हीराभाय्य वास्तव्यायन 'अज्ञेय' :—

'अज्ञेय' के समीक्षा साहित्य में 'विशंकु' नाम के निरालम्ब संग्रह के अतिरिक्त अनेक कृतियाँ तथा स्कूट रचनाएँ आदि हैं। हिन्दी के समीक्षकों में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को प्रथम सेने वाले यह सर्वप्रमुख चिन्तक हैं। पारंपरिक साहित्य और कला की नवीनतम

विचारधाराओं और आन्दोलनों की अवमति ने इनके बुद्धिजीव की समयानुकूल बताया और उसके विकास को बाधार दिया है। एक साहित्यकार की रचनात्मकता के प्रकार पर विचार करते हुए “अज्ञेय” जी ने लिखा है “यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी आलोचक बुद्धि बाधत है यदि उसने शैर्यपूर्वक अपनी आन्तरिक भाव का सामना किया है और उसे समझा है, यदि उसके उद्बेग ने उसमें प्रतिरोध और अनुपस्था की भावनाएँ जलाई हैं उसे बाधाकरण या सामाजिक गति को छोड़कर तथा बाधाकरण और तथा सामाजिक समूह लाने की प्रेरणा भी है तो उसकी रचनाएँ महान् साहित्य बन सकेंगी।” यदि उसके उद्बेग ने केवल अनिश्चय ध्वराहट और पलायन की भावना जलाई है तब उसकी रचनाएँ मधुर होकर भी बटिमा रहेंगी।”<sup>१</sup>

#### अनुभूति की व्यापकता —

“अज्ञेय” जी ने काव्य का स्वरूप और लक्ष्य स्पष्ट करते हुए जो विचार प्रकट किये हैं उनमें भी अनुभूति की व्यापकता पर बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि काव्य रचना मूलतः अपने को अपनी अनुभूति से पूरक करने का प्रयत्न है अपने ही भावों के निष्पत्तिकरण की चेष्टा। बिना इसके काव्य निरा आत्म निवेदन है और सब होकर भी इतना व्यक्तियुत है कि काव्य की समिधा के योग्य नहीं है सर्ववनीयता की कसीटी पर सार नहीं उतरता।<sup>२</sup> इसके स्पष्ट है कि कोरी वैयक्तिकता काव्य जपका साहित्य में कोई अर्थ नहीं रखती। क्योंकि उसके विचार से “कलाकार निरा व्यक्ति नहीं, सामाजिक भी है और निस्सन्देह उसका समाज के प्रति भी बाधित है, किन्तु जो व्यक्ति और समाज का पचड़ा लड़ा करते हैं वे बहुधा भूल जाते हैं कि व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तर बाधित के अतिरिक्त कलाकार कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है।”<sup>३</sup>

#### साहित्य में प्रयोगात्मकता —

अज्ञेय जी ने प्रयोगवादी विचारधारा को एक “बाध” के रूप में मानने का

१ “विद्यार्थ” “अज्ञेय” पृष्ठ १० ११।

२ “विद्यार्थ”, जी अज्ञेय, बुद्धिका पृष्ठ १।

३ “धारणाधी” जी अज्ञेय घुमिका, पृ० २।

विरोध किया है। उन्होंने इस नवीन विचारधारा को किसी भी प्रकार के राजनैतिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन से प्रभावित भी नहीं माना है। उन्होंने साहित्य या काव्य में प्रयोगशीलता को स्वाभाविक बताते हुए लिखा है “प्रयोग का कोई बाध नहीं है। हम बाधी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में दृष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई बाध नहीं है, कविता भी अपने आप में दृष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें “प्रयोगवादी” कहना उठना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें “कवितावादी” कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि किस प्रकार कविता रूढ़ी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिन्न्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुसार खेच-तप्येण करे, उसी प्रकार आत्म सत्य के अन्वेषी कवि को अन्वेषण के प्रयोग रूढ़ी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विरायता, उसकी शक्ति और उसकी सीमा को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का खेच-तप्येण हो ही नहीं सकता।”<sup>१</sup>

#### नीति तत्व —

नीति तत्व का समीक्षारमक विचारधारा में अज्ञेय जी ने बहुत अधिक महत्त्व बताया है। उन्होंने मनुष्य के बौद्धिक विज्ञान के साथ इसके संयुक्त पश्चिम परिणाम नैतिक ह्रास को अस्वीकार किया है। उनके विचार से सामान्य लोग जिसे नैतिक ह्रास कहते हैं, यथार्थ में वह नैतिक बोध की परिपक्वता है। उनके विचार से “नैतिक मूल्य यानी धर्म के मूल्य और धर्म के मूल्य हैं तो अल्प-अल्प और अल्प विचार माँगते हैं। विद्युत् तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कस्ताइति सुन्दर हो और अधिष्ठ हो या कम से कम अधिष्ठ न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि अल्पकोटि का नैतिक बोध और अल्पकोटि का धर्मिक बोध, कम से कम इतिहास में प्रायः साथ चलते हैं। क्यों? इसलिए कि दोनों बोध मूलतः बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मूल्यों का आधार। विवेकशील मानव की विशेषकर अल्प विवेकशील



मानव की, जिसमें सृजनारम्भक शक्ति या प्रतिभा भी है साहकता दोनों को ही पहचानती है।”<sup>१</sup>

प्रयोग की कसौटी —

अज्ञेय की के विचार से प्रयोग एक साधन मात्र है। स्वयं अपने में दृष्ट नहीं है। उसकी सार्वभूता और माय्यता इस कारण भी है, क्योंकि इसके द्वारा एक कवि अपने समय को नमीर्माँति जानकर अभिव्यक्त भी कर सकता है। प्रयोगशीलता का सम्बन्ध इस प्रकार से साहित्य अथवा काव्य के वस्तु तथा चिरूप दोनों परों से होता है, इस लिए एकस प्रयोगों की आसन्नक सम्भावनाएँ इन दोनों ही क्षेत्रों में विद्यमान रहती हैं। इस दृष्टि से प्रयोगवाद को एक 'बाब' का संकुचित आचरण दे कर उसके स्वरूप और महत्व को बटाना अपना उसका विरोध करना सुराबह का सूचक होगा। इसके अतिरिक्त प्रयोग साहित्य के क्षेत्र में सर्वैक से होते रहे हैं। दूसरे क्षणों में कहा जाय तो प्रयोग साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है। इसलिए साहित्य के विकास की सम्भावनाओं का प्रयोग ही आधार होता है। परन्तु बीसा कि ऊपर संकेत किया गया कि प्रयोग अपने अपने कोई दृष्ट नहीं बनू एक साधन मात्र है इसलिए प्रयोगों का भी महत्व उनके द्वारा प्राप्त उपलब्धियों में है। जो प्रयोग विरती बढ़ी उपलब्धि की परिपति का सृजन करता है वह उतना ही महत्तर है।

विरिजाकुमार माबुर —

श्री विरिजाकुमार माबुर ने भी अपने स्फुट निबन्धों अथवा भूमिकाओं में साहित्य और काव्य विषयक अपने दृष्टिकोण और माय्यताओं को स्पष्ट किया है। श्री माबुर के विचार से नई कविता उस काव्यधारा को कहना उचित है जो प्राचीन काव्य की प्रतिक्रिया स्वरूप आरम्भ हुई है। उन्होंने नयी कविता से सम्बन्ध रखने वाले अनेक अलग-अलग प्रश्नों पर विचार किया है। साहित्यिक विचारधारा और राजनीतिक की प्रवृत्ति के विषय में उनका विचार है कि “साहित्य और राजनीति से इसी कारण अन्तर है क्योंकि वहाँ राजनीति पञ्जर मात्र ही होती है और अपने दल अथवा सम्प्रदाय के संकुचित स्वार्थों आधार विचारों अनुशासन नियमों और मतधारों की

वाह्य प्रतिष्ठा में उलझी रहती है, वहाँ साहित्य राजनीति की घीमात्रों से परे उनके बुनियादी सिद्धांतों तक जाता है और उनके मंगल तर्कों पर ही अपनी दृष्टि रखता है। ऐसे विभिन्न मौलिक तर्कों को लेकर वह एक बहुरी और व्यापक मानवीयता की पीठिका पर जनका समन्वय करता है। राजनीति से उसका इतना ही सम्बन्ध है। वह तत्कालीन राजनैतिक विचार दलन से प्रभावित बनस्य होता है, पर प्रभावित होकर, उसका साम्प्रदायिक अनुयायी बनकर नहीं रह जाता। वह उससे जामे बढ़कर भिन्न राजनैतिक अस्तित्वों में समाधान खूँडता है और ऐसे मानवीय उत्तर प्रस्तुत करता है जो मात्र राजनीति या वर्मनीति नहीं दे सकती। इस प्रकार जब साहित्य की भूमि आचारगत मानवीय मूल्यों की है तब वह किसी एक प्रवृत्ति या पक्ष विशेष तक सीमित होकर उसमें समाकर नहीं रह सकता। उसके लिए इन सभी प्रवृत्तियों और पक्षों के वे तत्व ग्राह्य होते हैं, जिनका पस्ता मानवीयता, सामाजिक न्याय और जीवन मन्विष्य आस्था से होकर जाता है।<sup>१</sup>

साहित्य वा काव्य की उपलब्धि की कसौटी कौन से मानव मूल्य होंगे इस पर विचार करते हुए भी निरिवाङ्गुमार मायुर ने बताया है कि आधुनिक युग में मानवता-बारी विचारधार के अनेक रूप सामने आते दिखाई दे रहे हैं। इसके पीछे जो दृष्टि कोण है, वह किसी भी प्रकार का नहीं हो परन्तु वह ऐतिहासिक विकास की सुमिका में उसका परीक्षण नहीं करता। जनका विचार है कि इसी की पृष्ठभूमि पर मानवता के नवीन विकास की सम्भावनाएं सामने आयेंगी। इसी सम्बन्ध में उन्होंने नयी कविता की एकांगिता की ओर भी संकेत किया है। उन्होंने लिखा है 'जसकी विभिन्न विचारगत धीसियों ने जीवन को केवल एक ही सीमित और कट्टर दृष्टिकोण से देखा है। एक दृष्टिकोण ने दूसरे को सिद्धान्त विरोधी कहकर दूसरे प्रकार के भेद्य तर्कों को या तो स्वीकार ही नहीं किया या उनको समाज विमुख कहकर मधून की तरह दूर रहने दिया है। कविता की विचार बस्तु में इसलिए हमें अक्सर जलसाव दिग्भ्रम, अर्थहीनता, विज्ञान, अटपटी तर्क विचार पद्धति बुझबाव नियतिबारी पीड़ा विविधा अन्वेष, अज्ञा अनास्था देखने को मिलती है। इस वैचारिक दिग्भ्रम के कारण इन बहुत से नए कवियों को यह समझ में नहीं आता कि कौन सा जीवन दर्शन उपयुक्त है, कौन सा रास्ता उनका है। जब कवि के विचार अथवा यह सम्पूर्ण जनमान और कुसवाहा है

तो उसकी अभिव्यञ्जना के जो उपकरण हैं सर्वान् भाषा प्रतीक उपमान, छंद अपने अस्वाभाविक ध्वरे, संक्षिप्त और रूप व्यतिरिक्त विहीन होंगे।<sup>१</sup> इस प्रकार से ही गिरिजाकुमार भाबुर ने नयी कविता की उपसम्भियों की सम्भावनाओं के विषय में तो जाया प्रकट की है परन्तु उनके विचार से यह तभी सम्भव होगा, जब उसकी वर्तमान बलि का उचित नियंत्रण होगा।

डा० धर्मवीर भारती -

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० धर्मवीर भारती का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने आधुनिक युग में साहित्यकार के सम्मीर दायित्वों और साहित्य की नयी मर्यादा पर विचार करते हुए इस समस्या के विविध पक्षों पर चिन्तन किया है। उन्होंने साहित्य में प्रगतिशीलता का विरोध नहीं किया है। उन्होंने लिखा है "मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो प्रपत्ति के नाम से ही जबरजस्ती हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि मानवजाति सृष्टि के आरम्भ से आज तक परिस्थितियों से लड़ती रही है और अपने रक्त से अपने आँसुओं से अपने पसीने से, समय के पृष्ठों पर सत्य का इतिहास लिखती रही है। उसने हर युग में नये नये प्रयोग किये हैं। लेकिन जब कभी हम प्रयोग को सत्य से अतिक्रमण करने से डरते हैं उसी वक्त हमारी प्रपत्ति बक जाती है। मार्क्सवाद भी मानव सभ्यता का एक बहुत बड़ा प्रयोग रहा है। लेकिन वह प्रयोग ही रहा साध्यायक प्रयोग रहा किन्तु समाधान नहीं बन पाया। मार्क्सवाद में कमियाँ थीं। उस ने उन कमियों को दूर निकालना और उनका परिहार करने की कोशिश की। लेकिन फिर भी उस की संस्कृति उसकी बीजव्याप्ति नहीं मिलती हमारी संस्कृति रही है अतः अब भी उसी साहित्य वह स्थायी और सघटत जीवन वर्धन नहीं खोज पाया है जिसकी खोज का हीमाय्य दायर भारतीय साहित्य को मिलनेवाला है क्योंकि हमारे पास अग्निधिया सा बेदीयमान संदेह है और अब हम उसकी ज्योति विकीर्ण करने के लिए स्वयंसे हैं।"<sup>२</sup>

साहित्यिक चिन्तकों के लिए डा० धर्मवीर भारती ने मुखवट संक्रमण के इस युग में नवीन मर्यादा के प्रति आलस्य रहने की आशयकता की और उचित किया है।

उनसे विचार से "साहित्य की इस नई मर्यादा का उदय इतिहास के भूल भरे पन्नों में खोजने वाली एक विस्मृत क्या बनेगा या नव निर्माण की प्रगति की, विकास की सूचिका यह हमारे इसी क्षण के चुनाव पर निर्भर करता है। प्रस्तुत सम्प्रदायों और सत्ताओं का नहीं है बल्कि मानवीय मुख्य मर्यादा उसकी साहसपूर्ण स्वीकृति और निष्ठापूर्ण आभरण का है। चुनाव स्पष्ट है। हम चाहें तो मय से बागी को रक्त और खर्ब बना डालें चाहें तो साहस का बरण करके अपनी बागी इस नई मर्यादा की अपराधमय तेजस्विता से अभिविच्छिन्न कर इतिहास को नया मोड़ दे दें। अज्ञात भविष्य में हमारा साहित्य कहीं तक स्थायी रहेगा यह भी इसी पर निर्भर करता है कि हम उसी क्षण अपने इतिहास में स्वाधी मानवीय मुख्य के समस्त सम्भावित विकास का कहीं तक और कितनी गहराई तक साक्षात्कार कर पाते हैं। १.,

लक्ष्मीकांत वर्मा —

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा का नाम भी उस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वर्मा जी ने अपनी पुस्तक "नयी कविता के प्रतिमान" में आधुनिक हिन्दी काव्य की उपसम्भियों और सम्भावनाओं पर विचार किया है। अपने स्फुट निबन्धों में भी उन्होंने नयी कविता के विविध पक्षों पर विस्तृत प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि आधुनिक हिन्दी की नयी कविता के विषय में अनेक आलोचकों द्वारा जिस प्रकार के बहस्य प्रस्तुत किये जाते हैं उनसे इस के विषय में भ्रम की वृद्धि होती है। साहित्य में प्रयोग की सार्थकता पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रयोग पूर्वाग्रहों से अधिक अनुभूति और रासायनिक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रासायनिकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता, क्योंकि रासायनिक बोध में व्यक्तित्व की ठोसाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी अपरोक्ष, कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अज्ञा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रासायनिक बोध व्यक्तियुक्त अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही मिला हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतबाद से। इसीलिए प्रयोग उस आत्म सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है वह स्वयं पूर्ति नहीं है। वह मात्र पित्त

सम्बन्ध भी नहीं है, वह बेशक काम के बातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल जमत्कार की अनुसूति नहीं है इसमें युग का ध्येय संक्षिप्त हुआ है।” १

श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा ने प्रगतिवादी विचारधारा को राजनीतिकता से जागृहीत और प्रभावित बताया है, जबकि प्रयोग को उसकी अनिर्वायता के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके विचार से ‘प्रगतिवादी और प्रयोग में संबंध है “सामूहिक मानव’ और ‘व्यक्ति मानव’ का। ‘सत्तावादी मतवाद’ का और “संयुक्त संघैत मानव प्रतिमा का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता का अपना ही नहीं सकती और ‘समूह’ अधिनायकवाद फ़सिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतंत्र संघैत मानववाद को व्यापक भासा स्पष्ट करती है। “समूह” व्यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बंधी हुई सीमा से सम्पुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की सकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है, न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता जगत्वा तथा प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है उसकी उबिचना की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक अनुष्ण परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण धीपता जसता है। प्रगतिवाद समूह की प्रसाधित स्थिति होने के माते आत्महीन विवेक रहित समूह सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की माग्यता का विरोध में ही जन्म ले सकता है। किन्तु वह व्यापकता के प्रति आस्थावान है क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की न्याया की रक्षा कर सकता है अपने स्वातन्त्र्य को बर्ध ले सकता है। २

महत्त्व तथा सम्भावनाएँ —

हिन्दी में व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति के विकास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि यह प्रयोगवादी आन्दोलन के साथ संयुक्त रही है। इसलिए इसे मुख्य रूप

१ “आलोचना” ११ पृ० ३७।

२ “आलोचना”, १७ पृ० १८-१९।

से भाव ज्यों साहित्यकारों का समर्पण और सहयोग प्राप्त रहा बिम्बूने रचनात्मक क्षेत्र में इस विचारवाच से प्रेरणा ग्रहण की थी। इसलिए भारतभ में जैसे जो मामूला मिली और हकका विकास हुआ, उसका सम्बन्ध रचनात्मक क्षेत्र में हो रहे आन्दोलन से थी है। यह प्रथम वैयक्तिक अनुभूतियों की साहित्य कथा काव्य में अनुभूतिहीन रही है। इसलिए इसने अग्रगण्य विचारवाच का विरोध किया। परन्तु इस विचारवाच की ही प्रीति इसके भी बहुत से प्रेरक सुख पाठकार्य आन्दोलनों के प्रभाव के फलस्वरूप जाते। वर्तमान युग में इस विचारवाच का स्थान प्रमुख विगत पद्धतियों में अग्रवर्ग है, परन्तु अब इसकी एकमिता की भावना धीरे धीरे मूल्य हो रही है। इस कारण नवीन रूप में इसके विकास की सम्भावनाएँ आसामय हो सकती हैं।

### मनोविश्लेषणपरमक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप :—

मनोविश्लेषणपरमक वर्णों का स्यावेस हिन्दी समीक्षा के लिए अपेक्षाकृत नवीन वस्तु है। इसी कारण इस समीक्षा पद्धति के प्रवर्तक तथा अनुवर्तक समीक्षक मुख्यतः वर्तमान युग में ही मिलते हैं। आधुनिक युग में यूरोपीय मनोविश्लेषणवादी आन्दोलनों को जो व्यापक प्रतीति मिली तथा जगत् को सर्ववैश्वीय प्रचार हुआ जन्ही के फलस्वरूप हिन्दी समीक्षा पर भी उसका विद्यत रूप से प्रभाव पड़ा तथा विविध समीक्षकों ने मनोविश्लेषणपरमक दृष्टिकोण से समीक्षा के क्षेत्र में कार्य किया। यूरोप में फ्रायड, एबलर तथा मूल ने मनोविश्लेषण शास्त्र की नवीन व्याख्या करने के साथ साथ उस पर आधारित नवीनतर विद्यालयों का स्थापितकरण तथा प्रवर्तन किया। फ्रायड मानव के समस्त कार्य कलाप में काम भावना को मूल प्रेरणा के रूप में आधारित मानता है। इसीलिए अनुभूति के उपवेक्षण में वे भावनाएँ समित रूप में स्थिर रहती हैं, क्योंकि विविध नैतिक तथा सामिक अवरोध इनकी वृत्ति में बाधक होते हैं। व्यावहारिक रूप से पूर्ण न हो पाने के कारण ये भावनाएँ कूटावस्त होती चलती हैं। तथा इनकी अनुभूति ही अज्ञानी विविध अनुभूतियों तथा प्रतिक्रियाओं की जन्मदात्री होती है। इस कारण काममय भावनाओं का अधिष्पन्न शाहित्य में सर्वथा स्वाभाविक होता है और इनके सम्बन्ध मूर्खान्त के लिए मनोविश्लेषणपरमक दृष्टिकोण से उनका परीक्षण आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी जितनी विचार्य हैं और

बिना साहित्यिक माध्यम हैं उन सबसे भी आधुनिक युग में मनोविश्लेषणात्मकता का समावेश अत्यधिक बहुलता के साथ हुआ है। रचनात्मक साहित्यकार भी इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य सर्जन की दिशा में अग्रसर होते हैं। काव्य की अपेक्षा पद्य की विचारों के क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक मिलती है। उपन्यास कहानी और नाटक आदि में विशेष रूप से इसका समावेश मिलता है। इसी कारण हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में भी इस प्रवृत्ति का आरम्भ स्वाभाविक रूप से हुआ है तथा इसे प्रचलित भी मिली है।

आरम्भ —

हिन्दी समीक्षा में मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का आरम्भ अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों की अपेक्षा बिलम्ब से हुआ। पाश्चात्य देशों में मनोविश्लेषण शास्त्र का व्यापक रूप से प्रचार हुआ तथा उसी से इसकी प्रेरणा हिन्दी में भी आयी। यह प्रभाव साहित्य के किसी एक अंग तक सीमित न रहकर पद्य और पद्य के सभी रूपों में व्याप्त हुआ। हिन्दी साहित्य के अनेक कवियों कथाकारों तथा समीक्षकों ने उसको स्वीकार्य और इसके विकास में योगदान दिया। हिन्दी के समीक्षकों में पं० रामचन्द्र शुक्ल भी जैन्य कुमार डा० जयेश्वर भी 'अज्ञेय' डा० देवराज भी इत्यादि भीसी आदि ने इसके विकास में विशेष रूप से योग दिया। परन्तु यहाँ पर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत केवल केवल जन्मी विचारकों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्होंने प्रमुख रूप से इसी क्षेत्र में कार्य किया। जिन समीक्षकों का उल्लेख अन्य समीक्षा प्रवृत्तियों के अन्तर्गत किया गया है उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। यद्यपि इनकी विचारधारा में भी कहीं कहीं मनोविश्लेषणात्मक से से कुछ दृष्टि सक्षित होती है।

जैन्य कुमार —

हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक शिष्टकों में जैन्य कुमार का विविष्ट स्थान है। इनकी क्रियारमक तथा समीक्षारमक कृतियाँ इस क्षेत्र में उनके दृष्टिकोण की परिचायक हैं। अपने उपन्यास 'तुलीदा' की प्रस्तावना में उन्होंने अपने दृष्टिकोण की परोक्षता के विषय में लिखा है ".. पाठक पुस्तक में मुझे मुद्रिकित से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक अक्षर में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पार्श्वों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ प्रत्येक स्थाप पर इन पार्श्वों के अनुकूल मेरा रूप विकृत होजाता है।

उन्हें सामने करके मैं बोट में ही जाता हूँ। सृष्टि सृष्टा को सिपाये है। मुझे भी अपने इस पार्श्व के पीछे खिना माने पर सृष्टि सृष्टा को ही ब्यक्त करती है और वह स्वक मुझे ब्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो हीनती है सृष्टा नहीं। सवा है?... पर शिरजतहार के समान निष्पृह में कहाँ? मद्यपि इस पुस्तक के नामा नों में ही बोस रहा हूँ तो भी पाठक के हृदय को सीसा पाने की इच्छा भी मैं रहा ही गी है। पुस्तक में रमे हुए मुसको पाठक जैसे चाहें समझें। किसी पात्र में स्थित नहीं हूँ और हर एक पात्र हर दूसरे से भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बातें हैं। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है क्योंकि मेरी कहाँ के तो समझी है।”

वैयक्तिकता का आग्रह —

श्री ब्रिनेत्र ने पापीबाबी विचारबाग से पर्यन्त प्रभाव ग्रहण किया है, यद्यपि उन्होंने उसके स्वरूप की जो व्याख्या की है वह वैयक्तिकता से ही आपूर्णी है। उन्होंने जीवन की विद्युत् मानवीय दृष्टियों को स्वीकार किया है। किसी भी प्रकार की दूषितता अथवा संकुचितता उनके विचार से उसे अनुपित करती है। इसी कारण से उनकी विचारारम्भक रचनाओं में साम्यारिक्ता की प्रधानता हो गयी है। उनका विचार है कि “माभा होया कि “पासिटिवस”, यहाँ उसका रंग मन तक पहुँचा हुआ हो स्पष्ट ही विकृत और इन्ध कर्म है। वह मानवता को बहसा सकता है, बहका नहीं सकता जाता सकता है, जजला नहीं सकता।”

सर्वोदय —

श्रीनेत्र कुमार भी ने सर्वोदय की जो व्याख्या की है, वह भी साम्यारिक्ता की प्रधानता लिए हुए है। आधुनिक युग में जीवन के सर्द विकास का माध्यम उन्होंने इसी विचार बाग को माय्य किया है। श्रीनेत्र के विचार से “सर्वोदय” का मतलब श्रीनेत्र जी यों समझते हैं “असल में सर्वोदय का काम सबको अपनी अपनी आर्या इस तरह सर्वोदय की तरफ समिमुख कर देना है।” “आप देखिये कि इस तरह

१ ‘सुनीता’ श्री ब्रिनेत्र कुमार प्रस्तावना पृ० ६ ।  
२ ‘आसौचना’ १७ पृ० २० ।



सर्वोपय मिरा मारु बनने नहीं आया है। उसके पास समग्र दृष्टि है और वह यह कह कि राष्ट्र और उनकी राष्ट्रीयता, बिनको उनकी अपनी अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा नामे हुए हैं, मंा नहीं करना चाहता, उह परस्पर सामंभस्य जाने का मार्ग उनके आगे अवश्य खोल देता है। उधर हम सबका चाहते हैं। पश्चिम की तुलना में पूरुव का और द्विज की अपेक्षा में आर्य्य का जो पिछड़े हुए समझे जाते हैं इससे सर्वोपय आयया तो उसे अनिर्धार्य पूर्वोपय और अर्य्योदय के आरम्भ से उसे करना पड़ेगा।”१

पंचशील —

जीनेन्द्र की विचारारत्मक रचनाओं में कहीं कहीं समाज और जीवन के सम्बन्ध में राजनीतिक संगठनों और विचारकाराओं पर भी विचार किया गया है। उनके उपन्यास भी कभी कभी इसी तत्व से बोधिसल विचारों पड़ते हैं। परन्तु जीनेन्द्र ने इसे वर्तमान समय की दम्भीरता बताया है। अपने नवीनतम उपन्यास ‘अयबर्धन’ में उन्होंने लिखा है ‘अयबर्धन पाठक के पास आ तो रहा है पर कह नहीं सकता किठना वह उपन्यास सिद्ध होगा। राजनीति ने दुनिया को संकट में डाल दिया है। उसका कहना है, राज का यह रूप हो, नहीं तो दूसरे में पड़ना होगा जैसे और बात न हो, यों तनाव फेलाता है और कुछ अनिर्धार्य होता जाता है। पंचशील की बात है पर घटनात्म निर्माण के साथ उसका प्रकट अनमोल नहीं बीकता फिर वह रोम के निदान में भी नहीं उतरता। जो हो और बातों के साथ मेरे मन यह संकट भी छाया रहा है।”२

व्यक्ति का उन्वदन —

जीनेन्द्र ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति के उन्नयन पर आशर्षाशी दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका विचार है कि साहित्य पर ही यह बाधित रहता है और उही से उसके निर्वाह की अपेक्षा भी जाती है। उन्होंने एक रूपान पर लिखा है ‘मनुष्य की

१ ‘पूर्वोपय’ भी जीनेन्द्र कुमार, ।

२ वही ।

निरुप्यता में उसे बाधोचना नहीं है। अपनी उरुप्यता की अज्ञात मनुष्य में क्या देना है। अपने विचारों से व्यक्ति पराजित है तो इसीसिमे कि अपनी निबिकारता की निष्ठा उसमें पूर्ण हो गई है। व्यक्ति में अपनी ही सम्भावनाओं को जाघत करना है। नहीं है वह युष्ट नहीं है, निरुप्य नहीं है मूष्य। वह उरुप्यत आरम बाँध है। विचारों को अपने में मूल बीध है। उरुप्य की माह विज्ञा कर उसकी युष्टि को सीमित कर दिया जा सकेगा। इस अर्थ में मे उसे उबारने के लिये उसमें से विरुप्यता का स्वप्न अपना होगा। वह सुद्र नहीं है हीन नहीं है। बीतरस और असुग्पर नहीं है। वह निर्मल है, सपर्य और बाकास की वांति महान् है।”

रचनात्मक जीवन युष्टि —

बैनेत्र जी के विचार से एक सांख्यिक तथा रचनात्मक साहित्यकार की जीवन युष्टि में पारस्परिक भेद होता है। उदाहरण के लिए एक उपन्यासकार अपने पात्रों में इतना लोना है कि उसके अपने अहं का सोप हो जाता है। ऊपर बैनेत्र के उपन्यास “सुनीता” से जो उदरय प्रस्तुत किया गया है, उससे भी यही अर्थ व्यथित होता है। साम्पासकार की रचनात्मक जीवन युष्टि के विषय में बैनेत्र जी ने लिखा है, “सांख्यिक सीमांतक है। वह व्यष्टि को लांघ सकता है। व्यबहार की ओर से बाँध पींच सकता है। कर्म बल में क्या हो रहा इसके विमुक्त एकर उसी के अंतिम कारण के अनुसंधान में वह व्यस्त हो सकता है। सदानुभूति से उसे लयाव नहीं। उसे उरुप्यता चाहिए। पर उपन्यासकार का काम उसके कठिन है। उरुप्यता तो उसे चाहिए ही पर सदानुभूति भी उसे कम नहीं चाहिए और समष्टि को समझने के लिये व्यष्टि को जनसमझा वह नहीं छोड़ सकता। व्यबहार से दूर बाकर कहीं आरम सिद्धान्त पाने की उसे छूट नहीं। उसे व्यक्त और वचार्य जीवन में अव्यक्त आरम सूत्र नटित हुआ देखना है। उसे कार्य कारण की मूहला को जोर निकालना है जो एक ओर इस कर्म करम से बरे संसार को तो हनरी ओर युष्ट चिन्मय ईध उरव को पामती और समन्वित रखती है।”

इत्यादि जोषी :—

हिन्दी के मनोविस्लेषणात्मक समीक्षकों में श्री इत्यादि जोषी का नाम भी अस्तेजनीय है। किन्तु रचनात्मक साहित्य के अतिरिक्त उनकी समीक्षा दृष्टियाँ भी मनोविस्लेषणात्मकता के उरुप्य से युक्त हैं। इस युष्टिकोय से उनके वैचारिक निबन्ध संग्रहों में “साहित्य सर्वना” “विस्लेषण” “निवेदना”, “साहित्य चिन्तन” तथा “देखा परखा” आदि

के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। यूरोप के प्रमुख मनोविश्लेषणशास्त्रियों की कृतियों के गम्भीर अध्ययन तथा हिन्दी में रचनात्मक तथा समीक्षात्मक साहित्य में उनके सिद्धान्तों के समानेष्ट की दृष्टि से बोधी जी का स्थान हिन्दी में मनोविश्लेषणवादी समीक्षा गठन के पीछे में बहुत ऊँचा है।

**युग भावना तथा आडम्बर की प्रवृत्ति —**

साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में व्याप्त फैंशन अथवा आडम्बर की प्रवृत्ति का बोधी जी ने विरोध किया है। उनका विचार है कि 'समी प्रकार के फैंशन चाहे वे सामाजिक हों चाहे राजनीतिक चाहे साहित्यिक घूमकेतु के आडम्बर के साथ क्षणकाल के भाते हैं लिए और कुछ समय के लिए एक तूफान सा मचाकर घूमकेतुओं के समान ही सुप्त हो जाते हैं। जो कवि अथवा लेखक अपने युग के फ़शान को पूर्ण रूप से अपना कर उसे एक सुन्दर पालिश किया हुआ रूप देने में विशेष मधुनता प्राप्त कर लेता है उसे उसके युग ने गङ्गुसिका प्रवाहपंथी आलोचक दण द्वारा अमरत्व का पत्र छीनकर किसी दूसरे ऐसे लेखक को मिल जाता है, जो अपने युग की 'प्रगति' में सबका मुक्तिदा करने के कसा कौशल में दूसरों के काम काटता है। पर सीमा ही उसका समय भी जाता है क्योंकि उसके युग के साहित्यिक फैंशन की अवधि पूरी होने में अधिक देर नहीं लग सकती और फैंशन के अन्त के साथ ही युगपथी आलोचकों द्वारा प्रकृत अमरत्व से उसे भी अमृत होने को वाम्य होता पड़ता है।"

युगीन भावनाओं की अस्थिरता के नियम में बोधी जी का विचार है कि 'युग भावनाएँ फैंशनों की तरह ही अस्थायी और अस्थिर होती हैं। प्रचलित' यो श्रेणी के व्यक्ति उन्हें अपनाते के लिए विशेष रूप से उत्सुक रहते हैं। एक तो वे जिनका अर्धेस राजनीतिक अथवा कोई अपना सामाजिक स्वार्थ सिद्ध करना रहता है, और दूसरे वे जो एतानुगतिक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अड़ो के सामान उस नङ्गुसिका प्रवाह के साथ चलने में ही अपनी कुशल देखते हैं। जिनमें कुछ प्रवाह से अलग रह कर अपनी स्वतन्त्र बुद्धि द्वारा चलने की योग्यता का सर्वथा अमान रहता है। इस दूसरी श्रेणी के भेदपंथ व्यक्ति जानते हैं कि युग के प्रबल प्रवाह से चाहे वह कँसा ही अस्वाधी क्यों न हों

अलय रहन से बे कदापि आरमरणा नहीं कर सकते इसलिये बे अपनी पूज छक्ति अपने परिवारासकों क स्वर में स्वर मिशाने न करना देते हैं बलिष्ठ कभी कभी मयमोभी धुस्कों क ये भावभी बेत उनस थी ऊँधी आबाव में चित्लाकर युग बर्म कबारे लगाने लपते हैं।<sup>१</sup>

छायाबाव की उपलब्धि —

हिन्दी काव्य के क्षेत्र में श्री छायाबावी नामक आद्योमन हुआ उसके बिषय में इनाबन्ध जोषी के मन्तव्य महत्वपूर्ण समझे जाते रहे हैं। छायाबाव की उन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में हुई चार आन्वियों में अम्यउम माना है।<sup>१</sup> उनका बिचार है कि "इस युग न एक बड़े सन्ने भरसे के बार ऐसी कविता को अम्य रिया बिसे वास्तबिक अर्थ में कविता कहा जा सकता है। इस युग में कवियों का बड़ अन्तरावेप मुक्त रूप स बैबिन्ध्य पूर्ण सुन्बर आर्सें ठामों और सयों म फूट पड़ा।"<sup>२</sup> जोषी जी न "कामायनी" को छायाबावी कविता की सर्वोच्च उपलब्धि के रूप में मान्य किया है। उनका कथन है कि "छायाबावी युग के एक प्रबान कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति को मैं अपबाव स्वरूप मानता हूँ। वह कृति है प्रसादजी की "कामायनी"। यदि "कामायनी छायाबावी कविता की "कटेवरी" में आ सकती है तो यह मानना ही पड़ेगा कि छायाबाव ने कम स कम एक ऐसी बीव हमें दी है जो संसार की किसी भी बापा के साहित्य क मिय मौरव स्वरूप समझी जा सकती है। इस काव्य में न अम्य छायाबावी कृतिओं की नपुंसकता बाई जाती है न कोर धूम्यबाव। न इसमें हनारे आरमभेमी "नासिबिस्टि" छायाबावी कवियों की पिछली अथवा ऊँसनेबुल वेदना की बाड़ पाई जाती है न कविता कला के साथ कौतुक क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति। इसके छक्तिधामी कवि ने शाववत जीवन की महारई में बूबकर समग्र बिपुल तथा बिपद् का पर्व हमारि भाँसों से हटाने का महान् प्रयत्न किया है और जीवन के केन्द्र में प्रबाहित होने वाली मूल वेदना की बिबकम्नोबिनी बाप के अग्रतिहुत बेप से हमें परिचित करवाया है।"<sup>३</sup>

१ 'बिबेचना' की इनाबन्ध जोषी पृ० ३८-३९।

२ वही पृ० १८।

३ वही पृ० १८।

४ वही पृ० ३१।

साहित्य और वैयक्तिक कुटा —

जोसी जी के विचार से प्राचीन युगीन भारतीय साहित्य में वैयक्तिक कुटा को कमी भी उतना महत्व नहीं दिया गया जितना आज दिया जा रहा है। उनकी बात है कि समाज की वाह्य परिस्थितियाँ ही वैयक्तिक कुटा को जन्म देती हैं। वे ही उसके विकास अथवा ह्रास का कारण होती हैं। जोसी जी के विचार से "वैयक्तिक कुटा की प्रतिक्रिया मोटे तौर पर दो रूपों में होती है। एक तो यह कि कुटिल व्यक्ति जीवन से हारकर भीतर के और बाहर के संघर्ष से क्लृप्तकर इस हद तक बढ़ गन जाम कि उस स्थिति से उबरने की कोई प्रवृत्ति ही उसमें शेष न रहे। दूसरा यह कि कुटिल भावनाएँ विद्रोह का रूप धारण कर लें। यह विद्रोह भी दो रूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है। एक तो भीतर की और बाहर की परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट विद्रोह और कुटिल मन-स्थिति से उबरने और ऊपर उठने का सक्रिय प्रयत्न दूसरा आत्म विद्रोह जो विद्रोह का विकृततम रूप है। कहना न होगा कि इनमें बढ़ता अथवा पतनमान वाली प्रतिक्रिया निश्चिष्ट है। आत्म विद्रोह का रूप इसके बाद आता है सक्रिय और सचेष्ट विद्रोह वाली प्रतिक्रिया ही इन तीनों में स्वस्थ स्वाभाविक और सर्वोत्तम है। यही विद्रोह जीवन को बलि देता है जब से जब परिस्थितियों में विस्फोट पैदा करता है और विद्वतियों को बोककर जीवन में निरन्तर परिवर्तन लाता रहता है।"

मनोविज्ञान की ऐकान्तिकता :—

मानुषिक हिन्दी साहित्य में मनोविज्ञान के तत्त्वों पर विचार करते हुए जोसी जी ने बताया है कि इसमें उतना समावेश विविध रूपों में हुआ है। उन्होने स्वयं अपनी औपन्यासिक कृतियों के सम्पर्क में विचार करते हुए कहा है कि 'मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान धर्मत्व व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्भर प्रहार करने का रहा है। मानुषिक समाज में पुरुष की की शक्तिता ज्यों ज्यों बढ़ती जाती जा रही है त्यों उदका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता जाता जाता है। अपने इस कमी तुल्य न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की विष्टा में जब उसे पम पम पर स्वाभाविक अतकतता मिलती है, तो वह बीजना उठता है

और उस नोखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आराम बिनाश के पहले अपने बाह्य पाठ के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। शूक वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिमान का संबंध व्यक्तियों के भीतर उही भीषण रूप में बस रहा है जिस प्रकार बाह्य जगत् में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संबंध इसलिए उपग्राहकार की अत्यन्त बटिल प्रकृत पात्रों का द्विबलेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आकार पर करना पड़ता है।<sup>१</sup>

मनोविश्लेषणवाद —

ओसी जी का विचार है कि हिन्दी के वर्तमान साहित्य में मनोविश्लेषण के विषय में जिन आरंभों का प्रचार है, वे बहुत भ्रामक हैं। उनके विचार से मनोविश्लेषण अपने धाप में कोई बाध नहीं है। वह भी एक शैली ही है जिसका प्रयोग विविध साहित्यकार विभिन्न स्तरों में करते हैं। उनका विचार है कि साहित्य में इस शैली का प्रयोग व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से भी किया गया है तथा इसके विपरीत भी। बौद्धिकता के सम्बन्ध में इस की मान्यताओं का विस्तार करते हुए उन्होंने लिखा है "जनवादी दृष्टिकोण को अपनाते में जिस सबसे बड़ी बाधा का सामना आज हमारे मध्यवर्गीय बौद्धिक समाज को करना पड़ रहा है वह यही अहंवादी संस्कार है और यह बेतना के स्तर प्रति स्तर में जमा संस्कार सङ्घ में उबड़ने वाली बीज नहीं है। अपनी बातों का कोई भी प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता बल्कि इस प्रकार बाहर से आने वाले बातों से वह संस्कार अपने को बचनेतना की ओर अधिक गहुराई में छिपाकर आत्मरक्षा करता है। उसके निराकरण का एक मात्र धपाय है सूक्ष्म मनोविश्लेषण के अंतः प्रवेशक अस्त्र का प्रयोग। अतएव जो मनोवैश्लेषिक कलाकार इस प्रकार के उपार्यों द्वारा जनवादी मनोनाशना के लिए जमीन तैयार करते हैं उनका कार्य क्या दूसरे प्रगतिशील कलाकारों से कुछ कम महत्वपूर्ण है? उन्हें प्रतिश्लेषवादी कठोर रैना वास्तविकता के प्रति आँख मूँद लेना है।"<sup>२</sup> उन्होंने मनोविश्लेषणवाद को अंतर्बोध के क्षेत्र में बड़ी सीमा तक प्रगतिशील बताया है, जिस सीमा तक मार्क्सवाद बहिर्बोध में।<sup>३</sup>

१ 'द्विबलेषण' जी इलाखन्ध ओसी पृ० ८०-८१।

२ 'साहित्य विमान', पृ० २७।

३ वही पृ० २८।

महत्त्व तथा सम्भावनाएँ :—

ऊपर यह उकेत किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अस्तमंत होने के ऐसे मामों का उद्देश्य भी हो सकता है जो मुख्य रूप से निम्न समीक्षा प्रवृत्ति के अस्तमंत महत्त्वपूर्ण हैं। इसी कारण से उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मनोविश्लेषणात्मक विद्वानों का प्रभाव और समावेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मनुष्य के अस्तमंत के विश्लेषक तर्कों की बलवृद्धि के साथ ही साथ उस पर विविध क्षेत्रीय प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा उसके परिणामों की बहुरूपता वहाँ मनोविश्लेषण के वैज्ञानिक निर्वर्तन की वृद्धि से महत्त्व रहती है, वहाँ रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसका मुख्य होता है। इसके अतिरिक्त पूर्ण क्रियात्मक साहित्य के विविध रूपों के क्षेत्र में मनोविश्लेषण का प्रभाव बढ़ रहा है जहाँ रचनात्मक रूप में ही समीक्षा के क्षेत्र में भी उसकी सम्भावनाएँ स्पष्ट हो रही हैं।

### सोपपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ सञ्चित होती हैं उनमें से एक सोपपरक भी है। बीसवीं सताब्दी में भारत में विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध कार्य के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मुद्रांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी बृहत् प्रयत्नों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निर्धारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रभावितियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रचार के साथ ही शोध शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। जब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों में हिन्दी तथा हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र धीसी ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

भारत —

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह बात होता है कि उसका भारत में विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक एन्टिक्वैटिज से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा "तुलसीदास का धर्मसूत्र" अथवा 'विद्यानोमी आठ तुलसीदास' शीर्षक प्रथम पर श्री जे० एन० कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिग्री' की उपाधि प्रदान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा० बाबूराम सक्सेना को 'बबरी का विकास' अथवा 'द्विचोसूत्र आठ बबरी' शीर्षक प्रथम पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा श्री० मिट० की उपाधि सन् १९११ में प्रदान की गयी थी। उसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का भारत में मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

बर्षाकर —

हिन्दी में शोध प्रवृत्तियों का विकास जिस तीव्र गति से हुआ है, उसका प्रकाशन उक्त गति से नहीं हो सका है। नवीन प्रवृत्तियों को छोड़कर पहले जिसे नये नये अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अमी तक अग्रकायित हैं। इसलिए शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय सम्यक रूप से नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिए यहाँ हिन्दी में किये गये शोध कार्य को कुछ शीर्षकों में विभाजित करके उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में अन्य विषयों के अनुसार भी प्रवृत्तियाँ रचना हुई हैं परन्तु उनमें प्रवृत्तियुक्त अध्ययन की प्रभावता है। इस कारण उनकी यहाँ यहाँ नहीं की जा रही है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि उपसम्बन्धित विषय के आधार पर विषय विभाजन करते समय अनेक ऐसी शोध कृतियों के नाम भी यहाँ आ गये हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति —

हिन्दी में जो साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है, उसका विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनका सम्बन्ध विविध कवियों के स्वतंत्र अध्ययन से है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हिन्दी काव्य के विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्बन्धित कृतियों को लिया जा सकता



महत्व तथा सम्भावनाएँ :—

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक ऐसे नामों का उल्लेख भी हो सकता है जो मुख्य रूप से भिन्न समीक्षा प्रवृत्ति के अन्तर्गत महत्वपूर्ण हैं। इसी कारण से उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मनोविश्लेषणात्मक विद्वानों का प्रभाव और समावेश निरन्तर बढ़ता जा रहा है। मनुष्य के अन्तर्गत के विश्लेषक तत्वों की खोज-पि के साथ ही साथ उस पर विविध शैक्षिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा उसके परिणामों की बहुरूपता जहाँ मनोविश्लेषण के सैद्धांतिक निदर्शन की दृष्टि से महत्व रखती है, वहाँ रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसका मूल्य हाता है। इसका अतिरिक्त शैक्षिक क्रियात्मक साहित्य के विविध रूपों के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव बढ़ रहा है, अतः स्वाभाविक रूप में ही समीक्षा के क्षेत्र में भी उसकी सम्भावनाएँ स्पष्ट हो रही हैं।

### शोधपरक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं उनमें से एक शोधपरक भी है। बीसवीं शताब्दी में भारत में विविध विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शोध नाम के रूप में प्राचीन साहित्य की खोज और मूल्यांकन के साथ ही आधुनिक साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के विषय में भी बृहत् प्रबन्धों की रचना की गयी है। शोध के अनेक रूपों का निर्धारण हुआ है तथा उसकी वैज्ञानिक प्रणालियों की भी रचना हो रही है। उच्च शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ शोध कार्य का भी विकास होता रहा है। जब भारतवर्ष के विविध विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी समीक्षा विषयक इतना अधिक कार्य हो रहा है कि इसकी एक स्वतंत्र शैली ही विकसित हो गयी है। इसी को हम शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

भारत —

हिन्दी तथा हिन्दी से सम्बन्धित शोध कार्य के इतिहास को देखने पर यह बात होता है कि उसका भारतमन्त्र विदेशी विश्वविद्यालयों में हुआ। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम सन् १९१८ में लम्बन विश्वविद्यालय द्वारा "तुलसीदास का धर्मदर्शन" अथवा 'पियामोत्री आफ तुलसीदास' शीर्षक प्रबन्ध पर श्री जे० एन० कारपेंटर को 'डाक्टर आफ डिग्री' की उपाधि प्रदान की गयी। भारतीय विश्वविद्यालयों में सर्वप्रथम डा० बाबूराम ठकुरेना को 'अध्यायी का विकास' अथवा 'ईथोस्पूयन ऑफ अध्यायी' शीर्षक प्रबन्ध पर प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० की उपाधि सन् १९३१ में प्रदान की गयी थी। उसी समय से हिन्दी में शोध कार्य का भारतमन्त्र मानना चाहिए, जो इस प्रवृत्ति का रूप निर्धारक है।

वर्गीकरण —

हिन्दी में शोध प्रश्नों का सेखन जिस तीव्र गति से हुआ है, उसका प्रकाशन उस गति से नहीं हो सका है। नवीन प्रबन्धों को छोड़कर पहले लिखे गये अनेक महत्पूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं। इसलिये शोध परक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप का परिचय सम्यक रूप से नहीं प्राप्त हो सकता है। इसलिये यहाँ हिन्दी में किये गये शोध कार्य को कुछ शीर्षकों में विभाजित करके उनका परिचय प्रस्तुत किया जायगा। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में अन्य विषयों के अनुसार भी प्रबन्ध रचना हुई है परन्तु उनमें प्रवृत्तिगत अध्ययन की प्रधानता है। इस कारण उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि उपलब्ध विवरण के आधार पर विषय विभाजन करते समय अनेक ऐसी शोध कृतियों के नाम भी यहाँ आ गये हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो सका है।

साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति:—

हिन्दी में जो साहित्य विषयक शोध की प्रवृत्ति है, उसका विभाजन तीन वर्गों में किया जा सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनका सम्बन्ध विविध कवियों के स्वतंत्र अध्ययन से है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत हिन्दी काव्य के विविध सम्प्रदायों के अध्ययन से सम्बन्धित कृतियों को लिया जा सकता

है तथा तीसरे वर्ग के अन्तर्गत उन कृतियों की गणना की जा सकती है जिनका सम्बन्ध साहित्य धारण के सैद्धान्तिक अध्ययन से है। प्रवृत्तिगत अध्ययन प्राप्त आधुनिक युगीन साहित्य समीक्षा से ही सम्बन्धित है। इस कारण से इनकी चर्चा यहाँ पर नहीं की जा रही है।

### कविपरक शोध प्रवृत्ति

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र —

हिन्दी में कवि परक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत सर्वप्रथम डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का नाम लिया जा सकता है। उनका ग्रन्थ 'तुलसीदास' शीर्षक से सन् १९३८ में डी० मिट्ठू की उपाधि के लिए नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत किया गया था। किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय से शोध उपाधि के लिए स्वीकृत की जाने वाली किसी कवि के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित यह सर्वप्रथम कृति थी। बाद में यह रचना हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई। इसके हिन्दी में कवियों के स्वतन्त्र अध्ययन की परम्परा का तीव्रपटि से प्रचार हुआ और हिन्दी के अनेक महान् कवियों के जीवन और कृतित्व से सम्बन्धित शोध कार्य हुआ।

अन्य समीक्षक —

महाकवि तुलसीदास के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में तुलसीदास जीवनी और कृतियों का समासोपनात्मक अध्ययन के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त, "तुलसीदास और उनका युग" के लेखक डा० रामपति शीक्षित "तुलसीदास जीवनी और विचारधारा के लेखक डा० राजागण रस्तोपी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

डा० ज्ञानेश्वर वर्मा —

महाकवि सूरदास के जीवन और कृतित्व पर स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत करके डा० ज्ञानेश्वर वर्मा ने प्रयाग विश्वविद्यालय से डी० मिट्ठू की उपाधि प्राप्त की। उनके शोध का विषय 'सूर जीवनी और कृतियों का अध्ययन' था। यह ग्रन्थ बाद में हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके परचासू सूरदास पर अन्य भी अनेक शोध कर्तवियों ने शोध कार्य किया।

अन्य समीक्षक —

महाकवि सुरदास के स्वतन्त्र अध्ययन से सम्बन्धित अन्य समीक्षकों में 'सुरदास और उनका साहित्य' के लेखक डा० हृदयनाथ झा तथा 'सुर की काव्य कला' के लेखक डा० मनमोहन पीठम बादि के नाम उल्लेखनीय हैं। तुलसीदास तथा सुरदास के बतिरिक्त अन्य महाकवियों के स्वतन्त्र अध्ययन करने वाले समीक्षकों में 'रीतिकाल की भूमिका में वेद का अध्ययन' के लेखक डा० लक्ष्मण, "अन्य बरबादी और उनका काव्य" के लेखक डा० विपिन बिहारी विवेकी केसरीदास उनके रीति काव्य का विशेष अध्ययन के लेखक डा० किरण चन्द्र शर्मा ज्ञापनी उनकी कला और बचन के लेखक डा० जयदेव कुमभोष्ठ, "रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला" के लेखक डा० विश्वाम्बर नाथ भट्ट मीराबाई के लेखक डा० छोटेसाम "अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति के लेखक डा० अम्बादत्त पन्त, 'बनामन्त्र और मध्यकाल की स्वच्छन्द काव्यशास्त्र के लेखक डा० मनोहर नाथ चौहान 'सुन्दरदास के लेखक डा० महेशचन्द्र सिंह 'कवि परमानन्द और उनका साहित्य' के लेखक डा० गोवर्धनदास धुसस, परमानन्ददास कीर्तनी और ज्ञान के लेखक डा० वयाम शंकर शीमित "सुन्दर कवि मनुकादास" के लेखक डा० तिस्रोकी नाटयन शीमित, बाचार्य कैशवदास" के लेखक डा० हीरादास शीमित बाचार्य मिर्जापीदास के लेखक डा० नाटयनदास जाला 'प्रतिष्ठान कवि और बाचार्य' के लेखक डा० महेश कुमार, 'केसव और उनका साहित्य' के लेखक डा० विजयपाल सिंह, कबीर की विचारदास के लेखक डा० पवित्र विदुषायत "हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्ददासरी काव्य और विशेषतः पं० पीपल पाठक की कृतियों का अनुशीलन" के लेखक डा० रामचन्द्र मिश्र 'प्रसाद का काव्य' के लेखक डा० प्रेमशंकर ठिवारी, 'प्रसाद का काव्य और दर्शन' की लेखिका डा० ज्ञानवती अग्रवाल "हितवेद और उनका काव्य" के लेखक डा० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी "वैदिकीकरण गुप्तः कवि और भारतीय संस्कृति के आकाशात्" के लेखक डा० उमाकान्त पायल तथा "गुप्त की काव्य विकास" के डा० कमलाकान्त पाठक का नाम लिखा जा सकता है।

### सम्प्रदायपरक शोध प्रवृत्ति

डा० पीतानन्ददास बड़पाल :—

हिन्दी काव्य में निर्बुद्ध सम्प्रदाय शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके डा० पीतानन्द

एत शङ्करास ने सन् १९३४ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। यह ग्रन्थ बाद में पं० परशुराम भट्टबेदी तथा डा० भगीरथ मिश्र द्वारा सम्पादित होकर अथर्व पब्लिशिंग हाउस लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें लेखक ने हिन्दी शोध के क्षेत्र में एक दिशा की ओर संकेत किया जिसके अनुसार इसकी परम्परा का बीज प्रसार परबर्ती काम में दिखायी पड़ता है।

#### डा० दीनदयाल गुप्त —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में विविध साम्प्रदायिक काव्य सम्प्रदायों के खोजात्मक अध्ययन की परम्परा में अष्टछापी कवियों का विशेषण सर्वप्रथम डा० दीनदयाल गुप्त द्वारा किया गया। उन्होंने सन् १९४४ में प्रयाग विश्वविद्यालय से 'अष्टछाप और वस्तुतः सम्प्रदाय' शीर्षक प्रबंध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त की। उसका ग्रन्थ बाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा दो भागों में प्रकाशित कर दिया गया। इस ग्रन्थ में लेखक ने अष्टछाप के अन्तर्गत गिने जाने वाले आठ कवियों शूरदास परमानन्ददास कुम्भारदास कुन्ददास गम्बरदास भट्टभूषणदास, गोकुलदास तथा छीतस्वामी के जीवन काव्य और विचारधारा का सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ के पश्चात् इन कवियों पर इतना प्रभाव पड़े अध्येयन की भी प्रेरणा मिली तथा अनेक शोध कर्तव्यों में इससे प्रभाव ग्रहण करके उनका अध्ययन किया।

#### डा० मुंशीराम शर्मा —

डा० मुंशीराम शर्मा ने सर्वप्रथम 'भारतीय साधना और शूर साहित्य' शीर्षक प्रबंध की रचना करके आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९५१ में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी में नलिन भावना और धर्म साधना के विशेष सम्बन्ध में लिखित यह विशिष्ट महत्त्व की कृति है। यह ग्रन्थ साधना चरण कागपुर द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। नलिन भावना के विस्तृत अध्ययन से सम्बन्धित दूसरी पाठ्य कृति की रचना डा० मुंशीराम शर्मा द्वारा 'नैतिक नलिन और हिन्दी के अध्ययनात्मक काव्य में उसकी अभिव्यक्ति' शीर्षक से की गयी। इस ग्रन्थ पर लेखक को आगरा विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९५६ में डी० लिट् की उपाधि प्रदान की गयी। बाद में यह ग्रन्थ "नलिन का विकास" शीर्षक से श्रीलम्का विश्व विद्यालय, कोलम्बो द्वारा प्रकाशित हुआ। इतने व्यापक अध्ययन और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत की गयी यह अपने विषय की सर्वप्रथम शोध कृति है।

डा० विनय मोहल घर्मा —

इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत निम्न भाषाओं के सांप्रदायिक कवियों के अध्ययन की विद्या में सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण काम डा० विनयमोहल घर्मा द्वारा किया गया। उन्होंने हिन्दी को मराठी शब्दों की देन शीर्षक प्रबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि सन् १९३६ में नामपुर विश्वविद्यालय द्वारा प्राप्त की। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अन्तःसाहित्य पर मध्यकासीन अन्तःसाहित्य के लेखक डा० रामबलराजन पौडय तथा 'शंभु कवि हरिदास और उनके पंथ' शीर्षक प्रबन्ध के लेखक डा० ममवद्वत मिश्र ने भी कार्य किया।

अन्य समीक्षक —

सांप्रदायपरक शोध प्रवृत्ति के अन्तर्गत अन्य समीक्षकों में 'रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव के लेखक डा० यशवीररायण श्रीवास्तव' 'राममठि में रहिक सम्प्रदाय' के लेखक डा० भववती प्रसाद सिंह स्वामी हरिदास की का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य' के लेखक डा० गोपालचन्द्र घर्मा 'आयसी के परवर्ती सूफी कवि' की लेखिका डा० सरला शुक्ल, 'नाम सम्प्रदाय के हिन्दी कवि के लेखक डा० सान्ति प्रसाद जयदोला 'शिवतरायजी सम्प्रदाय और उसका हिन्दी काव्य' के लेखक डा० रामचन्द्र तिसारी 'राधाकल्याण सम्प्रदाय के अन्तर्गत में हितहिन्दु संघ का विशेष अध्ययन' के लेखक डा० विजयेन्द्र स्मातक 'हिन्दी की निर्गुण काव्यशास्त्र और उसकी शार्ङ्गिक पृष्ठभूमि' के लेखक डा० विजयेन्द्र स्मातक 'सिद्ध साहित्य' के लेखक डा० बरसेवीर मारपी तथा 'सूफी मत और हिन्दी साहित्य' के लेखक डा० विमलकुमार शैव शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

### शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति

डा० रामचंद्र शुक्ल 'रसाल' —

हिन्दी में शास्त्रपरक शोध प्रवृत्ति के शारम्भ का श्रेय डा० रामचंद्र शुक्ल 'रसाल' की है। उन्होंने हिन्दी काव्य शास्त्र का विकास शीर्षक प्रबन्ध की रचना करके प्रथम विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९३७ में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। यह ग्रन्थ इस विषय पर प्रस्तुत की गयी सर्वप्रथम शोध रचना है। इसके पश्चात्

हिन्दी शोध के क्षेत्र में साहित्य शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों तथा प्रवृत्तियों से सम्बन्धित शोध कार्य हुआ ।

डा० भगीरथ मिश्र —

इसी परम्परा में साहित्य शास्त्र के सभी सम्प्रदायों का ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वांगीण अध्ययन उपस्थित करने की दिशा में दूनरा महत्वपूर्ण कार्य डा० भगीरथ मिश्र ने किया । उन्हें सन् १९४७ में सलनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' शीर्षक प्रबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी । बाद में यह ग्रन्थ सलनऊ विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित भी कर दिया गया ।

अन्य समीक्षक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत साहित्य शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी शोध कार्य करने वालों से 'हिन्दी काव्य शास्त्र' के लेखक डा० जानकी नाथ सिंह 'मनोर' 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' के लेखक डा० भोलाचन्द्र व्यास 'मनोविज्ञान के प्रकाश में उस सिद्धान्त का अध्ययन' के लेखक डा० जैलबिहारी गुप्त 'राकेश तथा 'साधुनिक हिन्दी काव्य में कल्प मोक्ष' के लेखक डा० पुस्तमान सुनल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

### भाषा वैज्ञानिक शोध प्रवृत्ति

संक्षेप :—

भाषा वैज्ञानिक शोध की प्रवृत्ति का विकास हिन्दी में कई स्तरों में हुआ । इस विषय पर निम्ने नये शोध प्रबन्धों का विभाजन जनेक स्तरों में किया जा सकता है । अभी तक हिन्दी में भाषा विज्ञान विषयक जो शोध कार्य हुआ है, वह प्रारम्भिक कार्य ही है तथा इस क्षेत्र में व्यापक सम्भावनाओं की ओर संकेत करता है । इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत हुए कार्य को ऐतिहासिक, व्याकरणिक शैलीपरक तुलनात्मक आदि स्तरों में विभाजित किया जा सकता है ।

ऐतिहासिक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' के लेखक डा० बीरेन्द्र

बर्मा, 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास' के लेखक डा० उदयनाचम तिवारी  
बर्मा का विकास' के लेखक डा० बाबुराम चवसेना, 'बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति  
और विकास के लेखक डा० मनिनी मोहन सान्यास तथा 'पैपिती भाषा का विकास'  
के लेखक डा० सुमर झा के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब रचनाओं में लेखकों का  
दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भाषा के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना  
रहा है।

#### व्याकरणिक —

व्याकरणिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'हिन्दी भाषा का व्याकरण' के लेखक  
कामता प्रसाद गुरु तथा 'ब्रजभाषा व्याकरण' के लेखक डा० वीरेन्द्र वर्मा के नाम  
विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

#### बोली परक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'भाजमगढ़ जिले की कृषक सभ्यावली' के लेखक  
डा० हृषीर प्रसाद गुप्त, 'मधुपुर जिले की कृषक और व्यावसायिक सभ्यावली' के  
लेखक डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' 'गढ़वानी भाषा का अध्ययन' लेखक डा० पण्डितदास  
दावरा जिले की बोली' के लेखक डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी निमाड़ी भाषा और  
और साहित्य' के लेखक डा० कृष्णलाल हुँस तथा 'रामस्वामी भाषा और साहित्य' के  
लेखक डा० हीरलाल यादवस्वधि आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

#### तुलनात्मक —

इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' के लेखक  
डा० कैलाशचन्द्र भाटिया का नाम उल्लिखित किया जा सकता है। भाषा विज्ञान के  
क्षेत्र में तुलनात्मक अध्ययन की परम्परा का विकास अब तीव्रतर गति से होने  
की सम्भावनाएँ हैं, क्योंकि विविध क्षेत्रीय अध्ययन उपलब्ध हैं तथा उनके तुलनात्मक  
अध्ययन की आवश्यकता अधिक है।

#### ग्रन्थ तथा सम्पादनार्थ —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भाषा विज्ञान विषयक धोप का क्षेत्र अभी तक बहुत  
उपेक्षित था। इस समय भी आवश्यक पत्रों तथा छात्रों के अभाव में इस विद्या में



सम्यक् रूप से कार्य नहीं हो रहा है। इसके अतिरिक्त ज्ञाना विज्ञान के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति भी विद्वानों में अपेक्षाकृत कम रही है। अतः अनेक विद्वत् विद्यालयों में ज्ञाना विज्ञान सम्बन्धी अध्ययन तथा शोध के विकास को महत्त्व देने के साथ ही उस क्षेत्र में रुचि भी बढ़ रही है और इस दृष्टि से इसकी सम्भावनाएँ भी आशाजनक हो सकती हैं।

### व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति

स्वरूप —

व्याख्यात्मक समीक्षा को 'इंटरप्रिटेटिव क्रिटिसिज्म' भी कहते हैं। आधुनिक युग में इस समीक्षा प्रवृत्ति का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। इसका आधार सांस्कृतिक समीक्षा के सिद्धान्त ही होते हैं यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण में कभी कभी तर्कपूर्ण तर्कों का समावेश भी इसमें दिखाई देता है। इस समीक्षा पद्धति के अनुसार साहित्यिक दृष्टिकोण में वैयक्तिकता अथवा सामाजिकता का कट्टर आग्रह नहीं होता प्राचीन सिद्धान्तों की मान्यता आवश्यक है। क्योंकि उनकी रचना ऐसे मनीषियों ने की थी जिनकी दृष्टि में विवेक के साथ यह सामर्थ्य भी थी कि वे युग और काम की परिधि से आगे देख सकें। इसलिये इस कोटि के महान् चिन्तकों द्वारा निर्धारित साहित्य सिद्धांत स्वीकार करके ही समीक्षा का कार्य करना चाहिए और यथा सम्भव सांस्कृतिक सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। साथ ही यह समीक्षा प्रवृत्ति युग बीजक के तर्कानुसार दृष्टिकोण की भी अपेक्षा नहीं करती है और समीक्षा के विषय के अनुसार दृष्टि निर्धारण करती है।

प्रारम्भ —

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्याख्यात्मक प्रवृत्ति अपने प्रारम्भिक रूप में आरम्भ युग से ही मिलती लगती है। उस समय इसका जो रूप था वह टीका प्रवृत्ति से मिलता जुलता था। आरम्भ युग के अनेक लेखकों ने इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अनेक प्रकार की पुस्तकें लिखीं। उनमें विविध विषयक प्राचीन ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी थी। इस प्रकार की कृतियों में श्री मानसिन्धु पाठक लिखित "मानस सफावती" श्री शिवसाय पाठक द्वारा सम्पादित "मानस मयंक" तथा श्री शिवराम सिंह द्वारा लिखित

“मानसतरंगप्रबोधिनी” आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाब में धीरे धीरे इस प्रवृत्ति का स्वरूप परिवर्तित होता गया और इसके दृष्टिकोण में भी व्यापकता आयी। नवीन सिद्धान्तों और विचार प्रणालियों के समन्वय से इसे अपेक्षाकृत अधिक माय्यता प्राप्त हुई। नीचे इस परम्परा में आने वाले प्रमुख समीक्षकों के विचारों का परिचयात्मक विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

#### समिता प्रसाद मुकुल —

व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति के अन्तर्गत “काव्य चर्चा” तथा “साहित्य विज्ञासा” नामक कृतियों के अलावा प्रो० समिताप्रसाद मुकुल का नाम उल्लेखित करना आवश्यक है। मुकुल जी की आलोचना दृष्टि में सरलता के साथ ही साथ उच्च काटि का गम्भीर चिन्तन भी मिलता है। उन्होंने वहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य की महान् कृतियों की समुचित और शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की है, वहीं दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त अनेक समस्याओं पर भी चिन्तन किया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के मुस्वाकन के लिये नयी दृष्टि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि ‘साहित्य के विज्ञान मात्र का ज्ञान ही सफल आलोचक के लिए पर्याप्त नहीं उस साहित्य के अनेक अंग के निर्माण की व्यावहारिकता से भी परिचित होना चाहिए। यह वह सभी ज्ञान सकता है जब स्वयं विविध साहित्यों की रचना करने का प्रयास करे।’ इसमें यह स्पष्ट है कि साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में दृष्टिकोण की रचनात्मकता पर मुकुल जी ने बहुत बल दिया है।

#### परसुराम जगुर्वेदी —

परसुराम जगुर्वेदी की समीक्षा कृतियों में ‘नीराबाई की पथावली’, ‘सूक्ष्म काव्य संग्रह’, हिन्दी काव्यचारा में प्रेमभावना का विकास ‘उत्तरी भारत की संस्कृत परम्परा एवं काव्य ‘मध्य कालीन प्रेम साधना’ ‘माणस की राम कथा’ तथा ‘नव-निबन्ध’ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जगुर्वेदी जी की व्याख्यात्मक शैली का मुख्य गुण उसकी सर्वांगीणता है। उन्होंने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—‘किसी साहित्यिक कृति विशेष की आलोचना उड़ी पद्या में पूर्ण करी जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो किन्तु उसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी प दिया गया हो।’ १

इसी प्रकार स लेखक ने जिन कृतियों में मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा की है वहाँ भी विषय विस्तार का पुन मितता है ।

पद्मसालपुन्नासाल बक्षी —

श्री पद्मसाल पुन्नासाल बक्षी का नाम इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है । बक्षी जी ने काव्य क्षेत्र से साहित्य सेवा का प्रारम्भ किया था इसलिए उनकी सीमा में धारात्मकता भी अधिकता दिखाई पड़ती है । गम्भीर चिन्तन के साथ ही उनका कवि हृदय भी उनकी विचारारत्मक रचनाओं में आभासित होता है । बक्षी जी ने एक स्थान पर लिखा है कि “कवि का जीवन काव्य नहीं है किन्तु काव्य ही उसका जीवन है । इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक नहीं देख सकते ।” उनके विचार से “काव्य के अन्तर्गत जो उल्य है वह भी तब उपसम्ब होता है जब हम कवि के जीवन तथा उसके जीवन इतिहास के साथ तुलना करके देखते हैं”<sup>१</sup> । इससे स्पष्ट है कि बक्षी जी काव्य या साहित्य के सम्बन्ध में युग जीवन पर विचार करना आवश्यक समझते हैं । उनके विचार से युग जीवन से पृथक्कर साहित्य के लिए ठीक नहीं है । उन्होंने लिखा भी है कि “हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन साधारण भाव और विचारधार से हमारे आधुनिक साहित्य सेवियों के ज्ञान और चिन्तन का व्यवधान कमरा बढ़ता जा रहा है इसलिए आधुनिक साहित्य जातीयभाव भावर्षे और भाकासा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता । कारण यह कि जाति कुछ अंग्रेजी पड़े तिकों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक रभा जानने के लिए परभ्रुटीर में बास करने वाले अधिहित किसानों पुसाहों मजदूरों आदि लोगों के अथाओं आयाओं और भाकासाओं को जानना होना । २ बक्षी जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्राचीनता का स्वीकरण किया तथा उसके साथ ही नवीनता का भी बहिष्कार नहीं किया । वह किसी भी कृति या कृतिकार की आलोचना करते समय उस युग की पूष्ठभूमि का विस्सेपन करना आवश्यक समझते हैं, जिससे उसकी रचना हुई । इसलिए उनकी आलोचना में प्रायः उन कारणों के भी उक्ति मिलते हैं जो किसी कृति की उन्नता या मध्यमता का निर्धारण करते हैं । “विश्व

१ “विश्व साहित्य” श्री पद्मसालपुन्नासाल बक्षी पृ० १२० ।

२ “अरत्नती”, सम्पादकीय, अगस्त १९२८ ।

साहित्य", "हिन्दी साहित्य" विमर्श प्रदीप" तथा "हिन्दी तथा साहित्य भादि हृदियों म उनका इसी प्रकार का दृष्टिकान विमर्श है ।

संयोजक —

इसी परम्परा में डा. नानन्द का नाम भी दिया जा सकता है । डा० संयोजक की समीक्षारम्य हृदियों म "साहित्य की सीमा" "युग जो की काव्य बना" हिन्दी एकाकी "अमरुद मोर उतका बना" "ब्रजवीक साहित्य का अन्वयन" "कला कल्पना मोर साहित्य" तथा "हिन्दी साहित्य म आधुनिक प्रवर्तियाँ" भादि हैं । डा. संयोजक की समीक्षा पद्धति मुनरन आन्वयनक है जिनमें आबहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली हृदियों म चिन्तनकारनका नी विषयी है । कुछ रचनाओं का सम्बन्ध प्राचीन कविता म है जिनमे उनकी नैनी ऐतिहासिक भी हो गई है । उनक कृत्तिकान म साम्प्रतीयता और आधुनिकता दोनों का हो अनुभव दिखाई देता है । कुछ स्थलों पर उनकी भाषा और शैली पर अग्रजी प्रभाव विमर्शता म दिखाई पड़ता है । भाषाबता की प्रणाली क सम्बन्ध न संयोजक का कथन है कि "मै एक पद्यापाठर की माति कैमरे की दृष्टि म दिखन नाम मीमरन का देवता और उतक कारण देता हूँ । इसी स्थल पर पाठकों का कठिनाई होनी है । उन्हें कठिनाई नम हूँ है पर वस्तु म अर्थिक तक पहुँचने का माय यही है और भाषाबता की प्रणाली इसके अनिश्चित रूपरी कोई रबी जान तो न हम वस्तु (हृदि) की समझ सकते हैं म अर्थिक (हृदिकार) को ।"

प्रभाकर माचरे —

इसी परम्परा क समीक्षकों म श्री प्रभाकर माचरे का नाम भी उल्लेखनीय है । प्रभाकर माचरे न व० रामचन्द्र गुप्त के भूम्यन्तक सम्बन्ध में अनेक मर्तों का पटीयय करन के पदचान् अस्त में यह निष्कर्ष निष्कर्षित किया कि गुप्त की की सत्य बड़ी वन यह ही है कि उन्होंने हिन्दी भाषाबता के ज्ञान अथ वा विस्तार किया और नवीनतम पारचार दिशाओं म हिन्दी समीक्षा की परिचित करवा । ऐतिहासिक दृष्टिकोन से हिन्दी समीक्षा के स्वक्य विकास क इतिहास पर दृष्टि डालते हुए उन्होंने लिखा है "बैम तो हिन्दी भाषाबता का मूत्रवात ऐतिहासिक दृष्टि से पाठेनु नाम से हो हो गया वा परन्तु उनका स्वक्य बहुत कुछ वैयक्तिक अथि अर्थिक तक सीमित था । उस बहरी गारायन बीपरी ने साभा को निष्काय हात के "संयागिता स्वदेवर" की विस्तृत और बढोर समीक्षा "कादंबिनी" के २१ पृष्ठों में छोपी और उधमें लिखा

इसी प्रकार स लेखक ने जिन कृतियों में मुख्यतः ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा की है, वहाँ भी विषय विस्तार का गुण मिलता है।

पद्मसालपुन्नासाल बख्शी —

श्री पद्मसाल पुन्नासाल बख्शी का नाम इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। बख्शी जी ने काव्य क्षेत्र से साहित्य सेवा का प्रारम्भ किया था इसलिए उनकी शैली में भावात्मकता की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। गम्भीर चिन्तन के साथ ही उनका कवि हृदय भी उनकी विचारात्मक रचनाओं में आनामिष्ठ होता है। बख्शी जी ने एक स्थान पर लिखा है कि "कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।" उनके विचार से "काव्य के अन्तर्गत जो छन्द है वह भी तब उपसम्ब होता है जब हम कवि के जीवन तथा सामाजिक इतिहास के साथ तुलना करके देखें।" १ इससे स्पष्ट है कि बख्शी जी काव्य या साहित्य के सम्बन्ध में गुन जीवन पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। उनके विचार से युग जीवन से पृथक्कर साहित्य के लिए ठीक नहीं है। उन्होंने लिखा भी है कि "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है, जन साधारण माग और विचारबारा से हमारे आधुनिक साहित्य क्षेत्रों के माग और विषय का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है इसलिए आधुनिक साहित्य जातीयभाव आधरों और जाकाशा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि जाति कुछ अप्रमा पड़े लक्षों में ही तो सीमित नहीं है हिन्दू जाति की वास्तविक क्या जानने के लिए पर्णकुटीर में वास करने वाले अधिक्षित किसानों, जुमाहों मजदूरों जादि सोयों के अभावों जाघाओं और जाकाशाओं को जानना होना। २ बख्शी जी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षा में प्राचीनता का स्वीकरण किया तथा उसके साथ ही नवीनता का भी बहिष्कार नहीं किया। वह किसी भी कृति या कृतिकार की आलोचना करते समय उस युग की पृष्ठभूमि का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं जिसमें उसकी रचना हुई। इसलिए उनकी आलोचना में प्रायः उन कारकों के भी उल्लेख मिलते हैं जो किसी कृति की उत्पत्ति या उत्पत्ति का विचारण करते हैं। "विरह

१ "विद्वत् साहित्य", श्री पद्मसालपुन्नासाल बख्शी, पृ० १२०।

२ "धरस्वती", सम्पादकीय अग्रस १९२८।

साहित्य", "हिन्दी साहित्य विमल प्रदीप" तथा "हिन्दी क्या साहित्य भाषि इतियों में जगना इसी प्रकार का दृष्टिकोण मिसता है।

सत्येन्द्र —

इसी परम्परा में डा० सत्येन्द्र का नाम भी लिया जा सकता है। डा० सत्येन्द्र की समीक्षारत्नक कृतियाँ हैं "साहित्य की मोती" "मुल्य जी की काम्य कथा" "हिन्दी एकाकी" "प्रमथन और उतकी कथा" "रचनाक साहित्य का अध्ययन" "कथा कल्पना और साहित्य" तथा "हिन्दी साहित्य में साधुनिक प्रवृत्तियाँ" आदि हैं। डा० सत्येन्द्र की समीक्षा पद्धति मुकदम ग्राह्यरत्नक है जिसमें व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाली इतियों में विषय-व्यवहारता भी मिसी है। कुछ रचनाओं का सम्बन्ध प्राचीन कविता से है जिसमें उतकी खेती एतिहासिक भी हो गई है। उतक दृष्टिकोण में व्यावहारिकता और साधुनिकता दोनों का ही सम्बन्ध दिखाई देता है। कुछ स्पर्शों पर उतकी भाषा और खेती पर अनेक प्रभाव बिद्यता से दिखाई पड़ता है। आमाजना की प्रथामी क सम्बन्ध में सत्येन्द्र का कथन है कि "मैं एक खेतीवाकर की भांति खेत की दृष्टि से विगत काम खेती का देखता और उतक कारण बता हूँ। इसी स्वत पर पाठकों का कठिनाई होती है। उतह कठिनाई मन ही है पर वस्तु में व्यक्ति तक पहुंचना का मार्ग मही है और आलोचना की प्रथामी इसके अनिश्चित दूसरी कोई रभी भाषा में हम वस्तु (इति) को समझ सकते हैं म व्यक्ति (इतिकार) को।"

प्रभाकर माधवे —

इसी परम्परा के समीक्षकों में श्री प्रभाकर माधवे का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रभाकर माधवे म ए० रामचन्द्र गुप्त के मुख्यांकन क सम्बन्ध में उतक मनों का परिष्कार करन के पदचान् अन्त में यह निष्कर्ष निर्धारित किया कि मुख्य जी का स्वत बड़ी देन यह ही है कि उतोंने खेती आलोचना के अर्थ अर्थ का विचार किया और मनीसतम पाठकव्य विधानों में हिन्दी समीक्षा का परिष्कार करया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी समीक्षा क स्वरूप विकास के इतिहास पर उतों का उत हूँ उतों सिद्धा है "वेने ता हिन्दी आलोचना का मुख्यांकन एतिहासिक दृष्टि में उत उत उत ही हो गया था परन्तु उतका स्वतक उतुन कुछ वैयक्तिक कवि कविता का। उत बहरी मारामय खेती न भाषा भा विद्या उत क "उत उत" की विस्तृत और उतार उतारोचना "कारकिनी" के २१ दृष्टियों में उतों और उतों सिद्धा

‘यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने से पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते बोलते हैं तो अपनी ओर से जहाँ तक सुझाव या आपसूची का कोई बरबा पाते हैं वेप छोड़ते नहीं दिखाते।’ यह सन् १८८४ के समय की हिन्दी समालोचना का नमूना है।

रामकृष्ण मुखर्जी “दिल्लीमुख” —

श्री रामकृष्ण मुखर्जी ‘दिल्लीमुख’ का स्थान व्याख्यात्मक समीक्षा की परम्परा में उल्लेखनीय है। उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण पर द्वितीय युगीन प्रभाव विशेष रूप से मिलता है। इसीलिए उसकी रचनाओं में शास्त्रीयता तथा तुलनात्मकता के लक्षण तो मिलते हैं परन्तु इनमें नवीनता का भी समावेश है। इस गुण के कारण इनमें आवश्यक दृष्टता और सुन्दरता के दोष भी नहीं आ सके हैं जो प्रायः इस प्रकार की समीक्षा में दिखाई देते हैं। “दिल्लीमुख” की भी रचनाओं में “प्रसाद की मादृश कला” “सलोचना समुच्चय” “दिल्लीमुखी” “कला और सौन्दर्य” तथा “निबन्ध प्रबन्ध” आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओं में लेखक के समुचित दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। समीक्षक के विषय में दिल्लीमुख जी ने लिखा है कि जो सब तरफ देखता है वही आलोचक है और इस दृष्टि से सबसे पहला आलोचक कवि होता है। समालोचक का स्थान कवि के बाद है। समालोचक को पूर्ण मनुष्य हूय वासा होना चाहिए और उसका दृष्टिकोण विशाल मानवता का होना चाहिए।

महत्त्व तथा सम्भावनाएँ —

हिन्दी में व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का आधुनिक रूप एक समुचित तथा समन्वय स्वरूप दृष्टि से पुनः विद्यमान है। इसलिये जब इसमें प्राचीन दृष्टिकोण के आग्रह की कठिनायिता के स्थान पर नवीन दृष्टिकोण की व्यापकता का गुण सन्निहित हो रहा है। इस दृष्टि से यह आधुनिक युग की कठिनायि अथवा समीक्षात्मक पद्धतियों के पर्याप्त निष्पत्ति प्रतीत होती है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिकता की दृष्टि से जो रचनाएँ मुख्यता रखती हैं उनमें प्रायः यही समीक्षा प्रवृत्ति विद्यमान है। सैद्धांतिक विचारधारकों के समुचित समन्वय का व्यावहारिक समीक्षा पर आरोप इस समीक्षा की विशेषता है। इस नवीन रूप में ही इसके भावी विकास की सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

## समन्वयारमक समीक्षा की प्रवृत्ति

संक्षेप —

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में समन्वयारमक समीक्षा की प्रवृत्ति के मूल में पाश्चात्य तथा भारतीय समीक्षा शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों के समन्वय की भावना है। इस समीक्षा प्रवृत्ति के प्रमुख विचारकों ने भारतीय साहित्य शास्त्र तथा पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र का अध्ययन करके उनमें स उग तत्त्वों को ग्रहण किया जो साहित्य के मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकान करने में सहायक हो सकते हैं। इसमिर् इस समीक्षा प्रवृत्ति को प्राचीन तथा पचीन दोनों दृष्टियों से सर्वांगीय अध्ययन प्रस्तुत करन वाली प्रवृत्ति कहा जा सकता है।

आरम्भ —

सांख्यिक हिन्दी साहित्य में द्वितीय युग से ही सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव का आगमन होने लगा था। डा० क्यामसुन्दरदास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि समीक्षकों ने अपनी रचनाओं में वहाँ एक ओर प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत विकसित विचारवाच्यों का सैद्धान्तिक परिचय दिया था वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में हुए कठिण वैचारिक आन्दोलनों की भी अवगति थी थी। प्रायः उही समय से हिन्दी में इन दोनों समीक्षा दृष्टियों क समन्वय की भावना का विकास होने लगा था। आगे चलकर इस समीक्षा प्रवृत्ति को सम्बन्ध समीक्षकों ने स्वीकार्य और इसके विकास में योग दिया।

डा० विद्यामोहन शर्मा —

डा विद्यामोहन शर्मा का नाम हिन्दी के समन्वयवादी समीक्षकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सांख्यिक युग विभिन्न विभिन्न मठों और वारों का युग है। इस युग में जो भी समीक्षक हैं, वे प्रायः किसी न किसी मठ या वार के कर्टर समर्पक हैं। इसलिये यदि कोई समीक्षक वारों के बुद्धिमात्र से असंगत दृष्टिकोण से समन्वयारमक विचारवाच्य का संतुलित निर्वाह करता है, तो यह साधारण सामर्थ्य का घोटक



होता है। धर्मा जी के महत्व का एक कारण यह भी है कि उन्होंने अपनी समीक्षा में प्राचीन धार्मिक नियमों का तो अनुमन किया ही है। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का भी स्वीकार किया है। आधुनिक मानकों के साथ ही साथ उन्होंने प्राचीन मान्यताओं को समर्थित करके एक पूर्ण समीक्षा दृष्टि का परिचय दिया है। धर्मा जी की कृतियों में 'साहित्य कला' 'कवि प्रसाद आँसू तथा अन्य कृतियाँ' 'श्रुष्टिकोण साहित्यालोचना' और 'साहित्य दोष समीक्षा प्रकाशित हुई है। इनमें से यदि कुछ कृतियों में धर्मा जी की उच्चकोटि की समीक्षायुक्त प्रतिभा का परिचय मिलता है तो दूसरी ओर बहुत सी रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिनसे यह मालूम होता है कि उनकी शोध कृति कितनी परिष्कारयुक्त है। उपर्युक्त पुस्तकों में दोष निबन्ध धार्मिक निबन्ध विविध टिप्पणियाँ तथा ऐसी रचनाएँ हैं जो विषयविद्यालयी कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा साहित्य के श्रेयताओं के लिये ही लिखे गए हैं। इस प्रकार से यह कृतियाँ धर्मा जी की समीक्षायुक्त सामर्थ्य और उनके गहरे चिन्तन का परिचय देने वाली हैं। क्योंकि धर्मा जी की कृतियों में प्राचीन तथा नवीन प्रत्येक युग और प्रकार की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के पुष्ट संकेत मिलते हैं।

#### नाटक स्वरूप —

डा. विनय मोहन धर्मा के विचार से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में नाटकों के समुचित विकास न होने के अनेक कारणों में एक रंगमंच का अभाव भी है। नाटक मुख्यतः रंगमंच पर प्रस्तुत की जानेवाली वस्तु है। इसलिये उसमें अभिव्यक्ति का युक्त होना भी आवश्यक है। उन्होंने लिखा है 'प्राचीन काल में भी नाटकों की रचना अभिनय की दृष्टि से ही की जाती थी। इसीलिए हमारे यहाँ क जाचार्यों ने नाटक के तत्वों की चर्चा करते समय प्रेक्षागृहों पर काफी प्रकाश डाला है। रंगमंच की सम्बन्धी चीझों और उसके विभाजन आदि पर उन्होंने विस्तार से विचार किया है। मुख्य युग के पूर्व नाटक अभिनीत होकर ही सामाजिकों का मनोरंजन कर सकते थे। मुख्य युग के पश्चात् नाटकों के साहित्यिक और रंगमंचीय ढंग से मिलने का हमारे सामने आया। सामाजिकों में मित्र प्रकार के व्यक्ति होते हैं। कुछ नाटक पढ़कर रंगमंच की कल्पना हाथ रसास्वाद लेने में समर्थ होते हैं और बहुत से ऐसे होते हैं जो उन्हें प्रत्यक्ष रंगमंच पर देखकर ही रसार्थ हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में यदि नाटक केवल पठनीय होने के साथ साथ अभिनय योग्य भी हो तो उस बुद्धि का बड़ा फलदायी है'

सृजनारम्भकता —

साहित्य की सृजनारम्भकता के विषय में विचार करते हुए डा० बिनयमोहन शर्मा ने बताया है कि साहित्य के मूल में मुख्य प्रेरणा कल्पना की रहती है। उनके विचार से कल्पना "साहित्य का प्राण है जीवन का जग है। यथार्थ को रूप देने के लिये भी इन्हीं कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। कलाकार ने सृष्टि के 'अङ्ग' और 'चेतन' में कमी भेद नहीं किया। उसे 'अद म भी अपनी 'अतन' सत्ता का रूप दीप्त पड़ता है। जिस बात को कवि ने अपनी अत-प्रेरणा से अनुभव किया उसी का विज्ञान वेता ने अपनी प्रयोगशास्त्र में साक्षात्कार किया। यदि हम किसी दूकानदार का उर्ध्व वा स्पर्श वर्णन कर दें तो वह एक व्यक्ति का फोटोग्राफ मात्र बन सकेगा। पर यदि हम अनेक व्यापारियों का निरीक्षण कर उनके समान स्वभाव प्रवृत्ति नाम ठाम का प्रदर्शन एक चित्र अंकित कर सकें तो हम व्यापारी का एक प्रतिनिधि चित्र प्रस्तुत कर सकेंगे। कहा जाता है सीसी सादी माया लिखिये। उसे अस्कार से मत सजाइए। पर क्या यह संभव है? हम जीवन में क्या सर्वथा अस्कार रहते हैं? हम उठते बैठते प्रतीकों का प्रयोग करते हैं, सप्रभा अंत्रना हमारी भाषा का जन्म बन गई है। प्रकृति का मानवीकरण हम सहज करत रहते हैं लहरें उठती हैं गिरती हैं। अस्मत् आता है क्यों जाती है। मनुष्य अपना ही रूप प्रकृति में सर्वत्र देखता है।"१ सर्वाँ जी ने साहित्य को मानवीय अनुभवों की पून अभिव्यक्ति माना है जो करतना तथा प्रकृति का आशय लेकर विविध रूप ग्रहण करता है।

समालोचना का स्वयम् —

डा० बिनयमोहन शर्मा ने समालोचना की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह साहित्य का यथार्थ वर्णन है। आलोचना को उन्होंने एक प्रकार का का क्वियात्मक साहित्य माना है जो आलोचक की संस्कारितापूरु बुद्धि और प्राइड इत्यय शक्ति द्वारा रचा जाता है। इनका विचार है कि किसी भी युग में लिखे गये साहित्य का मूल्यांकन पून रूप में ठक ठक नहीं किया जा सकता जब तक कि उन सामाजिक, धार्मिक और

१ "साहित्य शोभ समीक्षा" डा० बिनयमोहन शर्मा, पृ० ११ ।

राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन न किया जावे जिनमें वह साहित्य रचा गया क्योंकि यद्यपि मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियाँ सुनीत वातावरण से अधिक प्रभावित नहीं होती। परन्तु वैचारिक परम्पराओं में समन का परिवर्तित रूप अक्षर प्रतिबिम्बित होता है। इसलिये उन्होंने साहित्यालोचना के सिद्धे इस पृष्ठभूमि को आवश्यक बताया। उनके विचार से समीक्षा के दो भाग होते हैं पहला शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में सिद्धान्त रचना होती है और परीक्षण में सिद्धान्तिक साहित्यालोचना। दोनों ही में लिखा है "समालोचना के दो अंग होते हैं। एक शास्त्र और दूसरा परीक्षण। शास्त्र में श्रेष्ठ साहित्य के लक्षणों का विवेचन होता है। परीक्षण में साहित्य की शास्त्र के अनुसार या अन्य प्रकार से माप ली जाती है। शास्त्रीय समीक्षा में आलोचक तटस्थ होकर वैज्ञानिक की भाँति साम्य नियमों की तुलना पर साहित्य को तोलता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में वह आत्मसाध्य साहित्य से सर्वथा तटस्थ नहीं रहता। उसके साथ अपनी रचि अक्षर का भी मेल करता जाता है। इस तरह अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपों में प्रभावकारी सौन्दर्यकारी प्रसन्नकारी और मार्सकारी रूप मुख्य हैं। १

#### मन्मथगारे बाबूदेवी —

श्री मन्मथगारे बाबूदेवी हिन्दी के वर्तमान समीक्षकों में अपनी विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी समीक्षा पद्धति में प्राचीनता और नवीनता का संतुलित समन्वय मिलता है। उसमें भारतीय और पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी समिन्धन है। उनके दृष्टिकोण में किसी प्रकार की वतिभाविता की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं क्योंकि उसमें अनेक समझमीन समीक्षकों की भाँति प्राचीन या नवीन पूर्वी या पश्चिमी समीक्षा सिद्धान्तों की ओर झुकाव नहीं दिखाई देता है। कभी यदि वे अपनी समीक्षा में भारतीय सिद्धान्तों को प्रमुखाय देते हैं तो कभी पाश्चात्य विचारधारा प्रमुख हो जाती है परन्तु अन्तिम आर सँकेन किया गया है मुदात एक समन्वयकारी समीक्षा का रूप ही जन्म में प्रकाश रहा है।

#### काव्य —

श्री मन्मथगारे बाबूदेवी के विचार से काव्य मनुष्य की अनुभूतियों का ऐना

विषय है जो उसमें सीम्बल के प्रति सम्बन्धना की उद्भावना करता है। उनके विचार से "नविता सार्थकनीत और धारणत वस्तु है किन्तु कवि के व्यक्तित्व विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति मात्रा और कीमतीपन में अन्तर हुआ करता है, और अनुभूतियों को व्यक्त करने की सामर्थ्य या योग्यता भी कम या अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि को उस रचना से ही प्राप्त होता है इसलिए काव्य विश्लेषण में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा इन्हीं विशेषताओं के आधार पर की जा सकती है। यों व्यावहारिक विज्ञाप के लिए हम महाकाव्य गीनि काव्य उपग्याह "वाच्ययानिका और नाटक आदि के विनाश करते हैं। उनके विभिन्न तत्वों का इतिहास और सामाजिक विकास कम में उनके परिचित स्वस्वों का अभ्ययन करते हैं। किन्तु काव्य साहित्य का तात्त्विक मूल्य तो प्रथम बर्षीकरण में ही।" १ इनसे स्पष्ट है कि वाच्येयी भी काव्य को पालनत मानते हुए युव जीवन के अनुसार उसके स्वरूपारमक परिवर्तन को वाच्ययक समझते हैं।

साधुनिक काव्य प्रावृत्तियाँ —

वाच्येयी भी ने अपने साधुनिक साहित्य हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी "नया साहित्य क्या प्रस्त" तथा "अयसंकर प्रसार" आदि पुस्तकों में जहाँ एक ओर अपने सौदातिक विचारों का व्यावहारिक आरोपन किया है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हिन्दी साहित्य की विविध गण और और काव्य प्रवृत्तियों पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने पद्यार्थमव तटस्व बुद्धिकोण से ही उनके विषय में मूल्यांकन करते समय उनकी उपलब्धियों का निवर्षण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रचलित और विचारधीन कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों पर भी अपने निष्पक्ष विचार प्रकट किए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने साधुनिक हिन्दी काव्य के प्रयोगवादी आलोचन और संचालकों के बावों और उपलब्धियों के विषय में स्पष्ट प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है, "प्रयोगवादी काव्य की इस अंधाधुन में सबसे बड़ी त्रुटि यह हुई कि काव्य क्या सम्बन्धी स्थिर परिमाणों पर किसी का विश्वास नहीं रहा और पत जैसे निवर्षण टिड्ड कवि भी कविता का पन्ना छोड़कर बावों का रंग बनापने लने। उससे भी

बहिष्कृत व्यक्तिक बात यह हुई कि समीक्षा के क्षेत्र में काम्य सम्बन्धी विचार परम्परा सुरक्षित न रह सकी। काम्य और बाद को एक ही श्रेणी में मिला दिया गया।

### समीक्षा का रूप —

बाबूदेवी जी के विचार से समीक्षक का मुख्य कार्य कला का अध्ययन और उसका समीक्षार्थानुपस्थापन करना है। ऐसा करने में उपरान्त व्यापक अध्ययन सूक्ष्म सिद्धांतों का सौम्यदृष्टि और उसकी सिद्धांत निरूपणता महत्त्व हो सचो है परन्तु वहाँ तक सिद्धांतों प्रत्यक्ष है न इस कार्य में बाधक ही बन सकते हैं। उनका यह दृष्टि विचार है कि हम किसी पूर्व निश्चित सांख्यिक मान्यता साहित्यिक सिद्धांत को लेकर उसके आधार पर कला की परख नहीं करते। इनका कारण यह यह समझते हैं कि सभी सिद्धांत सीमित हैं किन्तु कला के लिए कोई भी सीमा नहीं है। इनके स्पष्ट है कि बाबूदेवी जी की समीक्षा दृष्टि किसी संकुचित दृष्टि से बाधित नहीं है।

### बैचारिक आन्दोलन —

समीक्षा में विविध विचारधाराओं के अन्धातुकरण के फलस्वरूप जो बैचारिक संकुचितता और स्तरहीनता बिसाई दे रही है इसके भी बाबूदेवी जी विरुद्ध हैं। उनका यह विचार है कि वहाँ और कोई समीक्षक जिन सैद्धान्तिक विचारधारा का कट्टर अनुपमन करके निष्पक्ष समीक्षा नहीं कर सकता उसी प्रकार किसी बात का कुछ अनुपमन करने वाला समीक्षक भी न्यायपूर्वक समीक्षा नहीं कर सकता। इसलिए उन्होंने किसी भी बाध द्वारा निर्बंधित मार्ग का स्वीकरण स्वीय साहित्य की रचना और विकास के लिए ध्यान देना। उनका यह मन है कि प्रायः साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में विचारधाराओं और सिद्धांतों से प्रभावित रहा है उनका सम्बन्ध किसी न किसी राजनीतिक आर्थिक या सामाजिक आन्दोलन से रहना है। एक साहित्यकार या समीक्षक के लिए यह सीमाएं एक बड़ी बाधा हैं। इसलिए किसी भी बाधा के प्रति कट्टर बाध उचित नहीं है इसके अतिरिक्त वहाँ तक समीक्षा दृष्टि का प्रत्यक्ष है बाबूदेवी जी के मन के अनुसार समीक्षक को किसी दृष्टि भी समीक्षा स्वतंत्र रूप ही से करनी चाहिए क्योंकि जब तक ऐसा न होगा तब तक इस प्रकार की समीक्षा की सम्भावनाएँ भी नहीं होंगी।

बाबूदेवी जी को विविध विचारधाराओं तथा सिद्धांतों की बहुत श्रद्धा है।

इसका कारण यह है कि उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन किया है। इसलिये किसी भी "बाव" का बाह्य आवरण या आकर्षण उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता। इसलिये बावपेयी भी अनेक आधुनिक विचारकाराओं से किसी प्रकार की कोई सहानुभूति नहीं रखते। उदाहरण के लिए प्रगतिवादी विचारमाला से बावपेयी की की वैज्ञानिक अदृष्टि इस कारण से है क्योंकि उनका यह विचार है कि यह एक निश्चित बर्ष के लिए लिखित और समर्पित साहित्य को ही श्रेष्ठ समझता है इसलिये वह उसे त्याग्य समझते हैं। उन्होंने लिखा है "मासिकवारी सामाजिक आर्थिक सिद्धान्त का जब काव्य अथवा साहित्य में प्रयोग किया जाता है तब उसकी स्थिति बहुत कुछ अर्धमत और असाध्य भी हो जाती है। समाजवादी प्रतिष्ठा के पूर्व का संपूर्ण साहित्य बर्षवासी या पूत्रीवादी साहित्य है। अतएव मूलतः दूषित है। केवल यह साहित्य श्रेष्ठ स्वायत्त योग्य है जिस पर पूत्रीवादी समाज व्यवस्था की छाया नहीं पड़ी। मासिकवारीयों की यह उत्पत्ति सभी दृष्टि से बोधी और सारहीन सिद्ध होती है।

समीक्षात्मक माय्यताएं -

अपने नया साहित्य 'नये प्रश्न' नामक निबन्ध संग्रह में श्री मन्मदुलारे बावपेयी ने एक निबन्ध में अग्री समीक्षात्मक माय्यताओं का स्पष्टीकरण किया है। इसमें उन्होंने साहित्यिक आलोचना को व्यक्ति की निजी माय्यताओं की परिधि से बाहर बताया है। साहित्य समीक्षा के सिद्धान्त व व्यवहार पर का प्रसार सुधीन कालिक है। उनके विचार से 'उसका प्रसार सर्वत्र बर्षों और सुदूर देशों में होता रहा है। उसके निर्माण और विकास से संसार के कुल महान् मस्तिष्कों ने मोम लिया है। एक ओर उनका सिद्धान्त परस है, जिसकी साक्षात् वचन और विज्ञान के शक्तों में फली हुई है और दूसरी ओर उसका क्रममाण वा व्यावहारिक रूप है जो मानव मानवता कल्पना और छीम्यं केतन की सांस्कृतिक युधियों में प्रसारित है। सद्धान्तिक आलोचना के बहुत से रूप रूपाकार हैं जिनका सम्बन्ध विभिन्न देशों और कालों की रुचियों और प्रवृत्तियों से है। इसी प्रकार प्रयोगात्मक आलोचना की भी अनेकानेक विधियाँ रीतियाँ और प्रकार हैं जिन सब पर व्यक्ति विरोध की सान्यता कोई प्रभाव नहीं डाल सकती बसंत में साहित्यिक आलोचना की एक वस्तुगत लक्ष्य और ऐतिहासिक अस्तित्व है जो किसी की व्यक्तिगत माय्यता पर अवलंबित नहीं।" इस प्रकार समीक्षा के व्यापक

स्वरूप को स्वीकार करते हुए उन्हें बतया है कि साहित्य का कार्य राष्ट्र को विकास की ओर उन्मुख करना है। इसके लिये महान् राष्ट्रीय बैठना की आवश्यकता है इसलिये उसके प्रति आवश्यकता ही साहित्यकार का मुख्य कर्तव्य है।

डॉ० नरेन्द्र :—

साधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में समन्वयकारी प्रयत्न के अन्तर्गत डॉ० नरेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी समीक्षा कृतियों में 'सुमित्रावधन पत्र' 'साकेत एक अध्ययन' 'साधुनिक हिन्दी नाटक' विचार और अनुसूति' 'विचार और विवेचन' 'रीति काव्य की भूमिका' देव और सनकी कविता' साधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ तथा विचार और विवेचन' आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेक रचनाएं ऐसी भी हैं जो अनुबाधित या सम्बाधित हैं। उनमें भी विस्तृत भूमिकाओं के रूप में नरेन्द्र के समीक्षारमक विचारों का परिचय प्राप्त होता है। डॉ० नरेन्द्र ने एक ओर जहाँ प्राचीन संस्कृत काव्य शास्त्र का गहन अध्ययन किया है वहाँ दूसरी ओर प्राचीन यूनानी और रोमीय सास्त्रीय परम्पराओं की भी अवगति उन्हें है। इसलिये उनका समीक्षा सास्त्रीय दृष्टिकोण भारतीय और पारशात्य सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप निकाले गये निष्कर्षों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त डॉ० नरेन्द्र की समीक्षा पद्धति की एक प्रमुख विशेषता उसकी पुष्ट मनोविरसेपधारमक दृष्टभूमि है।

काव्य —

काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते समय डॉ० नरेन्द्र ने साहित्य के कुछ मूलभूत प्रश्नों और तत्त्वों की ओर संकेत किया है। साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित अनेक सिद्धांतों की दृष्टि से परीक्षण करने के पश्चात् उन्होंने यह स्थापना की है कि 'काव्य में तीन तत्व अनिवार्य हैं रमणीय अनुभूति उत्कृष्ट वैचित्र्य तथा सन्ध अर्थात् बर्ण संकीर्ण और लय संगीत। इन तीनों तत्वों का समन्वित रूप से ही कविता है। पृथक-पृथक किसी को कविता नहीं कहा जा सकता। इनसे पहले दो तत्व काव्य अथवा रस के साहित्य के भी अंग हैं। तीसरा तत्व अर्थात् सन्ध इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कविता रस के साहित्य की उस विधा का नाम है जिसका माध्यम सन्ध है। १

रस —

रस के स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ० नयेन्द्र ने इस विषय पर प्रस्तुत किये गये संस्कृत के साहित्य शास्त्रियों के मतों का भी विस्तृतवग किया है। फिर मनोबैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न उठते हैं (१) क्या काव्यानुभूति (रस) अनिर्वायत आनन्दमयी चेतना है? (२) क्या काव्यानुभूति अनिर्वायत भावानुभूति से भिन्न है? (३) क्या यह आनन्द जमीतिक और निराका है? और इनके अन्तर्भेद का प्रतिपक्ष भारतीय तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण भी सामने रखे हैं। अन्त में निष्कर्ष रूप में उन्होंने यह बताया है कि काव्यानुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति होते हुए भी साधारण न होकर भावित है। अनुभूति मनोजगत का अणु परमाणु है। काव्य की अनुभूति भी मूलतः सम्बन्धन रूप ही है और वह शुद्ध तथा सरस होती है।

नैतिक मूल्य —

डॉ० नयेन्द्र ने साहित्य में आत्मानिष्पत्ति के अन्वय में नैतिक और सामाजिक मूल्यों पर भी विचार किया है। उनके विचार से आत्मानिष्पत्ति का ठो महत्त्व है ही इन मूल्यों का भी स्वतंत्र महत्त्व है। उन्होंने लिखा है "मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का विवेक नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अनिवार्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है सांस्कृतिक हिय उसके अपने स्वच्छिपत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, समाज की संघर्ष शक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संघर्ष और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संघर्ष ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सचकी अपेक्षा करनी होगी। सचक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है। साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उस जीवन के उपकरण दिये शौचिक और नाकगत परम्पराएँ ही उसका अंग घोष करमा उसका धर्म है। इनसे स्वार्थ साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अर्थ का अन्वयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अन्वय और निष्पत्तियों की ही सिद्धि



हीती है। १ इस प्रकार से उन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि लेखक का समाज के प्रति भी मन्त्री वाचित्व केवल निरक्षण आत्माभिव्यक्ति ही है क्योंकि इसी के कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार बन पाता है।

### छायावाद -

साहित्यिक काव्य प्रवृत्तियों में से छायावादी के विषय में विचार करते हुए डा० नगेन्द्र ने उसे एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति कहा है जिसे जीवन के प्रति एक विशेष भावार्थक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। उनके विचार से 'इस दृष्टिकोण का आशय मनुष्यजीवन के स्वप्नों और कूटाओं के अभिप्रेत से बना है प्रकृति अन्तर्मुखी तथा बायबी है और अभिव्यक्ति है। प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा विचार पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवादी मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली। २ डा० नगेन्द्र का विचार है कि छायावादी कविता द्वि-स्तर के दृष्टिकोण से प्रथम श्रेणी की नहीं है क्योंकि कूटा द्वारा जित कविता कभी भी प्रथम श्रेणी की नहीं हो सकती। अन्त में उन्होंने छायावाद की उपमण्डियों का सूक्ष्मकन करते हुए लिखा है कि 'इस सीमा को स्वीकार कर लेने के बाद छायावादी को अधिक से अधिक सीरव दिया जा सकता है। और सब ही जिस कविता ने एक मनीषी सौन्दर्य चेतना जगाकर एक दृष्टि समाज की अमिद्वि का परिष्कार किया जिसने उसकी वस्तु मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर आर रककर उसको इतना मुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश करके सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल से तरल भाव बीजियों को पकड़ सके जिसने जीवन की कूटाओं को अनन्त रंम वाले स्वप्नों में गुच्छुवा दिया जिसने भाषा को मनीषी ह्राव भाव मनीषी अद्भुतम और मनीषी विन्नम कला प्रदान किये जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोम छाया चित्रों में जगमग कर दिया, और अन्त में जिसने 'नामायणी का समूह रूप 'पस्तक' और 'मुगास्त' की कला 'मीरजा' के अर्थ बीजे दीन 'परिमल' और 'अनामिका' की अम्बर चुम्बी उड़ान की उस कविता

१ 'विचार और विवेचन' डॉ० नगेन्द्र पृ० २२।

२ 'डा० नगेन्द्र के लक्ष्योन्मुख निबन्ध' सं० श्री भारतसूचक अग्रवाल पृ०

का पौरुष बलवत् है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल अधिक काव्य ही कर सकता है।<sup>१</sup>

प्रयोगवाद —

याज्ञुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में हुए प्रयोगवादी आन्दोलन पर विचार करते हुए डा० नयेन्द्र ने बताया है कि सामान्य रूप से प्रत्येक युग की कविता प्रयोगवादी ही होती है। याज्ञुनिक युग में प्रयोगवादी कविता के आन्दोलन में इसका प्रयोग भिन्न और बड़ मर्से में किया गया है। प्रयोगवाद का जन्म हिन्दी कविता के क्षेत्र में छायावाद के प्रति असन्तोष की भावना से हुआ है। प्रयोगवादी कविता का मूल उद्देश्य काव्य विषयक प्रयोग ही है। इसके कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही भाँति काव्य भी नैसर्गिक रूप से एक गतिशील शय है, जिसकी वास्तविक साधना उसके प्रयोग में ही है। प्रयोगवादी काव्य में वस्तु परक दृष्टिकोण की प्रकृति भी कहीं कहीं दिखायी पकती है। अधिकांश प्रयोगवादी कवियों की प्रकृति एकाग्र अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निबिडता में उलझे हुए हैं।<sup>२</sup> भाव वस्तु और शैली सिन्ध के क्षेत्र में भी इस विचारवाच का प्राप्रह प्रकट है। काव्य में प्रयोग का महत्त्व बबरन है परन्तु मूल्यों का समुन्नत बना रहना आवश्यक है।

डा० देवराज —

याज्ञुनिक हिन्दी समीक्षा की समन्वयवादी प्रकृति के अन्तर्गत डा० देवराज का नाम भी लिया जा सकता है। उनकी समीक्षा कृतियों में “छायावाद की पतन” “साहित्य विमला”, “याज्ञुनिक समीक्षा का ज्ञ समस्याएँ” तथा “साहित्य और संस्कृति” विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० देवराज ने संस्कृति साहित्य शास्त्र पाठशास्त्र समीक्षा शास्त्र, भारतीय तथा पाठशास्त्र दर्शन शास्त्र और मनोविज्ञान का पन्मीर अध्ययन किया है। इसी कारण उनकी समीक्षा दृष्टि में एक प्रकार का विश्लेषण समुन्नत और समन्वय दिखायी देता है।

१ “डा० नयेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध” सं० श्री भारतसूचक अग्रवाल पृ० १०२, १

२ “डा० नयेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध” सं० श्री भारतसूचक अग्रवाल, पृ० १०२।

साहित्य —

डा० देवराज के विचार से साहित्य जीवन और मृत्यु को एक विविध दृष्टि से देखता है। साहित्य में जीवन की विभिन्न स्थितियों के विरलपन के अन्तर्गत होते हैं। उनके विचार से 'साहित्य रागबोधारमक अनुभूति अथवा वैसी अनुभूति की सिलसिले में व्यक्तिक्रिया है। दृष्टि या चेतना के सम्मुख आने वाले सभी विषयों के प्रति हम राग विराग अनुभव नहीं करते कारण यह है कि हम उन्हें अपने मूल बुद्धि से सम्बन्धित करके अपने जीवन की परिधि में नहीं ला पाते। हमारा सामान्य जीवन बहुत थोड़े से परिवेश से सम्बद्ध और उन्हीं के प्रति प्रतिक्रियाशील होता है। भौतिक और सामाजिक विज्ञान हमारी बोध चेतना का विस्तार करते हैं जब हम महसूस करते हैं कि हमारा बुद्धि बंधने वाला भौतिक सामाजिक परिवेश देश काल में फँसी हुई अज्ञान वास्तविकता का अंग है और वह उस वास्तविकता के संशालक कठिन नियमों से नियमित है। इस प्रकार विज्ञान द्वारा हम अपने जीवन को एक ओर विस्तृत प्रकृति जगत से और दूसरी ओर इतिहास एवं मानिक राजनीतिक शक्तियों या संघटनों से सम्बद्ध करके देखना सीखते हैं। १

समीक्षक —

एक समीक्षक के लिखे अपेक्षित गुणों की ओर संकेत करते हुए डा० देवराज ने बताया है कि उसमें तीन योग्यताएँ, होनी चाहिए। साहित्यिक कृति को पहचानने अथवा समझने के लिये प्रथम हमें प्रकृतिक कृति या अनुभूति की विशेषताओं को भाषा में व्यक्त कर सकने की योग्यता और उसके मूल्यांकन के लिए एक दृष्टिकोण। २ इन गुणों में उन्होंने जाबुद्धता अथवा सहृदयता को समीक्षक का प्रधान और आवश्यक गुण माना है। उन्होंने लिखा है 'जो रसिक या जाबुद्ध नहीं है जो काव्य कृति या काव्यानुभूति की वैशेष्य ही नहीं पहचान या हृदयंगम कर लेता वह आलोचक नहीं बन सकता। अफसस आलोचक होने से पहले मनुष्य को सफल पाठक होना चाहिए। क्योंकि साहित्य

१ 'साहित्य विज्ञान', डा० देवराज भूमिका, पृ० १।

२ वही पृ० ५।

कार अपनी अनुभूति को माया के प्रतीकों में व्यक्त करता है इसलिये प्रत्येक पाठक और आलोचक का माया से प्रगाढ़ परिचय होना चाहिये। और चूँकि काव्यगत अनुभूति एक बिशिष्ट रसमयी होती है इसलिये उसमें बिशिष्ट रससाहिता की उपस्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि बिज्ञान साहित्यकारों की इतनी प्रशंसा करने के सिरे पाठकों और आलोचकों को सुविधित होना चाहिये। बस्तुतः साधारण पाठकों की अपेक्षा आलोचकों का ज्ञान अंदर कहीं अधिक सम्पन्न होना चाहिए।<sup>१</sup>

#### छायावाद —

डा० देवराज के मतानुसार छायावादी कवियों की रचनात्मक शक्ति के स्तरीय ह्रास के अनेक कारण में से एक यह भी है कि उनके पास कोई स्पष्ट सामाजिक बचन, सामाजिक आदर्श या सामाजिक सन्देश नहीं था। उन्होंने लिखा है बस्तुतः छायावादी काव्य नैतिक प्रयत्न पर जनतात्मिक समत्वभावना और व्यक्ति की महत्व घोषणा का काव्य है। सामन्ती राजा राजियों के चरित्र के स्वान पर वह साधारण मनुष्य के साधारण मनोभारों और आकांक्षाओं को प्रतिष्ठित करता है। महारथी की कहीं कहीं पर है कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक शक्ति का इतिहास लिख लेना चाहता है। यह बलव्य छायावाद की व्यक्तिवादी "लिस्ट" को प्रकट करता है जहाँ ब्रह्म और स्वतंत्रता के महत्व का कोई संकेत नहीं है। निःसंदेह छायावाद इहानीतिक प्रेम और सौन्दर्य भावना का काव्य है। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप और प्रेम निवेदन को ब्रह्म विषयक पोषित करना, यह ब्रह्म का एक अंग मात्र है कि छायावादी कवि का इन चीजों में अनुत्पन्न है। अस्तु काव्य साहित्य का विषय मनुष्य का जीवन और स्वर्ग यातनी आकांक्षा ही है, और काव्य का उच्चतम प्रयत्न होता है देवी या पारसीकिक नहीं।<sup>२</sup>

#### प्रमतिवाद —

"प्रमति और परम्परा" शीर्षक निबन्ध में डा० देवराज ने प्रमति की व्याख्या करते हुए उसका अर्थ बताया है बाह्य तथा आन्तरिक धर्मात्त चेतना का उत्तरोत्तर

१ 'साहित्य विमला', डा० देवराज

२ भाषणिक समीक्षा डा० देवराज

विस्तार । उनके विचार से प्रगति के विविध युगीन उपकरणों का आरम्भालु करने के लिये उच्चकोटि का विवेक अपेक्षित है । प्राचीनता और नवीनता का सन्तुलित स्वीकरण तभी सम्भव है । उन्होमे लिखा है 'ऐसी स्थिति में प्रगति एवं प्रगतिवाधिता का एक ही अर्थ हो सकता है मानवता के भेदना मूलक एवं सूत्रात्मक जीवन को लगातार बाये की ओर बढ़ाते चलना । प्रगतिशील कलाकार को आवश्यक रूप में पुरानी धर्मियों संगठन प्रकारों में परिवर्तन संशोधन अथवा क्षण्टि करनी पड़ती है, आवश्यक रूप से उसे अपनी कला में नवीन विषय वस्तु का समावेश करना पड़ता है । किन्तु इस सबका उद्देश्य एक ही होता है मानव मस्तिष्क में यथार्थ की अधिक समृद्ध भेदना उत्पन्न करना और सूत्रात्मक संगठन के नये रूपों में मानव जीवन की विविधता एवं स्वतन्त्रता का प्रसार करना । इस दृष्टि से देखने पर प्रगति एवं परम्परा की भाँवों अथवा मर्यादाओं में कोई मौक्तिक विषमता या विरोध नहीं है । १

प्रयोगवाद —

हिन्दी कविता के आधुनिक प्रयोगवादी आन्दोलन के स्वरूप पर विचार करते हुए डा० देवराज ने लिखा है कि हिन्दी में प्रयोगवाद का प्रयोग रूढ़ तर्कों में हो रहा है । उन्होमे बताया है कि यद्यपि यह ठीक है कि प्रायः सभी युगों में प्रयास होते रहे हैं और साहित्य की सर्वध्वष्ट रचनाएँ भी प्रयोगात्मक ही रही हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग सदैव सफलता तथा सञ्चता के ही घातक होते हैं । उनका विचार से "कोई कृति केवल इसलिये महत्त्वपूर्ण नहीं बन जाती कि उसमें (विज्ञापित या स्पूल कोटि का) प्रयोग है कृति का महत्त्व उसमें निबद्ध अनुभूति की तीव्रता महारई, विस्तार, मृतमता, तीव्रपता, स्पष्टता आदि से निर्धारित होता है । हमारे प्रकृति प्रयोग अस्मिन्दि न उल्लेखितपताएँ जाने के उपकरण होते हैं । हिन्दी प्रयोगवाद अब तक दो काम करने की कोशिश करता रहा है युग की विविध संवेदना को प्रकाशित और गठित करने की और अस्मिन्दि में नवीनता तथा ताजगी लाने की । उसमें अभी श्रेष्ठ काव्योचित परिमा विस्तार और गहराई की कमी वा अभाव है । लेखकों और परीक्षकों दोनों को समकालीन हिन्दी काव्य और कथा साहित्य से भी उम प्रकृत प्रयोगों की माँग करनी चाहिये जो उल्लेख गुणों की प्रतिष्ठा का साधन बनते हैं । २

१ आधुनिक समीक्षा, डा० देवराज पृष्ठ ४५ ।

२ साहित्य और संस्कृति डा० देवराज पृ० ७५.

महुरष और सम्भाबनार्य —

भाबुनिक हिन्दी समीक्षा क क्षेत्र में प्रबसित बिन प्रकृतियौ की बर्षा ऊनर की गयी है उनमें से समन्वयबारी समीक्षा की प्रकृति क्षेत्र क बिस्तार तथा बृष्टिकोष की ब्यापकता की बृष्टि से सबस अधिक प्रघस्त है । यह एक प्रकार स प्राचीन और नवीन, पूर्वी तथा पदिबमी सभी बिचारधारार्य का मिषय है । इसके बतिरिक्त इसमें न तो पारबोय पद्धति की भांति कट्टरबानिदा है और न भाबुनिक युगीन बिभिन्न बेशारिक पद्धतियौ की भांति कट्टर पंबानुगामिता । इसमें पारबोय सिद्धान्तौ का नवीन रूप तथा भाबुनिक बिचारधारार्यौ की बिदेकपूर्ण स्वीकृति मिलती है । इसीलिए समीक्षा की बन्ध पद्धतियौ की तुलना में इसी की सम्भाबनार्य सबस अधिक प्रतीय होती है ।

निष्क्यं —

भाबुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में प्रबसित अपर्युक्त बिदियु प्रकृतियौ के बन्धन से यह ज्ञात होता है कि उनमें पर्याप्त बिबिधता तथा समयानुरूपता है । बँसा कि ऊनर दिये गये बिबरण से स्पष्ट है भाबुनिक हिन्दी समीक्षा का भारम्भ भारतेन्दु युग के पूर्व ही हो चुका बा । भारम्भ में हिन्दी समीक्षा का रूप प्रायः परम्परानुगामी ही रहा । साहित्य के बन्ध बर्षौ की बनेसा समीक्षा के क्षेत्र में बनेसाहय रूप बिद्या पीलता रही । समीक्षा की बाध भी पर्याप्त बर्षीक थी और किसी भी प्रकार स भाबुनिक युग की बिस्तृत परम्परार्यौ के अनुपात में गहनता बिदे हुए नहीं थी । इसके बतिरिक्त उसमें एक प्रकार की अनिश्चयता की स्थिति भी थी जो प्रायः संकान्ति युग के साहित्य रूपौ में होती है । इसका मुख्य कारण यह बा कि न तो उसमें पारबोयता का ही पूर्ण रूप से अनुगमन मिलता बा और न उसमें पारबोय प्रभाव की ही सम्पक रूप से ग्रहण बिद्या गया बा ।

भारतेन्दु युग से सिकर वर्तमान युग तक की बिदियु हिन्दी समीक्षा प्रकृतियौ में ब्याप्त बायपीलता इस तथ्य की और भी सुनिश्च करती है कि उनका सहरण प्रायः युग और परम्पर के अनुसार ही निर्धारित होता रहा है । भारतेन्दु युग में जो समीक्षा होनी थी वह किसी बृति बयबा कृतिकार की प्रबंता बप्रबंता की पूर्ण भाबना से ही बागुहीत थी । हमारे समयों में यह कहा जा सकता है कि वह उनके युग बोप रूपन तक ही सीमित थी । बिदेवी युग में भाया और भाब की बृष्टि से भी उसका पीछरण भारम्भ

हुमा। साहित्यकारों के प्रसिद्धि नाम के स्थान पर इस युग में उनकी कर्मियों की ओर भी विशेष रूप से संकेत किया गया तथा उनका परिष्कार की चेष्टा हुई। सुनक युग में हिन्दी समीक्षा क्षेत्र की व्यापकता और भी बढ़ी। समीक्षा के नाम अनेकानेक विचार वृष्टि से निर्धारित हुए। सुनकोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा भारतीय तथा पारश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वित रूप में समावेश के साथ धीरे धीरे स्थिरता प्राप्त करने लगी।

ऊपर विन विविध समीक्षा प्रणालियों की चर्चा की गयी है, वे हिन्दी समीक्षा की व्यापक व्यापक भूमि और सम्भावनाओं का चोटन करती हैं। उनमें वहाँ एक ओर प्राचीनतावादी परम्पराएँ मिलती हैं वहाँ दूसरी ओर आधुनिक चिन्तन की नवीनतम प्रणालियों का भी परिचय प्राप्त होता है। विविध साहित्यिक आन्दोलनों की समीक्षात्मक परिष्कृति का सूचन करने वाली ये प्रवृत्तियाँ समीक्षा क्षेत्रीय किसी भी रूप को रोक नहीं रखे हैं। यहाँ तक कि भाषा विज्ञान तथा सोच जैसे क्षेत्रों में भी उनका सीधे पति से जो प्रसार हो रहा है, वह उसकी व्यापकता का परिचायक है। मनोविश्लेषण आदि का व्यापार लेकर जो प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं, वे युग के अनुकूल चिन्तन का प्रमाण देती हैं। समन्वयात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति भारतीय औरक के अनुकूल ही विषय की विपरीतता और सम्पूर्णता से युक्त वृष्टिकोण की सूचक है।

हिन्दी समीक्षा की विविध पद्धतियों का सैद्धान्तिक व्यापार मुख्य रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य तथा उससे प्रभावित परम्पराएँ ही हैं यद्यपि पारश्चात्य समीक्षा का भी व्यापक रूप से तत्काल समावेश उसमें मिलता है। भारतीय सिद्धान्तों में जो व्यापकता और सूक्ष्मता है वह उनके गहन चिन्तनात्मक व्यापार की सूचक है। इसलिए हिन्दी समीक्षा के लिए उनकी बस्तीवृत्ति सदैव आवश्यक है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि वृद्धिवादिता से हिन्दी समीक्षा का न तो स्तर ही ऊँचा उठ सकता है और न उसका आधुनिक युग प्रसार ही। इसलिए उसकी नवी सम्भावनाओं की वृष्टि से यह आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण स्वीकृति के साथ ही साथ पारश्चात्य नवीन चिन्तन भारत के प्राच्य तत्त्वों को उस में समाविष्ट किया जाय। हिन्दी समीक्षा का वर्तमान रूप इसी दिशा में निर्धारण प्राप्त कर रहा है और इसलिए उसकी सम्भावनाएँ सन्तोषजनक तथा क्षेत्र प्रचस्त हैं।

अध्याय १०

उपसंहार





## सम्यक मान के निर्धारण की आवश्यकता और सम्भावनाएँ

पिछले अध्यायों में किन गये अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि साहित्य के मानबंद के निर्धारण की समस्या अत्यन्त व्यापक होने के साथ ही साथ बहुमुखी भी है। इसका सम्बन्ध चिन्तन के उन पक्षों से है जो युगीन चेतना से प्रभावित होते हैं। युग परिवर्तन के साथ प्रायः सर्वत्र ही नवीनता का आविर्भाव होता है। यह नवीनता धीरे-धीरे संक्रमित और गतिरोध का परिणाम होती है। इसका आकार एक अनिश्चयात्मक स्थिति होती है। उससे कई सत्य कोटित होते हैं। एक यह कि प्राचीन प्रवृत्तियों में ह्रासालम्बता दिखाई देती है और दूसरे यह कि अनिश्चय विकास की सम्भावनाएँ आभासित होती हैं। यह एक यथार्थता है और साहित्य तथा उसके मूल्यांकन के दृष्टिकोण से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। निम्न-निम्न युगों का साहित्यिक इतिहास इस तथ्य का प्रमाण देता है।

### आवश्यकता —

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या इस प्रकार से एक मूलभूत समस्या है जिसकी उपेक्षा कोई भी सम्यक चिन्तक नहीं कर सकता। साहित्य के मूल्यांकन के ऐसे मानबंद का निर्धारण करना, जो युग और प्रवृत्ति की संकुचित सीमानों का अतिक्रमण करके गम्भीर और स्थायी रूप से साहित्य की कसौटी बन सके और उसकी श्रेष्ठता की परख कर सके यही संकल्पित कालीन प्रबुद्ध विचारक के सामने प्रबल चिन्तन विन्दु है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है यथार्थ साहित्य स्वर की उपेक्षा करके उसका निर्धारण नहीं हो सकता। साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में निम्न-निम्न युगों में जो प्रबल विविध आन्दोलनों के रूप में किए जाते हैं उनका उद्देश्य केवल एक ही दृष्टिकोण से साहित्य की परख करना होता है। सर्वांगीण रूप से साहित्य को आकार बनाते हुए उसका आवश्यक मान निर्धारण इस प्रकार के आन्दोलनों का उद्देश्य नहीं होता। साहित्य

के क्षण में जो संकड़ों आम्बोसन जब तक आयोजित किए गए हैं और जिन वर्गों बादों का प्रचलन होता रहा है उनमें एकांगिता की व्याप्ति का यही मुख्य कारण है।

रूपारमक आचार की प्रचलता :—

भारतीय अथवा पारशात्य भाषाओं में समीक्षा के क्षेत्र में बितने भी आम्बोसन हुए और जो मानवद्वि निर्धारित किए गए, उनका अध्ययन करने पर हमें इस तथ्य की अवगत होती है कि प्रायः प्रत्येक युग में साहित्य के रूपारमक आचार को ही प्रचलता ही गई है। यह रूपारमक आम्बोसनों के अन्तर्गत में विशेष रूप से सत्य है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि सम्पत्ति या पठितोष के युगों में जिन आम्बोसनों का सूत्र पात होगा है, वे प्रायः उसके उन्ही तत्त्वों से सम्बन्ध रखते हैं जो व्यापक होते हैं और अन्य तत्त्वों से सम्बन्ध नहीं रखते प्राचीन भारतीय समीक्षात्मक सिद्धान्तों के विषय में भी यही कथन सत्य है। रूपारमक प्रतीकवाद तथा अभिव्यक्तगाथाव आदि विदेशी एवम् अकारणिक तथा अलकार आदि भारतीय बादों और सिद्धान्तों का स्वर और आचार भी हमारे इस कथन का प्रमाण है।

सैद्धांतिक एकांगिता —

समीक्षा की प्रक्रिया और स्वरूप का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह एक प्रकार का पूर्ण इतिहास है जो मूलतः एक सांस्कृतिक कृत्य का आभास देता है। उसमें किसी विशिष्ट दृष्टिकोण की स्थिति इसीलिए अनिवार्य है क्योंकि उसके अन्तर्गत में उसका महत्त्व समाप्त हो जाता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो अनेक प्रकार की समीक्षा प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं उन सब में मुख्यतः एक ही मूल तत्व दृष्टिगत होता है। उनमें हमें यह विश्वास देता है कि किसी साहित्य में कौन सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो मनुष्य पर प्रभाव डालती हैं। साहित्य मानवी अनुभूतियों की स्पष्टतः मुक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। इसीलिए पाठक पर उसका प्रभाव पड़ता है। अतः जिस रूपारमक कठौटी का उद्देश्य किया गया है उसको हम इसी कारण से अपूर्ण या एकांगी मानवद्वि कहते हैं क्योंकि साहित्य की रचना की व्यापक प्रक्रिया के केवल एक ही पक्ष से उसका सम्बन्ध है। जो भी साहित्यकार और समीक्षात्मक मानवद्वि भिन्न युगों में आभिर्भूत होते हैं वे साहित्य के व्यापक स्वरूप में से केवल किसी एक अंग का चयन कर लेते हैं और उसे एक विशेषता अथवा तत्व मान कर केवल उसी

से सम्बन्ध रहते हैं। समीक्षात्मक मानदंडों और प्रवृत्तियों में जो भारी अन्तर और पारस्परिक विरोध पाया जाता है उसके मूल में भी यही कारण है।

समीक्षा के एकान्वी होने के कारणों की ओर ऊपर उचित किया गया परन्तु हमें तो मुख्यतः इस बात पर विचार करना है कि सम्यक मानदंड का निर्धारण कैसे हो सकता है। बाह्य रूप का परीक्षण करने वाले जो मानदंड हैं वे अभिव्यक्ति के प्रकार की कसौटी मात्र कहे जा सकते हैं। उनका सम्बन्ध साहित्य में निहित अर्थ तत्त्वों से विशेषतः नहीं होता। इसी प्रकार से समीक्षा के जो मानदंड उसके आन्तरिक तत्त्वों का परीक्षण करते हैं उसके बाह्य रूप अथवा अभिव्यक्ति के प्रकार पर अधिक गौरव नहीं देते और उसकी अपेक्षा करते हैं। कहने का आशय यह है कि साहित्य के आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूपों का पृथक-पृथक रूप से मूल्यांकन करने वाले समीक्षात्मक मानदंड पूर्ण नहीं कहे जा सकते। यदि उसकी विषय वस्तु की परख करने वाले मानदंड में एकांगिता होती है तो उसके बाह्य रूप का परीक्षण करने वाले मानदंड में भी अपूर्णता होती है।

पूर्ण समीक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसमें उपर्युक्त प्रकार की एकांगिता न हो। यह सभी सम्भव होना जब उसमें मूल अथवा साहित्य के किसी भी यथार्थ की अपेक्षा न की जाए। सम्यक समीक्षा का सूचन करने वाला मानदंड हम उसी को कह सकते हैं जिसमें उपर्युक्त संशयता विद्यमान हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि समीक्षात्मक मान में अनिवार्य रूप से इतनी पूर्णता हो कि वह किसी साहित्य की मूल अनुभूति का भी परीक्षण कर सके और इसके साथ ही सम्बन्ध उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार की उपयुक्तता की परख कर सके।

संस्कृत समीक्षा सिद्धांत —

प्राचीन संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत जो विद्वान् हुआ है और उसमें समीक्षा का जो स्वरूप मिलता है उसमें अधिकोपलब्ध साहित्य के गुण दोष निरूपण की प्रवृत्ति ही विद्यमान विद्यार्थ पढ़ती है। दूसरे अर्थों में संस्कृत समीक्षात्मक सिद्धांतों में भी वह एकांगिता विद्यार्थ देती है, जो पाठशास्त्र विचारधाराओं में मिलती है यद्यपि आनुपातिक रूप में वह पाठशास्त्र समीक्षा की अपेक्षा अधिक व्यापकता और पूर्णता के परिचायक है। उनमें भी साहित्य को या तो रक्षारक्षता की दृष्टि से परखा गया है और या

फिर अर्थात् निरूपण की दृष्टि से। इस प्रकार के दृष्टिकोण में यद्यपि कलात्मक पूर्णता का अभाव नहीं मिलता परन्तु यह भी निश्चित है कि उसमें अनेक महत्वपूर्ण तत्त्व पूर्णरूप से उपादेय भी प्रतीत होते हैं। सेनेत्र जैसे ५-कित्त जब औचित्य निरूपण प्रस्तुत करते हैं तब वे पद्य औचित्य स्वभाव औचित्य तथा प्रथमा औचित्य आदि का उल्लेख करते हुए औचित्य की दृष्टि से साहित्य की परख की कसौटियाँ बताते हैं। तब वह नीति औचित्य तथा सौन्दर्य औचित्य अपना अर्थ औचित्य जैसे औचित्यों का उल्लेख तक नहीं करते। इससे यह सिद्ध होता है कि शास्त्रीय दृष्टिकोण से यद्यपि संस्कृत के साहित्य शास्त्री बहुत उच्चकोटि के चिन्तक थे परन्तु इतना होते हुए भी उम्होम कभी भी यथार्थ रूपसे किसी मूल अनुभूति को समग्र मानवता अथवा सारवर्तता की दृष्टि में नहीं देखा। इपीमिह हम यहाँ पर अपना यह कथन फिर पुष्ट करते हैं कि संस्कृत समीक्षा के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में विद्येय रूप से साहित्य की बाह्य रूपात्मक अथवा अभिव्यक्तिगत विद्येयताओं की ही परख करने की चेष्टा की गई। इसलिए संस्कृत समीक्षा के सिद्धान्त आधुनिक युग में ऐसे नये बहिर्काष्ठ साहित्य की परख के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होते।

### हिन्दी रीति सिद्धान्त —

संस्कृत समीक्षा के पश्चात् उसी का पूरा आधार और प्रेरणा लेकर हिन्दी समीक्षा का आविर्भाव और विकास हुआ। इसीलिए हिन्दी समीक्षा के लिए भी यह आवश्यक था कि आरम्भ में वह संस्कृत समीक्षा का ही सैद्धांतिक रूप से अनुगमन करती। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में जो समीक्षा साहित्य लिखा गया, उसका आदर्श प्रायः संस्कृत समीक्षा के सिद्धान्त ही हैं। जहाँ तक आधुनिक हिन्दी समीक्षा का सम्बन्ध है भारतेन्दु युग से इसका आरम्भ माना जा सकता है। यद्यपि इस युग में कुछ लेखकों ने समीक्षा का कार्य किया परन्तु इस युग के समीक्षकों की दृष्टि में जो कविशक्ति और परम्परा-नुयामिता को प्रवृत्ति व्याप्त थी उसने युग की हिन्दी समीक्षा का सम्यक् रूप से विकास नहीं होने दिया। आगे चलकर द्वितीय युग में हिन्दी समीक्षा को यद्यपि एक प्रशस्त मार्ग मिला, परन्तु उसमें भी कविशक्ति का अभाव न रहा। आठवीं युग की शक्ति इस युग के समीक्षक भी साहित्य के उच्च मूल्यों और उदात्त तत्त्वों की उपादेयता करके उत नुच और शोषों का ही विश्लेषण करते रहे और इतनी अल्प अर्थों की शक्ति भी समझते रहे। इन कारण हिन्दी रीति सिद्धान्त में आगे चलकर परम्परा के रूप में ही मान्य रह गये।

### भाषुनिक सिद्धान्त —

इस युग तक हिन्दी समीक्षा में प्रायः संस्कृत का पिष्टपेषण ही किया गया है। सुवर्ण युग में इस स्थिति में अक्षय्य कुछ सुधार हुआ है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को उसकी उच्चतम सम्भावना के स्तर पर ले आकर प्रतिष्ठित किया। भारतेन्दु और हिन्दी युग की समीक्षा जिस प्रकार दोषों से युक्त थी उसका सुवर्ण युग में निमूखन करने का प्रयत्न किया गया। इसीलिए उसके छात्र मन्त्रिकारी उपसम्भारों बिराई की। साहित्य के सामान्य गुण दोष विवेचन से सुधारवादी परम्परा का परिष्कार किया गया और उसमें नवीनतर तत्त्वों को समाविष्ट किया गया। समीक्षा का शास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में समझा गया और संकुचित दृष्टिवादी को त्याग्य घोषित किया गया। साहित्यिक मर्यादा की कठोरता का स्पष्टीकरण हुआ और यह मान्य किया गया कि समीक्षा के काम का बाह्य विस्तार की पद्धति की उच्चता और पृथक्ता से ही निर्दिष्ट और प्रभावित होता है।

### अनुभूति का अर्थ —

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के जो मान अनुमादित किए, उनमें अनुभूति की संज्ञाई और गहराई पर बल दिया गया। किसी भी प्रकार के संकुचित अर्थवादी दृष्टिवादी का अनुभवगत उन्हीं कमी भी अनुभवित नहीं किया और सबैक ही उन मानों से और प्रवृत्तियों की उपेक्षा की जिन्का संज्ञातन किहीं सामयिक विचार तर्कों की सीमाओं के फलस्वरूप होता है। इसीलिए सुवर्ण युग में समाज की नीति और मर्यादा का साहित्य की रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में जो स्वरूप निर्धारण किया उसमें प्राचीनता का समर्पण और उसी की ओर झुकाव तो दिखाई देता है परन्तु कठिनायिता या परम्परापारिता का संकुचित स्वरूप नहीं है। इसीलिए उनके सिद्धांतों का हिन्दी समीक्षा की महान्तम उपसम्भारों के रूप में मान्य किया जाता है।

### सोनीय प्रवृत्ति —

सुवर्णोत्तर युग में हिन्दी समीक्षा का स्तर उच्चतर तो न हो सका परन्तु उसके विचारों के अन्तर्गत प्रायः अक्षय्य युग में। हिन्दी समीक्षा में अन्तर्गत तत्त्व समावेष्टित होने लग और बहु पाठ्यात्म भाषुनिक भाषों और प्रवृत्तियों से प्रभाव ग्रहण करने लगे। हिन्दी के क्रियारमक साहित्य के क्षेत्र में भी अन्तर्गत आन्वित्य आरम्भ किए

एए और उन्होंने भी हिन्दी समीक्षा की विकास गति को प्रभावित किया। हिन्दी समीक्षकों के अनेक वर्ग हो गए और वे सब विविध प्रवृत्तियों में योग देने के कारण विविधता प्राप्त करने लगे। सौख्य की गई भावनाओं और बौद्धिक सम्भावनाओं ने ने भी समीक्षा को प्रशस्त किया और उसका विकास हुआ।

सामयिक मान —

समीक्षा के कुछ मानदंड अस्थायी भयवा सामयिक होते हैं। इनका निर्धारण समय-समय पर होने वाले साहित्यिक और वैचारिक आन्दोलनों के फलस्वरूप होता है। योरोप के रूपवाद तथा हमारे वहाँ के प्रयोगवाद आदि आन्दोलन इसी प्रकार के हैं। इनमें मुख्य रूप से साहित्य के बाह्य रूप अथवा व्यक्तित्व के प्रकार के आधार पर ही उसका परीक्षण किया जाता है। इन आंदोलनों को दूसरे शब्दों में सुगीत साहित्य की विविध प्रवृत्तियों के रूप में भी मान्य किया जा सकता है। प्रवृत्तियाँ यद्यपि भ्रम रूप से सामयिक साहित्य के सम्बन्ध में प्रकृतित होती हैं परन्तु अन्ततः उनका सम्बन्ध साहित्य के शाश्वत रूप से जोड़ा जाता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि साहित्य के बाह्य रूपगत प्रयोग के क्षेत्र में प्रायः प्रत्येक युग में नई सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। इसलिए इस प्रकार बाह्यतः मानदंडों में भी उसी प्रकार की अपूर्णता या एकाग्रता विद्यमान रहती है, जिसकी लक्ष्णा हम ऊपर कर आए हैं।

भगीकरण की आवश्यकता —

समीक्षा शास्त्र एक उच्च कोटि की प्रतिभा की अपेक्षा करता है। उस ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक श्रेष्ठ समीक्षक को एक तरह की अनुशासनात्मक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। तभी वह अपने आप में इस पाठ की सामर्थ्य उत्पन्न करता है कि वह इस विषय के उच्चतर प्रदत्तों के सम्बन्ध में चिन्तन कर सके और उनका हल निकाल सके। उसे अनेक प्रकार की विरुधियों और संकुचितताओं से बचना पड़ता है और एक सामान्य पाठक की अपेक्षा अधिक सहानुभूति पूर्वक साहित्य का पाठोपलब्ध करके अपना मूल्य स्थापित करना पड़ता है। चूँकि यह कार्य बिना एक व्यापक दृष्टिकोण अथवा मानदंड के नहीं किया जा सकता इसलिए उसे विरस्तन मानदंड की भी कोश करनी पड़नी है। उसकी रस प्राहिणी शक्ति और प्रबुद्ध विवेक इस कार्य में उसकी सहायता करता है। वह यह देखता है कि समीक्षा का सम्यक मानदंड ऐसा होना चाहिए जो उसकी अनुभूति का परीक्षण तो कर ही सके इसके साथ ही उसकी कोटि निर्धारण करने में भी समर्थ हो।

सिद्धांत समीक्षा —

इन प्रकार में जो समस्या अब सामने आती है उसका क्षेत्र न केवल रचनात्मक साहित्य के परीक्षण तक ही सीमित रहना है बल्कि समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित मानदंडों का परीक्षण भी हो जाता है। इनमें से प्रथम एक सम्मेलन उतना विषम नहीं है क्योंकि समीक्षा का काम ही रचनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करना है। परन्तु इस मूल्यांकन की आधारभूत मानदंडों का औचित्य परीक्षण एक मजबूत बहस का कार्य है। मानदंड स्वयं साहित्य की श्रेष्ठता का परीक्षण करता है। उस मानदंड के भी औचित्य का परीक्षण द्विगुणित रूप से दुर्लभ हो जाता है। वास्तव में समस्या यह हो जाती है कि जो मानदंड हम रचनात्मक साहित्य के मूल्यांकन के निर्धारित करना चाहते हैं उनके औचित्य का परीक्षण किस प्रकार से हो ?

औचित्य का परीक्षण —

स्पष्ट रूप से समीक्षात्मक मानदंड के औचित्य का परीक्षण इस दृष्टिकोण से किया जा सकता है कि चूंकि समीक्षा का काम किसी रचनात्मक कृति के महत्त्व का निर्धारण करना है अतः समीक्षात्मक मानदंड को स्पष्ट रूप में यह निश्चित संकेत कर सकता पाहिए कि साहित्य की श्रेष्ठता का धारणात्मक अंगीकरण किस प्रकार से किया जा सकता है। जो भी समीक्षात्मक मानदंड इस प्रकार की समर्पता से युक्त होगा वह निश्चित रूप से विविध संकुचित सीमाओं का अतिक्रमण करके स्वाभाविक प्राप्त कर सकेगा। इसके विपरीत जो मानदंड इस प्रकार की सामर्थ्य से रहित होगा वह किसी भी प्रकार से युग स्थायी नहीं सिद्ध हो सकेगा अतः उचित दृष्टिकोणों की कल्पना भी विचारणा हो अथवा मापक निश्चितता हो। इसलिए साहित्य का परीक्षण करने वाला सर्वमान्य समीक्षात्मक मानदंड निर्धारित करने की विद्या में जो मुख्य और आवश्यक निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं वह यह है कि उन्ने पाठक के सार्वभौम अनुभव की विवेचना करने में समर्थ होना चाहिए।

परिवर्तनशीलता —

ऊपर के बक्तव्य का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि समीक्षात्मक सिद्धांतों अथवा मानदंडों में जो परिवर्तनशीलता या अस्थिरता की प्रवृत्ति होती है वह कोई हासिलमुक्त संकेत है। वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि ये मानदंड मूलतः साहित्यिक कृतियों



के महत्व का नियंत्रण करते हैं। इसलिए साहित्य में अभिव्यक्त नवीनतर अनुभूति के लिए सर्वत्र ही कोई रुढ़िवादी मानदंड नहीं प्रयुक्त किया जा सकता। साहित्य में जो नवीनता समय-समय पर दिखाई देनी है उसका मूर्त्वांकन सम्यक रूप से किया जा सकने के लिए यह आवश्यक है कि उस मानदंड में भी नवीनता का समावेश समय-समय पर होता रहा है। यह एक स्वाभाविक विकास का सूचक है और इसीलिए समीक्षारत्मक मानदंड परिवर्तनशील होते हैं।

#### परिवर्तनशीलता के कारण :-

समीक्षा के सिद्धांतों और मानदंडों में परिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति का एक और कारण होता है। जो भी सिद्धांत या मानदंड किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से रचनात्मक साहित्य का परीक्षण करता है वह उसी समय तक औचित्यपूर्ण भावित होता है जिस समय तक वह उसके उपयुक्त प्रमाणित होता रहे। रचनात्मक साहित्य अथवा कृति की किसी विशिष्ट सिद्धान्त द्वारा की गई व्याख्या जब तक पुरानी नहीं पड़ती है अथवा किसी नवीन अर्थ की अपेक्षा नहीं रखती, तब तक उस सिद्धान्त में भी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं मान्य होती। परन्तु जैसे ही उसकी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है उस सिद्धांत में भी परिवर्तन आवश्यक हो जाता है, क्योंकि नवीन व्याख्या के लिए सर्वत्र एक नवीन दृष्टिकोण भी आवश्यक होता है, जो प्रायः रुढ़िवादी और परम्परावादी विचारवाचक से प्राप्त नहीं जाता और इसीलिए यहुना उसका विरोध होता है।

#### विकासशीलता —

सम्यक समीक्षारत्मक मानदंड निर्धारण के लिए भी यह आवश्यक है कि समीक्षा क्षेत्रीय विविध सिद्धान्तों का परीक्षण करते हुए यह देखा जाए कि उनमें किस प्रकार की विविधता और पारस्परिक विरोध की भावना विद्यमान है। इसके अतिरिक्त यह अध्ययन करना भी आवश्यक होगा कि समीक्षारत्मक मानों में अस्थिरता क्यों होती है और क्यों वे परिवर्तित होते रहते हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि चूंकि समीक्षा का मानदंड रचनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति का परीक्षण करता है और यह अनुभूति सर्वत्र परिवर्तित रूप में व्यक्त होती है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी व्याख्या करने वाला समीक्षारत्मक मानदंड भी उसी अनुपात में परिवर्तित होता रहे। इस दृष्टि से यदि हम समीक्षारत्मक मानदंड को रचनात्मक साहित्य में अभिव्यक्त अनुभूति की व्याख्या करने वाला एक माध्यम मानते हैं तो हमें यह भी

स्वीकार करना होगा कि उसमें भी विकासशीलता के कारण वह परिवर्तन होता अनिवार्य है, जो उसके सामायिक रूप में की अस्थिरता का मूल कारण होता है ।

बहुसंख्यता —

विभिन्न समीक्षा सिद्धान्तों के परिष्कारात्मक इतिहास के देखने पर इस बात का भी पता चलता है कि इस क्षेत्र में व्यापक रूप से बहुसंख्यता विद्यमान है । जैसा कि पीछे के अध्यायों में हमने देखा है कि समीक्षात्मक उद्देश्य की निष्पत्ता भी इस बनेफ़काता का एक बड़ा कारण है । प्रत्येक समीक्षा पद्धति एक सीमित रूप में ही साम्यता प्राप्त है । उसमें किसी तरह की एकांगिता अवश्य विद्यमान है और इसलिये दूसरे सिद्धान्तों के प्रवर्तन की सदैव सम्भावना बनी रहती है । दूसरा सिद्धान्त उसी प्रकार से अपूर्णता लिए रहता है क्योंकि यदि वह एक क्षेत्रीय अपूर्णता से बचने की चेष्टा करता है तो उसमें किसी दूसरे प्रकार की एकांगिता भा जाती है । इसके अतिरिक्त इसी का एक दूसरा परिणाम यह दिखाई देता है कि एक प्रकार की समीक्षा जिन सिद्धान्तों पर आधारित रहती है, दूसरे दृष्टिकोण से वे सर्वथा अपूर्ण रहते हैं । इसी तरह से दूसरे प्रकार की समीक्षा के सिद्धान्त प्रथम दृष्टि से अपूर्णता लिए होते हैं । इसी प्रकार से एक समीक्षा प्रणाली के तर्क दूसरी को तथा दूसरी समीक्षा प्रणाली के तर्क पहली को अमान्य रखते हैं । किसी भी प्रकार से ऐसी कोई समीक्षा प्रणाली नहीं दिखाई देती जो सभी प्रकार की एकांगिताओं और अपूर्णताओं से बचकर सम्पूर्णता का आदर्श उपस्थित कर सके और सर्वमान्य हो सके । इससे यह प्रतीत होता है कि व्यावहारिक जगत्वा सैद्धांतिक दृष्टिकोण से कोई भी समीक्षा पद्धति समग्र रूप से ऐसी नहीं हो सकती जिसमें विभिन्न प्रकार की समीक्षा प्रणालियों की अपूर्णताओं और एकांगिताओं का समावेश हो । इसलिये समीक्षा के व्यापक मानदंड के निर्धारण के लिए प्रचलित और साम्य प्रणालियों की एकांगिताओं की तो परख करनी ही होगी उसके साथ ही साथ नवीन स्वल्प के सम्बन्ध में भी विभिन्न प्रणालियों की एकांगिताओं का बहिष्कार और पूर्णताओं का जयन करना आवश्यक होगा ।

मान निर्धारण की प्रक्रिया :—

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि कोई भी नवीन सिद्धान्त या बात किसी न किसी युग में अवश्य ही कठिनाइयों द्वारा त्याग्य औपिठ किया जाता है तथा एक युग ऐसा भी आता है, जब वह स्वयं कठिनायी सिद्ध होने लगता है तथा उस समय के नवीन

सिद्धान्त द्वारा उसका सङ्ग होता है और वह स्वयं उस नवीन सिद्धान्त का विरोध करता है समीक्षा के क्षण में सबैव से यही प्रकृति व्याप्त दिखाई देती है। परन्तु इसका मूल में विरोध की भावना होती हुए भी किसी प्रकार की सङ्कुचितता नहीं होती। वास्तव में ऐसे समय आते हैं जब समूह पुनः और व्यापक साहित्य सिद्धान्त भी युग के साथ नहीं चल पाते और उनमें अपूर्णता आमादि होने लगती है। जो भी तथा सिद्धान्त आभिमूर्त होता है, वह यथासम्भव इन अपूर्णता से बचने का पथ ढूँढने की चेष्टा करता है और उन सभी प्रभावों को पूर्ण अन्त में लिए रहता है जो उस सिद्धान्त विषय में होते हैं इसलिए कभी यह कहना उचित नहीं है और असत्य होता है कि कोई सिद्धान्त विशेष सभी अर्थों में सङ्कुचित अथवा परम्परानुयायी है क्योंकि युग विकास के साथ ही प्रत्येक प्रकार की समीक्षा दृष्टि में विकासशीलता के कारण परिवर्तन आवश्यक होता है और प्रायः यह इसके दृष्ट में भी होता है। हमारे अर्थों में यह कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य की नीति ही समीक्षात्मक साहित्य में भी कुछ प्रगतिशील रूप में होते हैं जो इस सिद्धान्तगत अथवा रूपगत परिवर्तन का मूल कारण होते हैं। जब भी कोई सिद्धान्त अपूर्ण अथवा असामयिक प्रतीत होने लगता है तब स्वाभाविक रूप से किसी न किसी ऐसे सिद्धान्त का आभिमूर्त अवश्य होता है जो किसी न किसी अर्थ में उसका पूरक सिद्ध होता है।

#### भागों की अपूर्णता —

जब हम किसी पूर्ण समीक्षात्मक मानक की खोज करते हैं तब यह आर्षका बराबर रहती है। चूंकि सभी मानक किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता लिए रहते हैं इसीलिए कोई पूर्ण सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। यह एक व्यापक सत्य है, जिसे किसी भी परिस्थिति में अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इस विषय में प्रयत्न ही न किया जाए अथवा किसी पूर्ण सिद्धान्त के निर्माण की सम्भावना पर विचार न किया जाए। हमारे विचार में किसी भी नए मानक की सार्थकता इतने मात्र से सिद्ध हो जाती है कि वह किसी भी विषय अर्थ में अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्त वा मानक की अपेक्षा अधिक पूर्णता लिए हुए है। इसके अतिरिक्त यदि उसमें परिवर्तनगत व्यापकता भी है और युगीन यथार्थ की सम्पूर्णता के साथ व्याख्या करने की सामर्थ्य है तो उसके लिए अवश्य चेष्टाशील रहना चाहिए।

#### मानकों का मोक्ष परीक्षण —

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षा के उचित और पूर्ण

मानदंड का निर्धारण एक जटिल समस्या है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से समीक्षा सास्त्र के इतिहास का अग्रसंकेत करने पर भी हम जान का पता लगता है कि ऐसा मानदंड कभी भी मान्य नहीं हो सका। विविध युगों में रचनात्मक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए जो मानदंड प्रवर्तित रहे वे सर्वत्र ही किसी न किसी अनिर्वादिता अथवा रुढ़िवादिता से आक्रान्त थे। उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो अधिक संयत थे इतना निश्चित था कि वे पारस्परिक रूप से एक दूसरे के विरोधी थे। इसलिए समीक्षात्मक चिन्तन के क्षेत्र में जो मुख्य समस्या रही है वह यही है कि ऐसा मानदंड किस प्रकार निर्धारित हो जो सर्वथा औचित्यपूर्ण हो। ऐसा तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम विविध समीक्षात्मक मानदंडों की परख करके उनके औचित्य का भी निर्धारण न कर सकें।

### सुख निर्धारण और नियंत्रण —

समीक्षात्मक मानदंड की मूल प्रेरणा मिश्र मिश्र जीवन मूल्यों की अनीनता से निर्देशित होती है। इन मूल्यों का व्यक्तित्व और समन्वित रूपों में बंध प्रतिपन्न होता है और समाज के सांस्कृतिक विचार पर उनका आरापीकरण होता है तब उनकी यथार्थ चेतना की अवगति विचारकों को होती है। मूलतः चेतना की यह अवगति ही समीक्षात्मक कमीटी की अवगती होती है। परन्तु मूल चेतना की अवगति का रूप निर्धारण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि किसी बड़े काल लंब के मध्य अन्तर्गत की सभी सांस्कृतिक और वैचारिक उपसंस्थितियों का बहुत यथार्थ सेला-ओला सामने न हो। दूसरे शब्दों में सांस्कृतिक और वैचारिक संघर्षना ही इन मूल्यों की निर्धारक और नियंत्रक होती है। इसके अतिरिक्त इसी का एक दूसरा पक्ष भी है। उसके अनुसार जब तक तक सीधे इतिहास के फलस्वरूप प्राप्त समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर किसी भाषा के विचारकों के पास नहीं होती तब तक उच्च साहित्यिक कसौटियाँ और जीवन मूल्यों का निर्धारण नहीं हो सकता। यह सांस्कृतिक धरोहर ही जीवन मूल्यों का निश्चितीकरण करती है और इन मूल्यों के आरापीकरण से प्रत्येक ऐसी चेतना का मूल्यांकन होता है, जिसका सत्य सांस्कृतिक उपसंस्थितियाँ होती हैं। विशेष रूप से वहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है वह पूर्ण रूप से सांस्कृतिक चेतना का मूलन करता है। इसलिए उसके परीक्षण में जीवन मूल्यों की यह कमीटी सर्वाधिक रूप से सार्थक होती है। इसका कारण यह होता है क्योंकि वहाँ एक ओर साहित्य सर्वमन्त्र होता है वहाँ दूसरी ओर यह सांस्कृतिक उपसंस्थितियाँ भी भाषा जाति और समाज की सांस्कृतिक धरोहर की मापक होती हैं।

### असंस्कार और अभिव्यक्ति

समीक्षा के प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में निर्दिष्ट जो मानबद्ध हैं वे कई अपों में पाश्चात्य विद्वानों से भिन्नता रखते हैं। उदाहरण के लिए असंस्कार सिद्धान्त आदि साहित्य के स्वरूपगत सौन्दर्य का परीक्षण सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण से करते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि असंस्कार तथा अन्य सभी सिद्धान्त बहुत पुष्ट रूप से विकसित हुए हैं तथा उनका बहुत पुष्ट परम्पराएँ मिलती हैं परन्तु फिर भी यह कहुना कठिन है कि अन्य विकसित मानदंडों की अपेक्षा असंस्कार की कसौटी अधिक उपयुक्त है। यह सत्य है कि साहित्य में असंस्कार का महत्वपूर्ण स्थान है और साहित्य में असंस्कार का प्रयोग सर्वथा स्वाभाविक है। असंस्कार के आधार पर हम इस बात की परख कर सकते हैं कि किसी साहित्य में जो मूल अनुसूति निहित है उसमें अभिव्यक्ति-पत्र सौन्दर्य किसे होती है। इस प्रकार से असंस्कार की कसौटी सिद्धान्त अथवा मानबद्ध बनने आप में पूर्ण रूप से उचितता लिए हुए हैं फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा यह सिद्धान्त अधिक व्यापक रूप से साहित्य का परीक्षण नहीं करता। एक दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं है कि असंस्कार के समावेश से साहित्य के सौन्दर्य की वृद्धि ही हो। यह भी हो सकता है कि उसमें उल्टे ऋणता या बाएँ ओर अतिक्रमता अथवा दुर्बलता के कारण यह सामान्य पाठक के लिए बोधान्वय न हो सके। इसलिए असंस्कार का काम्य या साहित्य में समावेश अपने ही स्तर के अनुसार काम्य या साहित्य की भी कोटि का निर्धारण करता है। दूसरे शब्दों में यदि असंस्कार स्वाभाविक और प्रायः के सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले हैं तब तो उनके समावेश से साहित्य का मूल्य बढ़ता है अन्यथा वे अनुपयोगीय नहीं कह जा सकते हैं।

### अनुसूति और अभिव्यक्ति —

साहित्य के अभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुसार अनुसूति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक महत्व की वस्तु होती है। इस विचारवाच के अनुसार साहित्य मूलतः एक ऐसी कला है जिसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। दूसरे शब्दों में साहित्य की अभिव्यक्ति उसमें निहित का मूल रूप है। इससे स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार यह बात समान रूप से सिद्धान्तगत ग्रहण की जा सकती है कि साहित्य का विषय कुछ भी हो सकता है। विषय के अनुसार साहित्य की अदृष्टता का निर्धारण नहीं हो सकता।

मानव के जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित सभी विषय साहित्य में समान रूप से ग्राह्य हो सकते हैं और उनकी उष्णता हीनता, बिद्युप्लवता अथवा समानता से कोई अन्तर नहीं पड़ना। त्रिस वाज से अन्तर पड़ना है वह यह है कि साहित्यकार त्रिस अनुभूति को प्रस्तुत कर रहा है उनका मूर्त रूप क्या है अथवा उसकी अभिव्यक्ति में कितनी कलापुष्पता है। हमारे घब्रों में इस दृष्टिकोण क अनुसार साहित्य का प्रधान कार्य ही यही है कि वह विविध अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करे। किसी कहना मूक को एक ऐसा मूर्त रूप प्रदान करे जो पाठक के लिए ग्राह्य हो सके। इस मूर्तना का उनके विचार से अनुभूति के प्रकार से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार से इस दृष्टिकोण की व्यापक सम्भावना पर अब हम विचार करते हैं तब हमें यह प्रतीत होता है कि वहाँ एक ओर यह सिद्धांत अनुभूति तथा विषय वस्तु के क्षेत्र में अत्यन्त व्यापकता का परिचय देता है वहाँ दूसरी ओर केवल अभिव्यक्ति पर ही बल देकर और उसी क आधार पर मूर्तना की प्रकृति का मूक होकर यह एकांगिता का आभास भी देता है। इसीलिए हमारे विचार से इस सिद्धान्त को एक बिद्युप्लव दृष्टिकोण के रूप में तो स्वीकार किया जा सकता है, परन्तु समीक्षा क पूर्ण मानक के रूप में नहीं।

सौन्दर्यात्मकता निहित और प्रभाव —

समीक्षा के ऐसे सभी मानक जिनका आधार अथवा विशेषता सौन्दर्यात्मकता के साथ रहे हैं दूसरे मानकों से दृष्टिकोणगत वैभिन्य रखते हैं। सौन्दर्य को साहित्य शास्त्र में एक व्यापक गुण क रूप म मान्य किया गया है। सौन्दर्य की अनेक परिभाषाएँ की गई हैं और इनके निर्धारक भिन्न भिन्न सिद्धान्त और धारणाएँ हैं। शास्त्र में सौन्दर्य प्रभावात्मकता की दृष्टि से द्विमुखी होता है। दूसरे घब्रों म सौन्दर्य की निहित एक वस्तु में रही है और उसका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। साथ ही एक विविध प्रक्रिया के अनुसार सौन्दर्य और उसका प्रभाव का एक अन्त होता है। यह भी कहा जा सकता है कि सौन्दर्य अपनी अभिव्यक्ति अथवा प्रभाव क लिए एक माध्यम की खोज करता है। माध्यम की अनुकूलता सौन्दर्यात्मकता की पूर्णता तथा प्रभावात्मकता से सम्बन्ध रखती है। शून्य रूप से यह कहा जा सकता है कि कला क जितन भी रूप है वे सब अभिव्यक्ति के माध्यम तथा प्रभावात्मकता की पूर्णता क कारण एक दूसरे से स्पष्ट भिन्नता रखते हैं। वहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है उसका सौन्दर्य का अभिव्यक्त जिन माध्यमों से होता है वे अन्य कलाओं के विषय गुण होने हैं। उदाहरण के लिए साहित्य में संघीतात्मकता लयारमकता तथा अन्तारमकता के जो

उत्पन्न होते हैं, उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध संगीत कला से होता है। इसी प्रकार से भिन्न भिन्न कलाओं में भिन्न प्रकार का सौन्दर्य निहित होता है जो कला के एक सम्पूर्ण रूप का द्योतक करता है। समीक्षा के जो सौन्दर्यवादी मानदंड हैं व किन्हीं साहित्यिक कृति में निहित सौन्दर्य की मात्रा और कोटि का परीक्षण करते हैं। प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र तथा यूरोपीय ग्रीक रोमन तथा जर्मनी साहित्य शास्त्र में समीक्षा की जो परम्पराएँ रही हैं उनमें सौन्दर्य चेतना का प्रभाव नहीं रहा है।

### भूमिगत उत्पन्न और चेतना —

समीक्षा के प्रवृत्तिगत विकास को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक युग में किन्हीं विविष्ट मानदंडों की ही प्रधानता ही जाती रही है। उदाहरण के लिए साहित्य की एक व्यापक कठोरी यथार्थानुकारिता है। कला और साहित्य का यह मानदंड साहित्य के बाह्य रूप से अपेक्षा कृत कम सम्बन्ध रखता है। यह उसके मूल स्वर की परख करता है और उसमें निहित यथार्थता की भावना और उसकी श्रेणी का निर्णय करता है। महान साहित्य में युग और जीवन की यथार्थ चेतना प्रतिबिम्बित होती है इसलिये उसका परीक्षण भी यथार्थतात्मक रूप से सम्भव प्रकार से हो सकता है। हो सकता है कि इस मूलभूत से कुछ विचारक असहमति प्रकट करें परन्तु इतना निश्चित है कि साहित्य बाह्य रूपात्मक परीक्षण पर गौरव देने वाले अन्य संकुचित मानदंडों की अपेक्षा यह कठोरी साहित्य से एक ठोस अभिव्यक्ति की माँग करती है जिसका आधार पूर्व रूप से कल्पनात्मक न हो। इसीलिए इसे एक पक्षीय भी नहीं कहा जा सकता। यह दृष्टिकोण साहित्य के किसी एक उत्पन्न की घटना का माप न करके युग जीवन की समग्रता के सन्दर्भ में उसका परीक्षण करता है। परन्तु इस कथन से यह ज्ञान नहीं होना चाहिए कि यथार्थवादी समीक्षा पद्धति साहित्य के बाह्य रूप या अभि व्यक्तिके प्रकार की अपेक्षा करती है। वास्तव में यदि किसी साहित्य में यथार्थता की निहित महत्त्व रूप से हावी तो उस साहित्य का प्रकटन कदा अपनी प्रकृत प्रतीति में उसे आकर्षक और प्रेक्ष्य सिल्प रूप में बाल भी सकेता। इसके अतिरिक्त एक प्रबुद्ध और प्रतिभाशाली साहित्य सजक के लिए यह आक्षेपक है कि वह स्वभावतः यथार्थानुकर हो। इसलिये भी यथार्थतात्मक मानदंड साहित्य के परीक्षण के रूप में अधिक व्यापक और सर्वगुणी हान के कारण शास्त्ररूप में मान्य किया जा सकता है।

इस सम्दर्भ में यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि यद्यपि युगीन यथार्थ भी विविध नामों में परिवर्तित होता रहता है, परन्तु इससे समीक्षात्मक मानदण्डों के निर्धारण में कोई बिछोप अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि यथार्थता का परिवर्तन ही मानवता का चिरन्तन सत्य है। यथार्थतात्मकता की रचनात्मक साहित्य में तभी सम्भावनाएँ होती हैं जब साहित्यकार की दृष्टि जन जीवन के भिन्न भिन्न परिवर्तनों से स्पष्टित रहे और युग की यथार्थ चेतना की अवगति प्राप्त करती रहे। सत्य क कितने प्रकार है उनमें से यथार्थ सत्य को परख सके और भिन्ना सत्य से अभिन्न न हो। जीवन की चेतना को उसके वास्तविक रूप में समझे और उसी का समग्रता के साथ साहित्य में बँकन करे। समीक्षा का यथार्थवादी मानक इससे यही माँग करता है।

यथार्थतात्मकता —

ऊपर हमने साहित्य की अष्टा के मापक प्रगतिवादी, मार्क्सवादी यथवा साम्यवादी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। जहाँ तक इस सिद्धान्त के मूल दृष्टिकोण का प्रश्न है इस उल्लेख की अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यथार्थतात्मकता साहित्य की अष्टा की एक अनिवार्यता है। परन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि केवल मानव समाज के आर्थिक बर्गीकरण तथा सम्बन्धों को ही देखते हुए उससे अपने दृष्टिकोण को संकुचित बना लेना भी अनुमोदनीय नहीं हो सकता। यद्यपि यह सत्य है कि आर्थिक पक्ष और अदिसताएँ ही यथार्थता का ही एक अंग हैं परन्तु इसके साथ ही साथ यह बात भी विचारणीय है कि इसके बर्णन के द्वारा हम समाज के सांस्कृतिक विकास में कितना योग दे सकते हैं। यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो फिर यह कसौटी भी अपूर्ण नहीं जायगी।

साहित्य समीक्षा के इस दृष्टिकोण के पीछे विचारों के अनुसार केवल यथार्थतात्मकता के तत्वों से पूरा साहित्य ही सम्भव है। उनके विचारों से कल्पनात्मक साहित्य से हीन कोटि का साहित्य कोई दूसरा नहीं हो सकता। यह कथन सर्वथा विवादास्पद है। यह कहना कि उच्चतम कोटि की कल्पना सृष्टि भी निरुत्पन्न काटि यथार्थता से कम महत्त्व रखती है सर्वथा असंभव है। हमारा यह विचार है कि कोई अनुसृष्टि अपने मूल रूप में चाहे कितनी यथार्थ हो परन्तु उसकी कल्पनात्मक परिणति ही अष्ट हो सकेगी क्योंकि उच्च कोटि की कल्पनात्मकता हीन कोटि की यथार्थतात्मकता



की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक विषयसमीपता का आयास देने में समर्थ होती है। इसके विपरीत कभी कभी ठो कल्पनारमकता का योग यथार्थरमकता से प्रयाचारमकता की दृष्टि से भी अधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः उपर्युक्त दृष्टिकोण भी एकान्वी ही है।

### तुलनात्मकता —

तुलनात्मक समीक्षा के जो मान हैं वे इस दृष्टि से तो पूर्ण हैं कि वे भिन्न भिन्न युगों में निकी गई महान् साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन युगीन यथार्थ और बौद्धिक चेतना के सम्बन्ध में प्रस्तुत करते हैं परन्तु जब तक भिन्न क्षेत्रों में अपनी प्रतियाँ और सामर्थ्य का परिचय देने वाले उच्चकोटि के साहित्यकारों की कृतियों में प्राप्त मौलिकता गहन अनुभूति व्यपकता तथा व्यर्षपूर्णता का उचित विरलैपन नहीं होगा तब तक किसी भी समीक्षा दृष्टि में पूर्णता नहीं आ सकेगी। इसके अतिरिक्त यह सत्य भी ध्यान में रखना होगा कि प्रत्येक महान् साहित्यकार अनिर्धार्य रूप से मनुष्य के जीवन का मौलिक दृग्ग होना होता है। इसलिए समीक्षा का कार्य यह है कि वह उसकी इसी मौलिक दृष्टि का मूल्यांकन करे और यह तभी सम्भव होगा जब साहित्य के केवल बहिरंग का परीक्षण करने वाली संयुचित भावना का परिव्याग किया जायगा।

उपर्युक्त समीक्षा सिद्धान्त का एक दूसरा पक्ष भी है। उसके अनुसार समीक्षा का दृष्टिकोण यह होता है कि वह किसी साहित्यिक कृति में अभिव्यक्ति अनुभूति की स्फारमक यथार्थता का परीक्षण करने की अपेक्षा इस बात का परीक्षण करे कि युग के यथार्थ के प्रति उस रचनात्मक लेखक की क्या भावना है। इसके साथ ही उस यथार्थ के प्रति उसके हृदय में किस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हुनी है। युगीन यथार्थ के प्रति उसकी भावना और प्रतिक्रिया से मिसकर उसके समीसारमक दृष्टिकोण का निर्धारण होता है। प्रथम दृष्टिकोण से यह दृष्टिकोण कुछ भिन्नता रखता है, क्योंकि यह उसकी मौलिक केवल आधिक और व्यर्षय संघर्ष तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखता। यह यथार्थ के दूसरे पक्ष को भी देखता है और अपेक्षाकृत व्यापक दृष्टिकोण से उसकी व्यवस्था करता है। इसलिए जब तक साहित्य के अन्तरंग एवम् बहिरंग के परीक्षाक मानदण्डों को उनके युगों के सम्बन्ध में देखकर तुलनात्मक रूप से उनकी सीमा संकोच और सीमा विस्तार की परत नहीं की जायगी तब तक यह निष्कर्ष निकालना कठिन होगा कि उनकी सार्थकता कितनी है। कोई भी साहित्य यदि समृद्ध है, तो उसका युग

के यथार्थ से अनिवार्य रूप से सम्भव होगा। यथार्थता का स्वरूप प्रत्येक युग में बदलता है। इसीलिए नए युग में नई दृष्टि की अपेक्षा होती है। विभिन्न साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन और निष्कर्ष एक विचारक में इस बात का विवेक उत्पन्न करता है कि वह यह देख सके कि युगीन गिद्यता के अनुसार साहित्यिक उपलब्धियों का अनुपात किस प्रकार से निश्चित हुआ है। उसका उचित यामात्र तभी सम्भव है जब विभिन्न युगों के साहित्यों का तुलनात्मक अध्ययन करके कोई निष्कर्ष निकाला जाए।

### बार्थनिकता —

समीक्षा के क्षेत्र में कभी कभी कुछ ऐसे मानवर्द्धों का प्रचलन होते देखा जाता है जिनका आधार मुख्यतः बार्थनिक है। ये मानवर्द्ध वर्धन शास्त्र के किसी एक अथवा अनेक पक्षों से आयुहीन होकर साहित्यकार के लिए उच्छकोटि की तरह मीमांसा करते हुए मानव जीवन के सम्बन्ध में उनकी उपयोक्तता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण वाले समीक्षक साहित्य में जीवन वर्धन के समावेश की भी मांग करते हैं। यद्यपि उच्छकोटि के साहित्य में जीवन वर्धन का कोई प्रौढ़ रूप अवश्य विद्यमान रहता है, परन्तु बहुधा किसी विशेष प्रवृत्ति के अन्तर्गत जाने वाले साहित्य में उसका पूर्ण अभाव भी हो सकता है। उदाहरण के लिए यथार्थानुकारिता के तत्त्वों से युक्त साहित्य आवश्यक रूप में जीवन वर्धनमय नहीं भी हो सकता है। कभी कभी यथार्थवादी साहित्यकार भी मनुष्य के जीवन की सास्वत समस्याओं पर अपने साहित्य में चिन्तन करता है परन्तु किसी भी स्थिति में इस एक अनिवार्य स्थिति के रूप में नहीं रखा जा सकता।

### नैतिकता —

नैतिकता की कसौटी भी रचनात्मक साहित्य से इस बात की मांग करती है कि वह उन मूल्यों का विवक्षनीय आभास दे जो चिरन्तन सत्य का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हो। नैतिकता का यह मानवर्द्ध भी विरह के समीक्षा साहित्य में अपनी चिरन्तनता के कारण विशिष्टता रखता है और इसीलिए स्वनाम से ही साहित्य नैतिकता की अपेक्षा रखता है और इसीलिए नैतिक होता है। विरह का महान् नैतिकता साहित्य इस बात का प्रमाण है कि सर्व नैतिक का पोषण और अनैतिक का अस्वीकरण करने वाला साहित्य ही युग और काल की बाधाओं को हटाता हुआ जीवित रहा। इसीलिए समीक्षा के नैतिक मानवर्द्ध को भी सर्वयुगीन कसौटी के रूप में अंशतः मान्य किया जा सकता है।

प्रभाववादिता —

समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रचलित मानदंड प्रभाववादिता का है। इसके अनुसार समीक्षा का मापार किसी साहित्य का पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव ही देखा जाना चाहिए। रचनात्मक साहित्य में जून जल्दा तब तब अधिक प्रभावशाली होती है। यह अनुभूति ही रचनात्मक साहित्य की प्रकृति द्वारा पाठक के हृदय तक पहुँचती है और उसको प्रभावित करती है। इस दृष्टिकोण से समीक्षा का प्रभाववादी मानदंड कबल इस बात की माप करेगा कि कोई विशिष्ट साहित्यिक कृति किस सीमा तक पाठक को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखती है। इससे स्पष्ट है कि यह मानदंड किसी कृति का व्यापक दृष्टिकोण से परीक्षण नहीं करता। यही नहीं यह उसके अनेक तत्वों की पूर्ण उपेक्षा भी करता है। इसीलिए हम इसे सर्वमान्य मानदंड के रूप में नहीं स्वीकार कर सकते।

समाज प्रासंगिकता और ऐतिहासिकता —

समीक्षा के समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक मानदंड साहित्य की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ ही साथ उसकी युगीन विश्वसनीयता पर भी विचार करते हैं। इसी से कुछ भिन्न रूप यथार्थवादी मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी समीक्षा का होता है। यहाँ ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षाएँ केवल युगीन विश्वसनीयता पर ही दृष्टि रखती हैं। यहाँ यथार्थवादी मार्क्सवादी और साम्यवादी समीक्षाएँ मुख्यतः यह देखने की चेष्टा करती हैं कि युगीन यथार्थ का कितना सत्य रूप किसी कृति में प्रतिबिम्बित हुआ है। तबूत रूप से ये सभी समीक्षा पद्धतियाँ अनुभूति की अभिव्यक्ति कीवशा गहनता अथवा व्यापकता पर अधिक विचार नहीं करती बल्कि केवल उसके प्रकार पर ही बल देती हैं। इन सभी पद्धतियों के अनुसार समीक्षा का मुख्य कार्य इस तथ्य का परीक्षण करना होता चाहिए कि किसी साहित्यकार की कृति के उस युग के सामाजिक सांस्कृतिक राजनैतिक आर्थिक अथवा धार्मिक वातावरण से किस रूप में और किस प्रकार सम्बन्ध है।

इसके अतिरिक्त किसी साहित्यकार के अपने युग के यथार्थ को उसी रूप में अभिव्यक्त किया है अथवा उसका आदर्शिकरण करके किसी उदात्त स्वरूप की कल्पना की है। उसका यह प्रयत्न किसी भी सीमा तक सांस्कृतिक विकास के परिवार और प्रकार को धमना रखता है अथवा नहीं। उसकी कृति में दिन अनुभूतियों को अभिव्यक्त

सो गई है। वे सुमीन यज्ञार्थ के प्रति किननी ओर जिस प्रकार की प्रतिक्रियात्मकता से परिपूर्ण हैं। यह तो इस समीक्षा दृष्टि का व्यापक रूप हुआ। इसके मजिदिक जहाँ तक उसके संकुचन रूप का सम्बन्ध है, उसके अनुसार मूर्तगीकन का काम कबल विभिन्न जगों के आर्थिक सधर्य के स्वरूप और कार्यों का विवेकन करन मात्र हुआ है क्योंकि मनुष्य की आर्थिक जीवन की अटिखनायों का वेध-बोध ही इनकी दृष्टि में सर्वाथ महत्वपूर्ण होता है।

### अस्थिरता —

समीक्षा का स्थायी मानदंड इसलिये भी कठिन प्रतीत होता है क्योंकि उसका आधार जो मान्यताएँ और नियम होन हैं वे स्वयं समूह परिवर्तित होते रहते हैं। उनका निर्माण मनुष्य अपने अनुभव के आधार पर करता है। बेसी स्थिति में पूर्व अनुभव के आधार पर विभिन्न सिद्धास्त और नियम अधूर्ण प्रतीत होते सगते हैं। इसलिये नवीन और अपेक्षाकृत व्यापक अनुभव के आधार पर उन नियमों तथा साधनाओं में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। विविध विषयक साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही यदि हम सामाजिक साधार घासक क नैयमिक विकास का अध्ययन करें, तो हम यह साठ होना कि सदाचार क नियमों और कारनाओं में बराबर परिवर्तन होता आया है। यद्यपि मानव हृदय की मूल अनुभूतियाँ सदैव अपरिवर्तित रहनी हैं परन्तु उनकी प्रतिक्रियाएँ सदैव नवीनतर होनी हैं।

इसलिये जब एक नए युग में कोई विचारक समीक्षा के मानदंडों का निर्धारण करता है तब उसे यह देखना पड़ता है कि सामाजिक जीवन जिस साधार घासक और व्यावहारिक नियमों से संघालित होना है उनके क्षेत्रों में उच्चतम स्तर अपना भारना क्या है। हमारे सभों में नीति और साधार के क्षेत्रों में भी उच्चतम साधर्य होता है वह इन नियमों के निर्धारण में आरोपित रहता है। परन्तु इसके साथ ही साथ इनके क्षेत्रों में पूर्ववर्ती कारना और उसकी साधी सम्भावना का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है क्योंकि पूर्ववर्ती युगों में भी नियम निर्धारण की प्रक्रिया समग्रत समान रहती है और अपने युग की उच्चतम चिन्तन उपलब्धियों का संकेत देती है। साहित्यिक और कलात्मक उदात्तता की कारना उसके मूल में क्रियाशील रहती है और निरिचित्र रूप से वह परवर्ती युगों में होने वाले मानदंडों के लक्षनिर्माण में सहायक होती है।

## सिद्धांत और व्यवहार —

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर जात हैं कि साहित्य का मूल्यांकन करने वाला मानदंड निश्चय रूप से केवल सैद्धांतिक रूप से अपूर्ण नियमों द्वारा निर्धारित नहीं हो सकता। प्रत्येक सिद्धांत या विचारधारा केवल उसके एक पक्ष पर दृष्टि रखती है, यह एकगुणता की सूचक होती है। इसलिए पूर्व और व्यापक मानदंड का निर्धारण हमारे पूरे निष्कर्ष के अनुसार इस क्षेत्र में प्राप्त के महान उपलब्धियों ही नहीं बल्कि पूर्वगुणित सांस्कृतिक उच्चता की सूचक होती है। ये दोनों ही पक्षों एक ही प्रकार के उदात्तीकरण का परिचय देती हैं। इसलिए इनके अधिक उपयुक्त कसौटी और दृष्टि को ही नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा कि इसके साथ सम्बद्ध नियम हैं, इसके लिए व्यापक अध्ययन और दीर्घ प्रभुतायन अपेक्षित है क्योंकि बिना ही महान कृतियों में निहित उच्चतम जीवन मूल्यों का परीक्षा और उनका समीक्षा के व्यावहारिक मानदंड में अराधीकरण को भिन्न कसौटी है और यह कार्य उनी व्यक्ति के लिए सम्भव हो सकता है जो उन कृतियों में अभिन्नतम मूल मानवीय अनुभूतियों को अनुभूत रूप में परख कर उनकी विश्वसनीयता के सम्बन्ध में आस्वस्त हो चुका हो। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि मान निर्धारण के लिए यह प्रक्रिया दीर्घ होती तो अवश्य है परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी निश्चय है कि इसका आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जाएगा भयंकर किन मान का निर्धारण होगा वह स्पष्ट व्यापक रूप से व्यावहार्य होगा क्योंकि उसमें यह सामर्थ्य होगी कि वह मूल मानवीय अनुभूतियों का उच्चतम स्तर से परीक्षण करके उनका खोजीकरण कर सके और आनुपातिक रूप से किमी अनुभूति की श्रेष्ठता अथवा हीनता की माप कर सके तथा इसके साथ ही वह यह भी निर्णय कर सके कि संयुक्त रूप से उसमें किन्ती प्रौढ़ता अथवा जीवन्तता है।

## विकासगुणीय मान :—

ऊपर के विवरण में हमने जिस प्रकार के मन्त्रों की प्रस्तुत किया है उनमें यह भ्रम हो सकता है कि समीक्षा का ऐसा कोई स्थायी मानदंड नहीं हो सकता जो पूर्ण हो इसलिए इस विधा में प्रयत्न करना अधिक उपयुक्त न होगा। किन्ती सीमा तक यह बात सम्भव भी हो सकती है क्योंकि जब हम समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदायों और विविध विचारधाराओं के विकास के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक समीक्षारतक मानदंड या तो एक दूसरे का विरोधी है और या एक दूसरे का पूरक। यही वह विरोधी है यही दूसरे सिद्धांत की संकुचितताओं और कमियों के

उसमें संकेत मिलते हैं और वहाँ वह दूसरे-सिद्धान्त का पूरक है, वहाँ वह उसकी एकाग्रता दूर करने की चेष्टा करता है। कहने का आशय यह है कि विभिन्न सिद्धान्तों में या तो इतना पारस्परिक विरोध है कि उनका एक दूसरे के कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता है और या उनमें इतनी अधिक एकरूपता और विविधता का एक कारण यह है कि समीक्षा सिद्धान्तों का विकास क्रमिक रूप में हुआ है। विकास की प्रक्रिया यह रही है कि पहले किसी आन्दोलन का प्रवर्तन करके किसी सिद्धान्त की स्थापना की जाती है। उस सिद्धान्त की व्यावहारिक सफलता तथा असफलता के अध्ययन के पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया के रूप में कोई दूसरा सिद्धान्त आरम्भ किया जाता है। इन सिद्धान्तों का व्यावहारिक आरोपीकरण तथा तुलनात्मक परीक्षण किसी नए सिद्धान्त की रूपरेखा को स्पष्ट करता है और फिर उसका स्वरूप स्थापित किया जाता है। पिछले अध्यायों में हमने समीक्षा के मानदंडों के जिन आभारमूलक सिद्धान्तों व सम्प्रदायों के प्रवर्तन और विकास का जो विवरण उपलब्ध किया है उसमें यही प्रक्रिया सक्षित होती है। अतः ऐसा कि हमने संकेत किया है विकासकामीन युगों में मानदंड की पूर्णता कम ही सम्भाव्य रहती है।

### मूर्खपत ह्रास एवं संक्रमण —

यहाँ एक सीमा प्रश्न यह किया जा सकता है कि समीक्षात्मक मूर्खों का ह्रास एवं संक्रमण केवल एक आकस्मिक अथवा सामयिक घटना होती है या वह साहित्यिक विकास की वैचारिक प्रक्रिया का ही एक अंग है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि यद्यपि समीक्षात्मक चिन्तन के क्षेत्र में मूर्खपत संक्रमण की अनेक स्थितियाँ जाती हैं, परन्तु अंग वैचारिक प्रवृत्ति वैज्ञानिक उन्नति की तुलना में विद्यमान है, तब यह संक्रमण अधिक व्यापक रूप में दिखाई देता है क्योंकि वैज्ञानिक और यांत्रिक चरम विकास के युगों में मनुष्य की आस्था भावना असम्बन्धित हो जाती है और वैचारिक अस्थिरता बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में ये संक्रमित युगीन लक्षण होते हैं और उनका सामान्य युगों से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

आधुनिक युग में प्रवर्तित और विकसित कुछ प्रमुख वैचारिक आन्दोलनों पर यदि हम विचार करें तो हम देखेंगे कि अब भी संक्रमित युग आते हैं तब प्रतिक्रियात्मक रूप में मानवतावादी मूर्खों में मनुष्य की आस्था बढ़ने लगती है और यांत्रिक उपलब्धियों की दौड़ उसके विरुद्ध और सामर्थ्य को जोखना बना देती है। इसलिये संक्रमित युगों

में मूख्यों के ह्रास की समस्या विषेय रूप से जटिल होकर सामने आती है और तभी ऐसा भी प्रतीत होता है जैसे वैज्ञानिक प्रकृति और वैचारिक उपसम्भियों में इस प्रकार का समझौता होगा आवश्यक है क्योंकि इनमें से एक भी जब अनियंत्रित हो जाती है अथवा दोनों में बिकासगत प्रतिक्रमता मश्रित होने लगती है तब मुख्यतः प्रतिक्रमता मश्रित होने लगती है । मुख्यतः संक्रमण गम्भीर रूप में वैचारिक चेतना को प्रभावित करते हैं और फिर यह समस्या गम्भीरतर रूप में सामने आती है क्योंकि मूल के बिकास और जीवन के स्तर में सामंजस्य और समनुमन साने के लिये यह सर्वथा आवश्यक होता है ।

### युगीन उपसम्भियाँ —

समीक्षा के स्थायी माग निर्धारण के अन्तर्ग इस तथ्य को भी ध्यान में रक्खा होगा कि जब तक समीक्षा के माध्यम से पाठक को इस चेतना की प्रतीति नहीं होगी कि मूल की साहित्यिक उपसम्भियाँ क्या हैं, एवं अन्तर्दृष्टि के रूप में उसे एक माध्यम में लियेगा तब तक समीक्षा अपूर्ण समझी जाएगी । इसके अतिरिक्त रचनात्मक साहित्यकार को भी साहित्य के उपसम्भ्य मूख्यों एवं सम्भावनाओं के विषय में सजग बनाना होगा । इसलिये जब हम इस समस्या पर विचार करते हैं कि साहित्य के माग बंध के कौन से आधार हैं तब हमें इस प्रश्न पर भी विचार करना होगा कि समीक्षा के जो विविध युगीन माग्य सिद्धान्त हैं उनमें कितना स्पष्टता अथवा विस्तार है । यहाँ पर यह संकेत करना भी अत्यंत न होगा कि विविध युगों में निम्न निम्न भाषाओं में जो सिद्धान्त कभी माग्य रहे वे युगीन मूल भावना के अनुसार अधिकमित अथवा अपूर्ण थे । भारत में भारत और यूरोपीय देशों की विविध भाषाओं के प्रमुख समीक्षात्मक सिद्धान्तों का अपना महत्व है और उनकी उपसम्भियाँ भी निश्चिन्त रूप से महत्वपूर्ण रही हैं । भाषी बिकास के युगों में जो मूलमत संक्रमण की स्थितियाँ आती हैं वे इतिहास की बड़ी मूनिष्का में ही अपूर्ण प्रतीत होती हैं । दूसरे शब्दों में साहित्य की मूलभूत माग्यताओं के विषय में प्रायः प्रत्येक युग में एकमत नहीं है । यद्यपि इसके साथ ही साथ प्रत्येक उच्चकोटि के विचारक में दृष्टिकोणगत वैभिन्य भी रहा है । उदाहरण के लिये काव्य अथवा साहित्य के सर्वेष के विषय में संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषि भाषाओं के विचारक किसी सीमा तक एक मत हैं परन्तु उनके सिद्धान्तों तक ही और विचार प्रभावियों में भारी अन्तर दिखाई देता है ।

अनुभूति तथा अभिव्यक्ति एकात्मक स्वरूप :—

ऊपर हमने एक स्थान पर लिखा है कि अनुभूति के रूप तथा उसकी अभिव्यक्ति में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध होता है। इसीसिधे स्पष्ट साहित्यकारों की कृतियों में हमें यह विशेषता दिखाई देती है कि उनकी अनुभूति समान रूप से अभिव्यक्तियुक्त महसूस भी रखती है। दूसरे शब्दों में स्पष्ट साहित्यकार की अनुभूति स्वाभाविक रूप से निर्दोष रहती है क्योंकि अनुभूति की अभिव्यक्ति के माध्यमों पर उसका विशेष रूप से अधिकार रहता है। केवल कुछ परिस्थितियों में इन दोनों में सीम्बर्गत विपर्यय दिखाई देता है जब रचनात्मक लेखक किसी प्रकार के दुराग्रह के बधीभूत हो जाता है। इससिधे यह निष्पत्ति निकालना वा संकटा है कि किसी कृति की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति की ऐसी घटपि हो पृथक् तत्त्व हैं परन्तु इनकी अन्तर्सम्बद्धता को दुर्घट में रखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसी को भी अनुभूति की ही एक विशेषता के रूप में मान्य किया जाए और इस प्रकार से रचनात्मक साहित्य के इन दोनों तत्त्वों का पृथकीकरण न किया जाए। वास्तव में उच्चकौटि का रचनात्मक साहित्यकार अपनी अनुभूति को भी अभिव्यक्ति देता है वह एक काव्यनिक अथवा सामाजिक बस्तु नहीं होती, बल्कि स्वाभाविक रूप से उस अनुभूति की सत्यता के अनुपात में कलात्मक परिपूर्णता से युक्त होती है। इसीलिए अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम स्वरूप कलात्मक और वैज्ञानिक विशेषताएँ रखते हुए भी एक प्रकार की एकात्मकता से युक्त है क्योंकि इनकी रचना प्रक्रिया इनमें कोई स्पष्ट विभेद नहीं चोदित करती। जहाँ एक ओर किसी साहित्यकार की अनुभूति की सत्यता से हम प्रभावित होते हैं वहाँ दूसरी ओर उसकी ऐसी भी हमारे ऊपर सामाजिक प्रभाव डालती है। यह भी इन दोनों तरफों के एकात्मक स्वरूप का एक प्रमाण है।

ऊपर कई स्थानों पर हमने इस बात की चर्चा की है कि साहित्य का अन्तर्ब और बहिर्ब रूप से परीक्षण करना किस परिस्थिति में कितने महत्व वा अधिकार है तथा इन दोनों में कौन पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ पर एक घटा वह उठायी जा सकती है कि रचनात्मक साहित्य के इन दोनों पक्षों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा इनमें किसका महत्व कितना अधिक है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मन्तव्य है कि घटपि इन दोनों पक्षों में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है परन्तु फिर भी इनका विविध है कि वास्तव रूप से समृद्ध होता है क्योंकि ठीक और पहल अनुभूति विविध



रूप से अभिव्यक्ति के आकर्षण से भी सम्पन्न होती है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में दोनों पक्ष पारस्परिक रूप से अवश्य अन्तर्सम्बन्ध होते हैं।

समीक्षा के मानदंडों के विषय में यह कहना आवश्यक है कि उसे किसी रचनात्मक साहित्य के अन्तरंग और बहिर्गम दोनों प्रकार के रूपों पर ध्यान देते हुए तब उसका मूल्यांकन करना चाहिए। केवल यह कहना कि उसका परीक्षण केवल अन्तरंग रूप से होना चाहिए बहिर्गम रूप से नहीं अथवा बहिर्गम रूप से होना चाहिए अन्तरंग रूप से नहीं दृष्टिकोणमय अपूर्णता का सूचन करता है। हमारा निश्चित मत है कि समीक्षा का पूर्ण मानदंड केवल वही हो सकता है जो इन दोनों पर दृष्टि रखे और उन दोनों की श्रेष्ठता के आधार पर उनका मूल्यांकन करे। यदि इनका आपेक्षिक महत्त्व निर्धारित करना आवश्यक ही हो तो अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि 'शुद्ध साहित्य का अन्तरंग उसके बहिर्गम से अधिक महत्वपूर्ण होता है इसलिए वही दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण कहा जाएगा जो अन्तरंग के आधार पर साहित्य की श्रेष्ठता का माप करे और उसके विषय में निर्णय दे। इस सम्बन्ध में यह कहना भी अर्थात् न होगा कि किसी भी कोटि के साहित्य के बहिर्गम के आधार पर उसका उचित मूल्यांकन कदापि नहीं किया जा सकता। 'शुद्ध साहित्य की रचना प्रकिया दो पक्षों में विभक्त होती है। प्रथम अनुसूचित अभिव्यक्ति और द्वितीय उक्त अभिव्यक्ति का स्वरूप। इनमें प्रथम उसकी अन्तःसामर्थ्य और द्वितीय उसकी अन्तःविशेषताओं का परिचय देती है। यद्यपि इन दोनों की ही उच्च कोटीय परिणति के लिए श्रेष्ठ प्रतिभा की अपेक्षा होती है, परन्तु प्रथम का सम्बन्ध वहाँ एक और रचयिता की कलात्मक सामर्थ्य से होता है वहाँ द्वितीय का वैज्ञानिक से।

#### श्रेष्ठता और कलात्मकता —

इसी पक्ष से सम्बन्धित कुछ अन्य तथ्य भी ऐसे होते हैं जो इन दोनों पक्षों के निर्णायक होते हैं। उदाहरण के लिये श्रेष्ठतात्मकता का तत्त्व भी उसके कलात्मक पक्ष से ही सम्बन्ध है। इसलिए यह कहना साहित्य के इन दोनों रचनात्मक पक्षों में से कौन उच्च अथवा हीन है अथवा कम या अधिक महत्त्व रहना है, एक निरर्थक विवादास्पद है। विद्वान् के श्रेष्ठ साहित्य की अवगति इस तथ्य का सूचन करती है कि श्रेष्ठता

कोटि की कला सैन्य श्रेष्ठता के आचरण से भी युक्त होती है। पृथक् पृथक् रूप से यदि हम चाहें तो इनका मूल्यांकन अवश्य कर सकते हैं परन्तु इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि श्रेष्ठ कलाकार अपनी दृष्टि को प्रथम पल तक ही सीमित रखता है, द्वितीय के क्षेत्र में उसकी सम्भावनाएं स्वाभाविक रूप से उद्भूत होती हैं। अथवा रूप में मने ही कभी कोई मिन्नता अथवा असाधारणता हमें बिखाई दे, परन्तु सामान्य रूप से इसमें किसी प्रकार के विपर्यय अथवा अघर्ममत्स्य के लिए अधिक स्थान नहीं रहता।

कृतित्व की कसौटी —

यहां पर हम एक और तथ्य की ओर संकेत करना चाहेंगे। वह यह है कि समीक्षा का मान स्वयं श्रेष्ठ कृतियाँ ही होती हैं। उसके निर्धारण का आधार कोई बाह्य तत्व कभी नहीं होते। किसी भी-महान् लक्ष्य की अमर कृति जब किसी युग में प्रस्तुत की जाती है, तब वहाँ के समीक्षात्मक मानकों की भावना में मूलभूत परिवर्तन होता है। तब जो नया मानक बनता है वह उसी कृति की महत्ता के क्षेत्र से नियमित होता है। इसके पश्चात् जब फिर कोई महान् कृति रची जाती है तो उसका मूल्यांकन करने वाला समीक्षात्मक मानक पुनः परिवर्तित होता है। कभी-कभी असाधारण उपलब्धियों के कारण इन मानकों के क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन होते हैं। दूसरे शब्दों में जब भी कोई मिन्न अथवा नवीन प्रकार की उपलब्धि सामने आती है तभी अनिवार्य रूप से नवीनतर मानक की अपेक्षा होती है। समीक्षात्मक मानक का निर्धारण उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार महानतम कृतियों के आधार पर ही होना चाहिए। जो स्वामी या कलासिद्ध महत्व की कृतियाँ हैं वे स्वयं मूल्यांकन या समकालीन प्रभावित मानक होती हैं। उनकी श्रेष्ठता की माप किसी भी पूर्ववर्ती या समकालीन प्रचारिक मानक के अनुसार नहीं की जा सकती है। प्रत्येक महान् साहित्यकार स्वयं एक नवीन मानक का अनुसार निर्धारण करता होता है। उसकी कृति साहित्यिक श्रेष्ठता की कसौटी होती है। अपने अपने क्षेत्र में जो जो साहित्यकार होते हैं वे सभी एक एक परिवर्तन के एक मात्र उपलब्धिकर्ता सिद्ध होते हैं। विश्व के महान्ताम साहित्यकारों में इसी कारण से हम भारी विषमता देखते हैं। महर्षि वैशम्पायन होमर, कासिबास डेक्सपीयर मिस्टन तुलसी शूर, बिहारी कीदूस टास्टराय आदि महान् मनीषियों में बढिाई से जो ऐसे मिर्से जो स्वून बनों में परिवेद्यत एकात्मकता रहते हैं। अथवा अनुभूति क्षेत्रीय विविष्टता या एकरूपता की दृष्टि से

उनमें कोई साम्य हा यद्यपि मूल मानव अनुभूतियों के रूप तथा अभिव्यक्ति के स्तर की प्रौढ़ता की दृष्टि से उन सब में आरम्भजनक समानता दिखाई देती है। दूसरे शब्दों में उच्चतम कौटि के मनीषी अपनी अमर कृतियों में अपने अपने युग की मानवीय मगोवृत्ति की विवृति करते हुए वास्तविकताओं का सम्पूर्णता के साथ अरयम्त प्रामाणिक और विश्वसनीय रूप में अंकन करते हैं। श्रेष्ठ कलाकार इन एकरूपताओं के साथ कल्पनात्मक परिचयों की दृष्टि से भी पारस्परिक समानता रखता है। इसलिए इन साहित्यकारों द्वारा प्रणीत कृतियों के लिए पृष्ठक पूरक मानदंड की अपेक्षा होती है और उनके स्वयं के आचार पर साहित्य का माप करने वाली स्वामी कसौटियों का निर्माण होता है।

#### उपलब्धियों की अवगति —

समीक्षात्मक मानदंड की पूर्णता के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमें कुछ ऐसे तिमनों का विधान हो जिनके माध्यम से यह बेजना सम्भव हो कि जिस साहित्य की बरीसा की जा रही है उनका रचनात्मक प्रकार के अनुभव से अपने साहित्य को समूह करता है। यदि उसमें विश्व की प्रधान भाषाओं में रचित श्रेष्ठ साहित्य की अवगति है और वह उनकी उपलब्धियों और महत्ता से सुपरिचित है तो उसके साहित्यिक प्रयत्नों की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। तब यह भी पता चल जाता है कि उसके साहित्यिक प्रयत्न एक पूर्ण अनुशासित वैज्ञानिक कार्य से गुजर चुके हैं और वह जिस बात को कह रहा है उसको कहने का सर्वथा योग्य और अधिकारी है। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ साहित्य का पारायण उसे इस विवेक से सम्भव बनाता है जिसके द्वारा महान् उपलब्धियों का श्रेणीकरण किया जाता है।

#### मान का प्रयोग —

यदि हम अपेक्षाकृत उदार और व्यापक दृष्टिकोण से विचार करें तो हम ऐसा प्रतीत होता कि समीक्षा का कोई भी मानदंड प्रत्येक प्रकार के साहित्य पर लागू पित नहीं दिया जा सकता क्योंकि वहाँ वह जिसका व्यापक श्रेणीय हो परन्तु अधिक उच्च अधिक वह साहित्य के परीक्षण की एक कपीटी मात्र है। इसलिए किसी भी विषय कौटि के साहित्य का परीक्षण उसके माध्यम से सम्भव नहीं है। कोई भी रचनात्मक कृति एक ही मानदंड से परीक्षित करना उनके साथ अन्याय करता है, क्योंकि यदि कोई कृति किसी अनुभूतिगत संकुचित परिच्छेद में रची गयी है, तो उसका परीक्षण किसी व्यापक

मानदंड के आधार पर करमा आवश्यक है। उदाहरण के लिए यदि किसी कृति में किसी वैयक्तिक अनुभूति की मसल अविश्वस्यता मिलती है तो उसका परीक्षण मानदंडवादी विचारधारा पर आधारित मानदंड से नहीं हो सकता। इसलिए किसी रचनात्मक कृति में अविश्वस्य अनुभूति का परीक्षण उसकी विश्वसनीयता के आधार पर किया जाना चाहिए। इस रूप में वह एक मास्त्रीय कसौटी होने के साथ ही साथ उसकी रचना प्रक्रिया की विवृति करने वाला एक व्याख्यात्मक मान भी होगा। समीक्षा का मान साहित्यिक श्रेष्ठता का निर्धारण और माप करने के साथ यह भी देखता है कि कोई भेदक साहित्य सृजन करते समय श्रेष्ठता के समुद्र तटों को अपनी हृदयानुभूति से मिलाकर कैसे किस रूप में उसका प्रस्तुतीकरण करता है। इसलिए साहित्यिक श्रेष्ठता का माप उसमें निहित बहुमुखी श्रेष्ठता से भी किया जा सकता है।

सम्यक मान का स्वरूप —

अंत में सम्यक मान निर्धारण के स्वरूप के विषय में हम यह कह सकते हैं कि वह समन्वयात्मक होना चाहिए। समीक्षा का कार्य साहित्य का मूल्यांकन और आलोचनात्मक सिद्धान्तों का परीक्षण है। समीक्षात्मक उद्देश्यों की यह बहुमुखता उसकी व्यापकता का कारण होती है। इसलिए, हमारे विचार से समीक्षा का समन्वित परिवेश युव और प्रकृति की संकुचितता से मुक्त होना चाहिए। उसे प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य मानदंडों की भाँति केवल साहित्य के आन्तरिक अथवा बाह्य रूप का परीक्षण न होकर उसमें अविश्वस्य मूल अनुभूति तथा उसकी अविश्वस्यता की परख करनी चाहिए। उसमें न तो पूर्व-कृतिकारिता या विष्टयेयन हो और न नवीनता का अनावश्यक आग्रह करना मध्य का मार्ग होना चाहिए। यदि वह यथार्थानुकारिता का परीक्षण हो तो समय के सभी रूप उसके परिवेश में हों उसे पाठक के सार्वभौम अनुभव की विवेचना करने में भी समर्थ होगा चाहिए। उसमें युगीन परिवर्तनों के ग्रहण करने की क्षमता भी होनी चाहिए, क्योंकि परिवर्तन की आवश्यकता ही उसके पुराने पड़ जाने की सूचक है और नवीन व्याख्या के लिए नवीन दृष्टिकोण आवश्यक है। उसमें इतना लचीलापन होना चाहिए कि समय समय पर नवीनता का समावेश होता रहे क्योंकि रचनात्मक साहित्य के साथ ही साथ उसके परीक्षक मानदंड में भी विकास होना चाहिये। पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के उच्चतम के आधार पर नवीन नियमन में रस वास्तवता के साथ प्रबुद्ध विवेक भी होना चाहिये। इसलिए समीक्षा का उपयुक्त और सम्यक मानदंड समन्वयात्मक ही हो सकता है। यहाँ तक उसके निर्धारण की सम्भावनाओं का सम्बन्ध है, वे सभी हो सकती हैं जब साहित्य की विभिन्न युगीन महान् कृतियों

और उपसम्बन्धों का संयोजन करके वैज्ञानिक विकास के साथ उनका संतुलन करें, क्योंकि समीक्षा का मान और आदर्श स्वयं उत्कृष्ट कृतियाँ ही होती हैं।

निष्कर्ष रूप में हम यह कहना चाहें कि समीक्षा के क्षेत्र में मान निर्धारण की समस्या का निदान अभी प्रस्तुत हो सकता है, जब हम अपने देश के प्राचीन विचारकों के सिद्धान्तों का गम्भीरता के साथ विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से अध्ययन करें। हमारे देश में प्राचीन युगीन साहित्य शास्त्र की समृद्धि का एक कारण यह भी था कि विद्वानों का अतिरिक्त जग सामान्य में भी काव्य रस और शास्त्र प्रवृत्ति थी। हम इस प्रवृत्ति को प्रचारित कर सकते हैं यदि हम में साहित्य शास्त्रीय मूल्यों की चेतना जाग्रत हो। विज्ञान के अतमान युग में आधुनिक युगीन साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से हम पारंपार्य विद्वानों की अपेक्षा महत्तर उपसम्बन्धों से हीन हैं। हमें यह बात निश्चित रूप से समझ लेनी चाहिए कि विकास के किसी भी युग में प्राचीन सिद्धान्तों और उनकी परम्पराओं का परित्याग नहीं किया जा सकता। वे किसी भी स्वाभिमानिनी और अतीत गविषी भाव के लिए सांस्कृतिक गौरव की बात भी नहीं होनी। इसलिए उन्हें हम ग्रहण करेंगे और उनके महत्वपूर्ण अंशों को स्वीकृत करके सास्त्रान्वेषण की प्रवृत्ति को जाग्रत करते हुए उनकी चेतना की पृष्ठभूमि में नवी सम्भावनाओं पर विचार करेंगे। जैसे स्तर के अन्तःपञ्चात्मक चिन्तन के लिए सांस्कृतिक गौरव का बोध आवश्यक और अत्युद्दिष्टावक भी होता है। अतः अतीत की महान् वैचारिक परम्पराओं और आधुनिक चिन्तन की समृद्ध धाराओं का विवेकपूर्ण समन्वय ही समीक्षा का सम्यक मान निर्धारण कर सकेगा एवं इस क्षेत्र में हमारा मार्ग प्रशस्त करेगा।

## परिशिष्ट १

### सहायक ग्रन्थों की सूची

#### क हिन्दी

- “बनुसन्धान का स्वरूप” सं० डा० सावित्री सिन्हा  
“बनुसन्धान की प्रक्रिया”, सं० डा० सावित्री सिन्हा तथा डा० विवेकानन्द स्नातक  
“बन्धु का काव्य शास्त्र”, बनु० डा० मनेन्द्र तथा श्री महेन्द्र बनुरावै  
“अर्थकार बन्धुत्व” रघुनाथ सुमति  
अर्थकार पंचांगिका”, मणिराम  
‘अर्थकार पीयूष’ डा० रमाचंद्र गुप्त ‘रसाज’  
“अर्थकार भूषण” ज्ञाना मयबानदीन  
“अर्थकार संज्ञा”, ज्ञाना मयबानदीन  
“आचार्य केशवदास”, डा० हीरानाथ शिखर  
“आधुनिक कवि”, भाग १ श्रीमती महादेवी वर्मा  
“आधुनिक समीक्षा डा० देवराज  
“आधुनिक साहित्य”, श्री मन्त्र बुनारे बामदेवी  
“आधुनिक साहित्य”, प्रतापनारायण टंडन  
“आधुनिक हिन्दी साहित्य” श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त  
“आलोचनात्मक” प० महावीर प्रसाद द्विवेदी  
“आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त” डा० एस० पी० ज्ञानी  
“आलोचना समुच्चय” श्री रामकृष्ण शुक्ल ‘विन्दीयुक्त’  
“अर्थशास्त्र” गोविन्द  
“अर्थशास्त्र संशोधन” गुण्ड बरि

- कवि प्रसाद माँसू तथा अन्य कृतिर्मा—८२०  
 कवि प्रिया—४० ४१९ ४१० ४१९,  
 ४१३ ४१४, ४१३ ३००  
 कवि मुहम्मदहन—४८९  
 कवि समय कस्मोल—३३९  
 कबीर कंठाभरण—३९६  
 क्वेस्टेनिटा ऐंड क्लिडस—१९७  
 काव्यवरी—६९३  
 कामवाणी—७९४ ५६३  
 कारमिडीव—११४, ११७  
 कारिकावली—७०७  
 कालिदास और भवभूति—७८२  
 कालिदास की निरंकुशता—७१९  
 काव्य कला—१३६, २०४  
 काव्य कल्पद्रुम—३००, ७९७  
 काव्य कलाधर—३९७,  
 काव्य कलाविधि—३९७  
 काव्य कल्पलता—३९६  
 काव्य कौतुक—३३६, ३३३  
 काव्य और कला तथा अन्य निर्बंध—८२१  
 ८२२  
 काव्य के रूप—५१४  
 काव्य कर्वा—८७३  
 काव्य वर्णम—३७४ ६४४ ७३५  
 काव्य निर्बंध—४६९, ४७० ४७१ ४७२,  
 ४७३ ४७४ ४७५, ४७६ ४७७ ४७८  
 ४७९, ४८०, ४८१ ४८२ ४८३ ३००  
 ७३३  
 काव्य प्रकाश—३०० ३७ से ३७१,  
 ३६३ ३८६, से ३६९, ३७०, ४४१  
 ४४२, ४४६, ४४३, ४४३ ४२४ ४६७,  
 ४३५ ७०८ ३४७ ७१७ ७१७, ७२३,  
 ८००  
 काव्य प्रकाश उल्लास—७१२  
 काव्य प्रकाश टीका—३७४  
 काव्य प्रकाश वर्णम—३७४ ३८९  
 काव्य प्रकाश वीपिका—३७४  
 काव्य प्रवीण—३७४  
 काव्य प्रजाकर—७९८  
 काव्य में उदात्त तरंग—१४७  
 काव्य मीमांसा—२९७ २९८ ३१० ३४०  
 ३४१ ३४७  
 काव्य में रसुस्यबाह—८१६, ८१७  
 काव्य में बलिभ्रंशनाबाह—८१० ८१३  
 काव्य रत्नाकर—४९१  
 काव्य रसायन—४४९, ४३०, ३००  
 काव्य विनोद—४९३, ३००  
 काव्य विनोद—४९३ से ४९७, ३००  
 काव्य विवेक—४२४  
 काव्य सरोज—४३३, से ४३७ ३००  
 काव्य सार संघ—३९७  
 काव्य सिद्धांत—४३३ ३००  
 काव्यार्थ गुण—३९९  
 काव्यार्थ—३१३, से ३२० ३७४, ३९५,  
 काव्यानुशासन—२५१ ३९०  
 काव्याभरण—४५६  
 काव्यार्थकार—३१० ३१२, से ३१४  
 ३१६, ३२६, से ३३० ३९७ ३९८,  
 ३२८, ३७७ ३९७ ७४५  
 काव्यार्थकार सार—३८०  
 काव्यार्थकार सार संघ—३२० से ३३२  
 काव्यार्थकार सूत्र—३२३

काव्यात्मकार सुख कृति—३२२, से ३१४  
६८७

काव्यालोक—३९७

किरण—३९६

कुकुरमुत्ता—८२६

कुमार संभव—३२१, ७२९

कुवलयार्णव—३०२, ३९१ ३९६ ४८३  
४८४ ४८९

कुवलयार्णव चरित्र—३८९

कुवलय विलास—४४८, ४९९

कुसुम प्रतिमा—६२०

कृष्णचंद्रिका—४४९

कृष्णसीमा—४०९

कृष्णसीमावती—४६०

केदार और उनका साहित्य—८६९

केदार की मुर्ती—१९१, १९७

केदारवास उनके रीति काव्य का विशेष  
अध्ययन—८६९

केदार पंचरत्न—७९१

कोविदाग्नि—३९६

कौमुदी आलोक—३७४

कूरियासिटीज—२७६

क्रिटिकल एसेज—२३१

क्रिमेडिक क्रिटिसिज्म—२७३

करीटो—११४ ११७

कपाज्ज्म—२०९

किलयोपैदा—१८३

काला—८२८, ८२९

(ग)

वर्णानुसारी—३९५

कवय—८२९, ८२८

कांडीवर्ट—२१३

काबा सप्पतमी—७८६

कागिदास—११६

कांतगौरीस—३८३

कांता महात्म्य—४८८

काता गौरीस—३८३

काव्यन—८२६

काव्यलोक—३८९

काव्य की का काव्य विकास—८६९

काव्य की का काव्य कला—८७१

काव्य—८२६

काव्य हित—२११

काव्या—८३१

काव्या—८२९

काव्यामी कर्णपुर—३९६

काव्यामी कर्णपुरास—८०८, ८०९

(घ)

काव्यामी और मध्यकास की स्वच्छंद काव्य

पारा—८६९

(च)

काव्यकरवाणी और उनका काव्य—८६९

काव्यलोक—३८२ ३९१ ३९६ ३८३

काव्यलोक—८ ४

काव्य—८३०

काव्यकाव्य—४४८

काव्यमीमांसा—३९१

काव्यामणि—७६२ ८०८ ८०९, ८११

काव्य चरित्र—४८९

काव्य आठ एडिटरटेलिगम—४७८



(छ)

सुवसास बंधन—७९१

सुख्य प्रमाकर—७९६

सुख्य विचार—९४७

सुन्दरीय विपस—४००

सुपा—८३१

सुपाबाद का पत्र—८८९

(ज)

जयशामरज—३९३

जयद्विनीद—४८९, ४९९

जगतविज्ञान—१००

जयधर प्रसाद—५८३

जयसिंह प्रकाश—४९३

जयशंख सुपम—७९७

जहाँगीर जय शक्ति—४०९

जानकी प्रसाद—४११

जामसी जनकी कथा और शंख—८९९

जामसी के परबर्ती सुफी कवि—८७१

जामसी प्रभावती—८०६

जाने के लिए—८३४ ८३५

जानने के तत्व तथा काम्य के सिद्धांत—८१६

जगुस नखदिक—४९३

जगुस रस प्रकाश—४८३

जैनेंद्र की कथा—४०९

ज्योति विज्ञान—८३१

(ट)

जिन्हैतराम प्रकाश—४६६

जिसटैग घंटा—२७३

टू दि. बर्षांत बिह इयजेंस द्वायस्तेषन भाफ

प्रीतभायेस भाफ पोटिंग—२४३

टू राबर्ट आर्से भाफकोर्ड ऐंड आर्से

माटिमर—२४३

टेबिस टाक—२७३

ट्रिडोस एंड दि इंडिविजुअस टेसेट—२८३

ट्रिडेड ऐंड गीसमंड—१५२

(ठ)

ठाकुर ठसक—७९१

(ड)

डाफनायदा—१८०

डि मारेटर—१३३

डि इंस्टीट्यूशन बोरेडेरिया—१९०

डि कारपोर पौलिम्को—२१४

डिगनरी भाफ इतिहास लिटरेचर—२१०

डिगनरी भाफ बर्ष लिटरेरी वर्स—२६६

डि टोमाइन—२१४

डिफेंस आफ दि एसे—२३०

डिफेंस आफ पोयट्री—२७६

डिफेंस आफ राइम—१८९

डि रिपब्लिका—१३३

डि सेजिबस—१३३

डिवाइन कम्पि—१९३

डिसरटेसन—२७६

डिसरटेसन ज्ञान औसिपन—२४६ २४०

डिसरटेसन ज्ञान रिड राइज आफ पोयट्री  
—२४६

डि सीनिस्ट्रूट—१३३

डिस्कवरीज—१८६

डिस्कॉर्स अकैजंड बाई दि डेव आफ लेगी

कन्स—२४१

डिस्कॉर्स ज्ञान म्यूजिक—२४६

डी इंटरप्रिटेसन—१४३

डी सेपाइटिया बोर्टेस—१४४

डेट टाइम हीकर ऐंड बीस्पर्स—२७३

डेलिया—१८३

डसिब—२१४

(त)

दत्त बोधिनी—३७४

दत्तामीक—३३६

दरस—३५३

दुसरीदर्शन—८६८

दुसरीबास और उतका युग—८६३

दुसरीबास बीवनी और कृत्रियाँ का

समालोचनात्मक अध्ययन—८६८

दुसरीबास का वर्णरक्षण—८६७

दुसरीबास बीवनी और विचारबाग

—८६८

दुसरी पंचरत्न—७९१

दिवेनिका—३९६

दिसंबु—८४९, ८५०

(थ)

पस्याफरेवियाभूषे—१०९

पियाटिटस—११७

प्योयोनी—१०४

प्री भावर्षि आफ्टर मीरिब—२४२

(द)

दक्षिणी काव्यबारा—८३३

दम्पति विलास—४४८

दलेल प्रवास—४८८

दयकरक—३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१

३८९, ४२८, ४२९, ४३०

दयावतार चरित्र—३७४, ३७९

दि अतटाचिन्ड सबर्षि—२१३

दि डॉडमन इपिरट—२१८

दि एडवांसमेंट आफ् ट्रेड इन जायरसीड  
—२२८

दि एडवांसमेंट ऐंड रिफारमेशन आफ्  
माडर्न पोस्ट्री—२३६

दि एक्सिम टु दि पीसीक—१३७

दि एक्सिस टु वि रॉय लेडी—२४३

दि ऐडम मीडीन—२६४

दि ऐसाइनेशन—२१८

दि ऐस्मेटिक एटीट्यूड—२७४

दि ऐस्मेटिक क्वेश्चन—२७४

दि ऐस्मेटिक सेंगेमेन्ट— ७४

दि कन्वर्सेंस—२७६

दि कांचस लवर्षि—२४०

दि काइड कीपर—२१८

दि कमिक राइटर्षि—२७५

दि कैपेने—२३८

दि किरिबयन हीरो—२४०

दि क्रुएल वरर—२१३

वि घाउड आफ् क्रिटिसिज्म इन पोयट्री—  
२३६

वि ऑटोमैस मैगजीन—२४७

वि टेंडर हूब्ले—२४०

वि टवेडी आफ् एल्बोराइन—२१३

वि डाक्टर्षि सेटर्षि—२७३

दि ध्योरी आफ् ड्यूटी—२५२

दि डैरीव आफ् डा० राबर्ट नोटिस—३४३

वि न्यू ड्यूसिपेड—२४२

दि पावर आफ् लवर्षि ऐंड वि प्रिप्रिफिज्म  
आफ् ह्यारमानी इन पोयटिक कंपोजीशन—  
२७३

दि पावर ऐंड हारमोनी थाफ प्रोवाइज  
 नंबरर्स—२७३  
 दि पाप कैमिस्ट—१८७  
 दि पास्टाइज आफ प्लेजर—१९३  
 दि पिस्त्रिम—२१८  
 दि पेबुल आफ योय—२४३  
 दि पीपटास्टर—१८१ १८८  
 दि प्रिंसिपल्स आफ एस्पेटिक्स—२७४  
 दि प्लेटानिक नंबरर्स—२१३  
 दि प्लेन स्वीकर—२७३  
 दि फिनासकी आफ क्रोचे—२३३  
 दि फेयरी कबोल—१८१  
 दि पैड इनोर्सेस—२१८  
 दि फ्लोरस—२४०  
 दि ब्रिटिस आफ दि बुधस—२४१  
 दि ब्रिटिश डिस्कोवाफर—२७६  
 दि मिस्त्रेस—२१७  
 दि मैडेन कबीन—२१८  
 दि मैरिज आफ हेथम ऐंड हेल्—२७३  
 दि राइजिंग लेडीज—२१८  
 दि राउंड टेबिस—२७३  
 दि रिपब्लिक—११८  
 दि रीकर्ड कपिनियल टु बर्से मिटरेयर—  
 ५३७  
 दि रूइन आफ टाइम—१८०  
 दि रेंजसर—२४८  
 दि लाईम लवर—२४०  
 दि वाइफ आफ बाथ ह्युमोसोम—१४३  
 दि विट्स—२१३  
 दि वाइरड वीनेड—२१८

दि साइकोसोमी थाफ आर्ट—२७४  
 दि स्कूल मिस्त्रेस—२७३  
 दि स्टेज आफ इनोर्सेस ऐंड फास थाफ गीन—  
 २१८  
 दि स्टैंस आम्बूब—१८७  
 दि स्पूक सोनाटा—१६४  
 दि स्प्रिट आफ दि एज—२७३  
 बीपक प्रकाश—४९०  
 बीपशिक्षा—८२८  
 दीपावली—७९७  
 दूपक उत्साह—४३७  
 दूखरा सप्तक—८३१  
 बुद्धिकोग—८८०  
 बेला परला—८६० ८६४  
 बेव और जनकी कविता—८८६  
 बेव और विहारी—७८७ ७८८, ७८९,  
 ७९०  
 बोहावली—७९०  
 भोजनर्व—४३७  
 द्विजदेव और सतका काव्य—८६९

(घ)

ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त—८७२  
 ध्वन्यालोक—१३० १३१ १३२, १३३  
 १३४ १३५, १३६ ७०९, ७२२

(ग)

नखरपंग में हिन्दी कविता—८१७  
 नखदिव्य—४०९ ४१० ४३७ ४३३  
 (डा०) नपेंद्र के सर्वश्रेष्ठ निबंध—८८६,  
 ८८८ ८८९  
 नागराज यथोत्पन्न—१९३

मया साहित्य मये प्रबन्ध—८८३ ८८३

नरसिंह टीका—३७४

नरेंद्र भूपाल—४८८

नव निर्बंध—८७३

नवरस—८१४

नवरस तरंग—४९८ ४९९

नाइट्स—१०९

नागेश्वरी—३७४

नाटक की परब—१२७, १२८ १२९,

१३३ १३६

नाटक चरित्र—३६९

नाट्य वर्षण—३८१ ३८२

नाट्य पीपिका—४९२

नाट्य शास्त्र—३८, ४२, ४६, ३०० ३०२

३०६, ३१७ ३२२, ३९८ ४२६ ४०३

४१३ ४१७ ६१८, ६९१, २९९, ३०५,

३०७ ३०८ ३०९, ३३२ ७४२, ६९५,

२९८

नाम संप्रदाय—८२७ ८१८

नाम संप्रदाय के हिन्दी कवि—८३७

नाम प्रकाश—४६९, ४७०

नामानंद—४९१

नायिका मेह—४६३, ४६८, ४६९ ४७४

४७६ ४००

नायिका मेह शम्बावती—७९८

नातिकेसरीपास्यान—८०४

निबंध प्रबंध—८७८

निमाड़ी भाषा और साहित्य—७७३

नेजर ऐंड एनीमेट्स आफ पोपटो—२७१

नो फ्रोजियम जो कुसेयर—२१७

न्यू इयून सिनेट—२४३

न्यू वर्ल्ड आफ वर्ल्ड—२९७

(५)

पंचाध्यायी—४६०

पद्मपरराग—७९४

पद्मामरण—४८९, ४९०

पद्य के छापी—८२८

परमानंददास बीबनी और ग्रंथ—८६०

परमार्थ सार—३३६

पस्तक—८२८

पस्तकविनी—८२६

पायर्स मुपरदरोगेशन—१८१

पारमेनीडेस—११७

पारचात्य काव्य शास्त्र की परंपरा—१३६,

१४१

पारचात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

१०१, १०२ १०३ १०४, ११४, ११५,

११६, ११७, ११९, १३० १३५

पारचात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत

१०६ ११५, ११९ १२१ १२८, १

१३७ १४८, १५२

पियस—४९४ ४९१

पिरैमस ऐंड बिस्वी—२९७

पीस—१०९

पुष्पमाला—३८४

पूजोदय—८६०

पैराडाइज रिगेंड—२१३

पैराडाइज काल्प—२१३, २१६,

पोयन्त्रिसु—१४३, १३७, १४२  
 पोयटी कमेडी एंड झूटी—२७३  
 पोमिन्त्रिकल फिन्नासफीज—१३३  
 प्रकाश विलक—१७४  
 प्रयतिवाद—८४१  
 प्रवतिवाप एक समीक्षा—८३६  
 प्रवतिवाद की रूपरेखा—८४२, ८४३, ८४४  
 प्रवतिशील साहित्य की समस्याएँ—८३७  
 प्रवतिशील साहित्य के मानबंद—८४३,  
 प्रबंड पाठ्य—३३९  
 प्रतापशह मद्योभूषण—३९०, ४२२  
 प्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी—३३६  
 प्रबंध प्रतिमा—२८६, ८२४ ८२५  
 प्रभा—३७४  
 प्रभावती परिचय—३८९  
 प्रसिद्ध रत्नावली—३८९  
 प्रसाद का काव्य—४६९  
 प्रसाद की नाद्व कला—४७८  
 प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण—  
 ८७३  
 प्राणभरण—३९५  
 प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट—२५२  
 प्रिंसिपल्स ऑफ सिटरेरी क्रिटिसिज्म  
 —२८१  
 प्रिफेस टू एन ईवनिंग लय—२२१  
 प्रिफेस टू दि ट्रांसमेशन ऑफ बोबिन्स  
 एपीसल्स—२३२  
 प्रिफेस टू वेक्सपीमर—२४९  
 प्रिया प्रकाश—३९१  
 प्रेमचंद की रचना की कला—८६३

प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म—११५  
 प्रोटगोरस—११५, ११५, ११७  
 प्लूटस—१०९  
 प्लेटी एंड एरिस्टाटल—१३३, १४५

(फ)

पठोद्भूषण—४८३  
 फाउरे सेटर्स—१८१  
 फाजिल मली प्रकाश—४४७  
 फायमारो—३६२  
 फायडो—३६२  
 फिनाइस—११९  
 फिन्साफिस्त बरेजमेन्स—२४६  
 फिन्नासफीज ऑफ झूटी—२५२  
 फिन्सबस—१०९  
 फिन्सोगस—१८३  
 फेमरी क्वीन—२१४  
 फेरोमिडा—२७६  
 फेडरस—१२१  
 फोर हाइम्स—१८१  
 फास—१०९  
 फी होल्डर—२३८

(ब)

बबारेफीज—२७५  
 बर्निनम बर्नल—२४७  
 बर्स—१०९  
 बालचिंतानुरविणी—३३३  
 बालभारत—३३९  
 बाल रामायण—३३९, ३४६  
 बिम्बवासेकेका बिदेगिका—२७३  
 बिहारी—४२०

नया साहित्य मय प्रथम—८८३ ८८३

नरसिंह टीका—३७४

नरेंद्र भूपाल—४८८

नव निर्बंध—८७३

नवरस—८१४

नवरस तरंग—४९८, ४९९

नाइट्स—१०९

नायेस्वरी—३७४

नाटक की परब—१२७ १२८ १२९,

१३५, १३६

नाटक चरित्रा—३६९

नाट्य दर्पण—३६१ ३८२

नाट्य बीषिका—४९२

नाट्य शास्त्र—३८, ४२, ४६, ३००, ३०२,

३०६, ३१७ ३५२, ३९८ ४२६ ५०३

५१३ ५१७ ६१८ ६९१, २९९, ३०५,

३०७ ३०८, ३०९ ५३२ ७४२, ६९५,

२९८

नाम संप्रदाय—८२७ ८१८

नाम संप्रदाय के हिन्दी कवि—८३७

नाम प्रकाश—४६९, ४७०

नामार्णव—४९१

नायिका भेद—४३५, ४५६, ४५९ ४८४

४८६, ५००

नायिका भेद सभ्यावली—७९८

नायिकेष्टोपाख्यान—८०४

निबंध प्रबंध—८७८

निमाड़ी भाषा और साहित्य—८७३

नैचर ऐंड एनीमेंट्स आफ पोपटो—२७१

नौ प्रोजियम ओ कुमयर—२१७

न्यू इयून सिपेड—२४३

न्यू वर्ल्ड आफ वर्ल्ड—२२७

(१)

पंचाम्यायी—४६०

पद्मपराय—७९४

पद्मामरक—४८९, ४९९

पद्म के साथी—८२८

परमानंदवास जोबनी और प्रंप—८६९

परमार्थ सार—३३६

पस्तक—८२७

पस्तकबिनी—८२६

पायर्स सुपरहरोगोपल—१८१

पारमेनीडेस—११७

पारशरथ काव्य शास्त्र की परंपरा—१३६,

१४१

पारशरथ रावनीतिक विचारों का इतिहास

१०१, १०२, १०३ १०४ ११४, ११५,

११६, ११७, ११९, १३० १३३

पारशरथ साहित्यालोचन के सिद्धान्त—

१०६, ११५, ११९ १२१ १२८, १३१

१३७ १४८ १५२

पिगल—४२४ ४९१

पिरैमस ऐंड बिस्वी—२९७

पीस—१०९

पुष्पमामा—३४४

पूर्वोदय—८६०

पैराडाइज रिमेंड—२१३

पैराडाइज लास्ट—२१५, २१६, २१७, २१९,

२३८

पैलेटिस—२२८

पोलिटिक्स—१४० १३७ १४२  
 पायग कनेडी एंड ब्यूटी—२७३  
 पार्लियामेंट रिजिस्ट्रार—१६२  
 प्रकाश त्रिभुवन—३७४  
 प्रपत्रिवाद—८४१  
 प्रगतिवाद एक समीक्षा—८३३  
 प्रगतिवाद की रूपरेखा—८४२, ८४३, ८४४  
 प्रगतिशील साहित्य की समस्यार्थ—८३७  
 प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड—८४३,  
 प्रकृत पाठक—३३  
 प्रतापदत्त मधोभूषण—३९० ४२२  
 प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—३३६  
 प्रबन्ध प्रतिभा—२८६ ८२४ ८२३  
 प्रभा—३७४  
 प्रभावशी परिणय—३८९  
 प्रचलित रत्नावली—३८९  
 प्रसाद का काम्य—८९९  
 प्रसाद की मातृय कला—८७८  
 प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण—  
 ८७३  
 प्राध्यापन—३९३  
 प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट—२३२  
 प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म  
 —२८१  
 प्रिंसेस टु एन ईबनियज बन्ध—२२१  
 प्रिंसेस टु दि ट्रांसमिशन ऑफ ओबिडियंस  
 एपीसोड—२२२  
 प्रिंसेस टु सेक्सपीमर—२४९  
 प्रिया प्रकाश—६९१  
 प्रेमचंद और उनकी कला—८६३

प्रैक्टिसल क्रिटिसिज्म—११३  
 प्रोटोपौरस—११४, ११५, ११७  
 प्लूटस—१०९  
 प्लेटो एंड एरिस्टाटलस—१३३, १४३

(फ)

पठहनुषण—४८३  
 फाउरे लटर्स—१८१  
 फाजिल अली प्रकाश—४४७  
 फाजिलारो—३६२  
 फानडो—३६२  
 फिनाइस—११६  
 फिनसाफिजम अरेजमेन्ट—२४६  
 फिनाइजीज ऑफ ब्यूटी—२३२  
 फिमबल—१०६  
 फिलोटास—१८३  
 फेयरी क्वीन—२१४  
 फरोमिडा—२७६  
 फेडरल—१२१  
 फोर हाइम्स—१८१  
 फाम्य—१०९  
 फी होम्बर—२३८

(ब)

बयाप्रेफीज—२७३  
 बर्चमिथम जर्नल—२४७  
 बर्हस—१०९  
 बालविठलसुर्जिनी—३७३  
 बालभाष्य—३३९  
 बाल रामायण—३३९, ३४६  
 बिम्बपारोकोका विदेनिका—२७३  
 बिहारी—८२०

बिहारी और वेद—७९१

बिहारी की कामिभूमि—८२०

बिहारी की सतसई—७८३ से ७८७

बिहारी बोधिनी—७९१, ७९२

बिहारी भाषाओं की उत्पत्ति और विकास

—८७३

ब्रिटेनिया रोडबिबा—२१८

(म)

भक्ति रसायन सिद्धु—१९६

महानी बिलास—४४८ ४४९, ४५२, ४५३

४९९

भामह का काव्यासंस्कार—११७

भामह विवरण—३२०

भामिनी बिलास—३९३

भाष्य भंजरी ३७९

भारतीय भूपन—८०१

भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा—१२०

३३७

भारतीय धर्म साधना और सूर साहित्य

—८७०

भारतेंदु हरिश्चंद्र—८ ४

भाष्यप्रकाशन—३८३

भाष्य बिलास—४४८ ४४९, ४५२, ५००

भाषाभरण—४८४

भाषा भूषण—१८२ ४३५, ४३९, ४९९

भाषाभंग—३८४

भूप भूषण—४०८

भूषण—८२०

भूषण उस्मास—४३७

भूषण कीमुटी—४९१

भूपन संभावनी—८२०

भूपन बिलास—४४८

भूपन हजारा—४३७

भ्रमर गीत सार—८०७

(म)

मतिराम कवि और भाष्य—८९७

मतिराम प्रपञ्चामी—७९०

मधुरा बिसे की कृष्ण और व्यावसायिक

शब्दावली—८७३

मधुमती—३७४

मध्यकासीत धर्म साधना—८१७ ८१८

८७५

मनोविज्ञान के प्रकाश में रस सिद्धांत का

अध्ययन—८७३

महामाठ—४८९, ७९४

माडन बर्तविपुलर सिटरेवर भाऊ मार्भन

हिंदुस्तान—७६७

माधव विनोद—४६०

मानस की टीका—७९१

मानस की राम कथा—८७३

मानस तत्व प्रबोधिनी—८७३

मानस मयंक—८७४

मानस संकावली—८७४

माया सप्तशती—७८४

मारत फिलासफी—१४२

माटिलस स्क्वलस—२४२

मिथ बंधु विनोद—४०७ ४२४ ७६८

८०१

मिथलीनिया—२४१

मीनो—११७



- मीराबाई—८१०  
 मीराबाई की पनावली—८७३  
 मुनेन्द्रिस—१८३  
 मेकाशीस सगार्म कौस्तुभ—३९७  
 मेरना मोरेमिया—११४  
 मेव दूत—७२९  
 मेमिया—११४  
 मेमोरेमिया ज्ञाफ साफ्रेटीज—११४  
 मैबिली मापा का विकास—७७३  
 (य)  
 यमुना वर्षम वर्ष—३९३  
 यामा—८२८  
 युक्ति तरंभिली—४३०  
 युग बीर साहिर्य—८३१  
 युमवैतना—२३७ २६० २७१ २८२  
 २८३, ८३३  
 युय पक्ष—८२६  
 युगवापी—८२३  
 युमास—८२६  
 युपीकोत—११४  
 युपीजेमस—११७  
 युनात का इतिहास—११३  
 युनीवर्सल बिजिटर—२४७  
 (र)  
 रंगतरंग—४९७  
 रघुनाथ बलकार—४७८ ४८९  
 रघुवंश—७२९  
 रघुनाथजी—४०९  
 रत्नघरण—३९०  
 रत्नाकर छनकी प्रतिमा और कला—१८९

- रत्नार्थक—३६३  
 रत्नार्थक—३९०  
 रदिसर्बक—८२६ ८२८  
 रस कसस—म ८  
 रस कस्तोर्य—४६७, ४८१ ४९०  
 रस कुमुमाकर—१९७  
 रस यंयापर—३८९ ३९१ ३९३ ३९४  
 ३९६ ७४८ ८० ८०९  
 रस ग्राहक पत्रिका—४३३ ४९१  
 रस ग्राह—४४८  
 रस श्रिका—३९६ ४८६  
 रस शत्रोदय—४६९ ४९९  
 रसज्ञ रंजन—७७४ ७७९  
 रस तरंगिणी—३७४ ४८३  
 रस तिलक—४०९  
 रस वर्षम—४८८ ४८९ ४९९  
 रस वीपक—४३९  
 रस निवास—४८७, ४८८, ४९९  
 रस प्रपञ्च—३९७  
 रस पीपुग निधि—४३९, ४६६, ४६७, ३००  
 रस प्रबोध—४६८ ४९९  
 रस धूमय—४३४, ४३९, ४७१, ४९०  
 रस मंजरी—३८३ ३९६ ४०८, ४२३  
 ४२४ ३०० ७९७ ७९८  
 रस मीमांसा—८०८, ७१०  
 रस रंग—४९९  
 रस रत्नमाता—४३३, ४९९  
 रस रत्नाकर—४३३, ४३९, ४९९, ७९८  
 रस रत्नावली—४३३  
 रस रत्नस्य—४३७, ४४७ ४६९

रस राज-४३६, ५००  
 रस सतिका-४३५  
 रस बिनोद-४८५  
 रस बिसास-४३२, ४४५, ४८५, ४४९, ४९९  
 रस बिबेक-४४८  
 रस बृष्टि-४५३  
 रस चिरोमणि-४८७, ४८८  
 रस शृंगार समुद्र-४३९  
 रस सानर-४४८ ४३३, ४९९  
 रस शारंग-४६९ ४९९  
 रसार्जव-४४७  
 रसिक गोविन्द नन्दानन्दवन-४९२  
 रसिक प्रिया-४१, ४२३ ४९९  
 रसिक रसास-४२३  
 रसिक बिसास-४८४  
 रहस्य प्रकाश (प्रथम)-३७४  
 रहस्य प्रकाश (द्वितीय)-३७४  
 राहस लेडीज-२२१  
 राघव बिलास-३८९  
 राघवरीगिणी-३६६  
 राजसूयाक-३६६  
 राजबिलास-७९७  
 राधा कृष्ण विहार-४८५  
 राजस्थानी भाषा और साहित्य-८७३  
 रामकृष्ण प्रयागसी-८०४  
 रामचंद्र मूयल-४३४  
 रामचंद्र पद्योद्भव-३९७  
 रामचंद्रामरण-४३४  
 रामचरित्रिका-४०९, छे ४११

राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय-८७१  
 रामभूषण-४०५  
 रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर  
 सबका प्रभाव-८७१  
 रामायण-४२४ ७९९  
 रामायण मंजरी-३७९  
 रामार्जकार-४३४  
 रामार्जकृत मंजरी-४०९  
 रामचन्द्र-३००  
 राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील  
 रिटारिक-४९, १३४ ७३१  
 रिनासबो ऐंड बामिडा-२३४  
 रिबोत्सुधन सर रियसस्ते-२७९  
 रिपब्लिक-११४ ११६, ११८  
 रीति काल की भूमिका में देव का अध्ययन  
 -८७९  
 रीति कामीन मंजरी-४८३  
 रीति काम्य की भूमिका-८८६  
 रूपक रहस्य-८०४  
 रूप बिलास-४८४  
 रूप माफ रितीजन-१६६  
 रेंडसर-२४७  
 रेश माफ वि साफ-२४७  
 रैफ़ लेक्टर-२७३  
 रेशमस-२४७, २४८  
 रैस्टेटुसा-२७६  
 रोमी नायकों के संवाद-२०४  
 (स)  
 रंजन-२४७  
 सकयी सहृदी ३९३

- भाषित लक्षण—४३६  
 भव ऐह कानन—२१३  
 राम्य राहिय—२१७  
 भाइक बक पान—२०६  
 काइक बक मुडिनन—३१८  
 सइम्य षट्ठ रि पापटस—२४०  
 काइम्य भाक रि केनव इगिण पामदुस  
 -२२७  
 साइम्य बक स्विन्न ऐह ब्राह्मण—२७३  
 काइमीस—११४  
 मात्र—११७ ११८  
 मिटरेपर बक मुरीन—२७६  
 मिटरेपी मयमीन—२४७  
 मिटरे त्योरे—१८७  
 मिगिस्तुग—१०९  
 सेंबर—२७६  
 सेकबर्त भान इगिण पौपद्—२७३  
 सेकबर्त भान पौपटी—२७६  
 सेकबर्त भान रिटारिक—२४३  
 सेकस—११७  
 से वेड—११४  
 सेटर्स—२७६  
 सेबियेवन—२१४

(ब)

- बकीकि बीबिठम्—३३३ से ३३६ ३८९  
 ३३९, ३८८, ३९८  
 बयू बिनोद—४४८  
 बन पाठयेड सेवेन हेड्डेड ऐड पटी एट  
 -२४३  
 बरई मायिका—४९०

- बसुर्त—७४  
 बसुर्त तेंड डेव १०४  
 बर्टकन पोयोना—२४३  
 दर्जेड बान सवान बसेबम—२१७  
 बजेड दु रि नेनोरी बरक एन बजकाबुने  
 लेडी—२४२  
 बसेज दु हर राजन हाइनेस रि डपेड  
 भान मार्क—२१८  
 बाइमय बिमर्त—८२०  
 बागनटालंकार—३८२  
 बाट इस आर्ट—२६३  
 साहित्य—८४७  
 बाट इस धुगी—२३३  
 बापो लॉपू केपर—१८७  
 बिडसर फारेस्ट—२४२  
 बिक्रम बिलास—४३३  
 बिचार और अनुमति—८८९  
 बिचार और बिकर्क—८१७ ८१९  
 बिचार और बिबेचन—८८६  
 बिचार और बिस्लेषण—८८६ ८८८  
 बिजन ऐड डिवाइन—३६३  
 बिजान पीता—४०९  
 बिट ऐड ह्युमर—२७३  
 बिदगय माबब—३९८  
 बिडबिलास—४९०  
 बिडू घालमबिका—३३९  
 बिनोद बंडोदय—३४२  
 बिमपिनी—३८०  
 बिमर्त प्रवीप—८७७  
 बिट्टू बिलास—१९१

- विसियम ह्वसिट्-२७३  
 विवरण-३५३  
 विवृति-३२२  
 विवेक-३८१  
 विवेचना-८११, ८३३  
 विरसेपन-८११ ८६३  
 विरह साहित्य-८७६  
 विष्णु विसास-८३८  
 बीणा-८२६  
 बीरसिंह देव चरित-४४७  
 भूत विचार-४४७  
 भूति बालिक-३९१  
 भूतकथा मंजरी-३७९  
 बेनिटी आफ हनुमन विरोध-२४७  
 बेस्ट लीड-७९४  
 बैदिक फक्ति और मध्यकालीन काव्य में  
 उसकी अभिव्यक्ति-२७०  
 बोलोन-१८७  
 ब्यम्यार्क कीमुदी-४९३ ५००  
 ब्यम्यार्क मंजूपा-७९१ ७९२  
 ब्यक्ति विवेक-३३६ ३३९  
 न्यू आफ दि प्रेसेंट आफ आयर लीड-१८१  
 ब्रजभाषा व्याकरण-८७३  
 ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन-८७१  
 [ स ]  
 शब्द रसायन-४४८ ४५० ४५२ ४५३  
 शब्द शक्ति प्रकारिका-७ ७  
 घरनार्थी-८३०  
 घरबागम-३९६  
 घाटं रिब्यू आफ दि इममार्टेबिलिटी ऐंड  
 प्रोफेशनल आफ दि इम्मिग्र स्टेशन-२२९  
 धर्मरूच कैसेबर-१८१  
 ाघसीमुन्नी-८७८  
 धिश्य और दर्शन-८२६  
 धिबनाउयची संप्रदाय और उसका हिंदी  
 काव्य-८७१  
 धिबराज सुपन-४३७ ४९९  
 धिबसिंह नरोज-४०७ ४३६, ७६७  
 धिमुबंस-३७९  
 धीकंठ चरित-३८०, ३८१  
 धीपति-४९९  
 धुति भूषण-४०८  
 श्रुमास चरित-४८६  
 श्रुगार निर्णय-४६९, ४७० ५००  
 श्रुगार प्रकाश-३३९, ३६६  
 श्रुगार मंजरी-४२४, ४२५, ४९३ ५००  
 श्रुगारलता-४४७  
 श्रुगार बिलास-४६०, ४६१, ४६३,  
 ४६४  
 श्रुगार धिरोमणि-४८६ ४९३  
 श्रुगार सामर-४०८ ४४४  
 [ स ]  
 संग्राम छार-४३१  
 संत कवि मनुकवास-८६९  
 संत कवि रविबास और उनके पत्र-८७१  
 संत काव्य-८७३  
 संतोमिता स्वयंवर-८७७  
 संस्कृत आलोचना-२९८ ३२०, ३२१  
 ३२२, ३३३ ३९०  
 संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

- ३०९, ३१०, ३१५, ३१७  
 संस्कृत साहित्य का इतिहास—३२९, ३३०  
 ३३१, ३३६  
 संस्कृतसमीक्षा—३०९  
 संस्कृत और साहित्य—८३८  
 सप्तर्षी संहार—७९५  
 शबेह सामार—७९१  
 सम एस्पेक्टस आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन  
 संस्कृत—७४५  
 सम क्रासन्ट आफ अलंकार धारण—६१३  
 समसामयिक साहित्य—८२०  
 समीक्षा साह्य—८१६  
 समूह बंध—३८०  
 सरफराज बहिष्कार—४८६  
 सरमाटिन मीर भात—२१८  
 सरस रस—४३३  
 सरस्वती—८७६, ७८४  
 सरस्वती कंठामरण—३२९, ३६६  
 सरोज कसिका—४३३  
 सकेत एक अध्ययन—३७४  
 सार बोधिनी—३७४  
 सार समुच्चय—३७४  
 साहित्य और संस्कृत—८८९  
 साहित्य कला—८२०  
 साहित्य कल्पद्रुम—३९७  
 साहित्य का मर्म—८१७  
 साहित्य का साथी—८१७ ८१९  
 साहित्य की माँकी—८७७  
 साहित्य की वरज—८४१  
 साहित्य पिठन—८६१ ८६३  
 साहित्य चिन्ता ८८९ ८९१  
 साहित्य चूड़ामणि—  
 साहित्य जिमासा—८७३  
 साहित्य दर्शन—३८४, ३८८ ३८९, ४४१  
 ९०३, ६८६, ७०९, ७११, ७१५, ७१६,  
 ७२२, ८०० ८०१  
 साहित्य दर्शन—७९३ ७९४ ७९३  
 साहित्य दीपिका—३७४  
 साहित्य निबंधावली—८३३  
 साहित्य परिभाषा—८०८  
 साहित्य रस—४९० ३२०  
 साहित्य सङ्घी—३००  
 साहित्य शोच समीक्षा—४८० ४८१  
 साहित्य सर्वज्ञ—८६१  
 साहित्य सामर—८००  
 साहित्य फार—३९७, ३००  
 साहित्य सिद्धांत—७९९  
 साहित्य सुधाभिषि—४८३, ४८८  
 साहित्यावलोकन—४२०, ४२१  
 साहित्यिकी—८३८  
 विनियामक विवेक—१८७  
 विपत्तौछिटी एंड रिफ़ाइनमेंट—२०३  
 विद्यानिगम एंड ट्यूष—२३९  
 विद्यानिगम इन मिडीविनल भाट—३३९  
 विद्याभोजन—१८७  
 विद्या साहित्य—८१७  
 विद्याय और अध्ययन—८१४, ८१३  
 विवेकरी रोमांस एंड ड्रामा—३०३  
 वीरराज—४८९  
 वृत्त शृंगार—४३३

- सुब सामर तरंग-४४८ १००  
 सुबान विनोद-४४८  
 सुबान विमास-४६०  
 सुबामा बरिब-६२०  
 सुबामिभि-४१४, ४९९  
 सुबा लहरी-४४२  
 सुबा सागर-३७४  
 सुनीता-८२९, ८६१  
 सुमिभानेर्दन पंत-८८६  
 सुबुद त्रिभक्त-३७३, ३७९  
 सुक्ति सरोवर-१९१  
 सूफी काव्य संप्रदाय-८७३  
 सूफी मत और हिन्दी साहित्य-८७१  
 सूर और जनका काव्य-७१७  
 सूर काव्य कसा-७६९  
 सूर बीबनी और कृतियों का अध्ययन-  
 ८६८  
 सूरदास और जनका साहित्य-८६९  
 सूर पंचरत्न-७९१ ७९२  
 सूर साहित्य-८१७ ८१८  
 सेंस आफ् म्यूटी-२७३  
 सेंसुय मिटरेरिया-२७६  
 सैल आफ् रोड्डस-२१३  
 सैटायर्स आफ् डा० डामे बर्गोफ़र-२४३  
 सैफी दु चाबोल-२४३  
 सैत्रसन बयोनिस्टस-३४८  
 सेनादास-४९९  
 सौचिस्ट-११७  
 स्केच ऐंड एसेज-२७३  
 स्टडी इन सिमेट्री आर साइकालोजी आफ्  
 म्यूटी-२७४  
 स्टेट्समेन-११८  
 स्पेक्टेटर-२३८ २४०  
 स्पोंजी सेंस आफ् ड्रामेटिक पोयट्स-२७३  
 स्पोंजी सेंस आफ् क्विटिस पोयट्स-२७६  
 स्मृति की रेखाएँ-८२८  
 स्वर्ण किरण-६२६  
 स्वर्ण बूसि-८२६  
 स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और  
 जनका वाली साहित्य-८७१  
 (६)  
 हुंस-८४१  
 हुनुमान काव्य लीला-४०९  
 हमारी साहित्यिक समस्याएँ-८१७  
 हमारे साहित्य निर्माता-८३१  
 हुमीर इठ-८२०  
 हार्ड बेज ऐंड वाई बेज आफ् मिटरेरी  
 क्विटिसिज्म इन संस्कृत-११३  
 हिंदीअण्वाच में कथा लिखन का विकास  
 -२७०  
 हिंदी एकांकी-८७७  
 हिंदी कथा साहित्य-८७७  
 हिंदी काव्य धारा-६३३  
 हिंदी काव्य धारा में प्रेम भावना का विकास  
 -८७३  
 हिंदी काव्य प्रकाश-३७४  
 हिंदी काव्य में त्रिभुज संप्रदाय-८६९  
 हिंदी काव्य में विमर्श-८१४  
 हिंदी काव्य सातव की इतिहास-४०८,  
 ४२३, ८७२

- हिंदी काव्य शास्त्र का विकास—५७१  
 हिंदी काव्यालंकार—७१८  
 हिंदी की निर्गुण काव्य चारा और उसकी  
 धार्मिक वृष्टभूमि—८७१  
 हिंदी के आरंभिक स्वर्ज्यतावादी काव्य  
 और विशेषतः १० धीमर पाठक की कृतियों  
 का अनुवीक्षण—४६९  
 हिंदी की मराठी संतो को देन—४७०  
 हिंदी कोविद ग्रंथ माला—४०४  
 हिंदी संज्ञ शास्त्र—४७२  
 हिंदी ध्वन्यालोक—१८५, १९२,  
 हिंदी नवरत्न—७१९, ८०१, ८०२  
 हिंदी निबंध माला—८०४  
 हिंदी भाषा और साहित्य—७७१ ८०४  
 हिंदी भाषा का इतिहास—८७२  
 हिंदी भाषा का उद्भव और विकास—८७३  
 हिंदी भाषा का व्याकरण—४७३  
 हिंदी में कालिदास की समालोचना—७१९  
 हिंदी में नाट्य साहित्य का विकास—८२०  
 हिंदी बकोलि जीवित—१९४ १९९  
 हिंदी साहित्य—४७७  
 हिंदी साहित्य और उसका उद्भव तथा  
 विकास—८१७  
 हिंदी साहित्य का आदि काम—७७७,  
 ८१७, ८१८  
 हिंदी साहित्य का आनंदनारायण इतिहास  
 —७७१  
 हिंदी साहित्य का इतिहास—७६९, ४०७  
 ४२४  
 हिंदी साहित्य का इतिहास—७७१  
 हिंदी साहित्य का विवेचनारमक इतिहास  
 ७७१  
 हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास—८१४  
 हिंदी साहित्य की भूमिका—७७१ ४१७,  
 ४१८  
 हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी—८४३  
 हिंदी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ—८७७  
 हित तरबिणी—४०४, ४९९  
 हिस्ट्री ऑफ इमिग्रेशन पीपल—२७४  
 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स—१०९, ११५,  
 ११७ १८२  
 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत सिटरेचर—१९७  
 हीरोइक स्टैबास—२१४  
 हृदयवमा—१२०  
 हृदय दर्शन—१५३  
 ह्यूमन नेचर—२१४

सुख सागर तरंग—४४८, ६००

सुजान बिनोद—४४८

सुजान बिन्नास—४६०

सुवामा चरित्र—६२०

सुबानिधि—४३४ ४९९

सुभा लहरी—४४२

सुभा सागर—३७४

सुमीठा—८३९, ८६१

सुमित्रानन्दन पंत—८८६

सुमुच तिसक—३७३, ३७९

सूक्ति सरोवर—१९१

सूफी काव्य संप्रदाय—८७५

सूफी मत और हिन्दी साहित्य—८७१

सूर और उगका काव्य—७१७

सूर काव्य कला—७६९

सूर बीबनी और हस्तियों का अभ्यसन—  
८६८

सूरदास और उगका साहित्य—८६९

सूर पंचरत्न—७९१ ७९२

सूर साहित्य—८१७, ८१८

संत भाषा श्रुती—२७३

संसार लिटरेचरिया—९७६

सेन भाषा रोड्स—२१३

सेटायर्स भाषा डा० डाने बर्सेफाइड—२४३

सेफो टू कामोन—२४३

सेमसन अनोमिस्टस—२४८

सेवादास—४९९

सेफिस्ट—११७

सेक एंड एसेज—२७५

स्टडी इन सिमेट्री आर साइनासोबी भाषा

श्रुती—२७४

स्टेडसमेन—११८

स्केटेटर—२३८, २४०

स्पोन्जी सेंस भाषा डामेटिक पोयट्स—२७५

स्पोन्जी सेंस भाषा लिटिचर पोयट्स—२७६

स्मृति की रेखाएँ—८२८

स्वर्ण किरण—८२६

स्वर्ण धूसि—८२६

स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और

उगका बाणी साहित्य—८७१

(ह)

हंस—८४१

हनुमान जन्म सीमा—४०९

हमारी साहित्यिक समस्याएँ—८१७

हमारे साहित्य निर्माता—८३१

हमीर हठ—८२०

हाई रेज एंड बाई रेज भाषा लिटरेरी

क्रिटिसिज्म इन संस्कृत—११५

हिरीउपन्यास में कथा चित्रण का विकास  
—२७०

हिबी एकांकी—८७७

हिंदी कथा साहित्य—८७७

हिंदी काव्य भाषा—८३३

हिंदी काव्य भाषा में प्रेम भावना का विकास  
—८७५

हिंदी काव्य प्रकाश—३७४

हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय—८६९

हिंदी काव्य में बिमर्श—८१४

हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास—४०८,

४२३, ४७२



- हिंदी काव्य शास्त्र का विकास—८७१  
 हिंदी काव्यालंकार—७९८  
 हिंदी की नियुक्त काव्य चार और उसकी  
 सार्थक पृष्ठभूमि—८७१  
 हिंदी के आरंभिक स्वयं-शास्त्री काव्य  
 और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों  
 का समीक्षण—३६९  
 हिंदी को मराठी संज्ञा को देना—८७०  
 हिंदी कोमिक ग्रंथ माला—८०४  
 हिंदी छंद शास्त्र—८७२  
 हिंदी व्याकरण—६८५, ६९२,  
 हिंदी गद्य—७१९, ८०१, ८०२  
 हिंदी निबंध माला—८०४  
 हिंदी भाषा और साहित्य—७७१ ८०४  
 हिंदी भाषा का इतिहास—८७२  
 हिंदी भाषा का जन्म और विकास—८७३  
 हिंदी भाषा का व्याकरण—८७३  
 हिंदी में कालिदास की समालोचना—७१९  
 हिंदी में नाट्य साहित्य का विकास—८२०  
 हिंदी शक्ति की कविता—६९८ ६९९  
 हिंदी साहित्य—८७७  
 हिंदी साहित्य और उसका जन्म तथा  
 विकास—८१७  
 हिंदी साहित्य का आदि काल—७७७,  
 ८१७, ८१८  
 हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास  
 —७७१  
 हिंदी साहित्य का इतिहास—७६९, ४०७  
 ४२४  
 हिंदी साहित्य का इतिहास—७७१  
 हिंदी साहित्य का विशेषनात्मक इतिहास  
 ७७१  
 हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास—८१४  
 हिंदी साहित्य की भूमिका—७७१ ८१७,  
 ८१८  
 हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी—८३३  
 हिंदी साहित्य में आधुनिक प्रवृत्तियाँ—८७७  
 हिंदी शक्ति—४०८, ४९९  
 हिस्ट्री ऑफ इन्डियन पोपट्री—२७४  
 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोपट्री—३०९ ३२२  
 ६१७ ६८२  
 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत सिट्टीवर—३९७  
 हीरोइक स्टैज—२१८  
 हृदयवर्धन—३२०  
 हृदय वर्धन—३२३  
 ह्यूमन नेचर—२१४